लामा तारनाथ विरचित

भारत में बौद्धधर्म का इतिहास

अनुवादक

रिगज़िन लुण्डुप लामा

काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान

पटना

HISTORICAL RESEARCH SERIES

PUBLISHED UNDER THE PATRONAGE OF
THE GOVERNMENT OF THE STATE OF BIHAR

VOLUME VIII

श्लाघ्यः स एव गुणवान् रागद्वेष बहिष्कृता ।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती ॥

राजतरंगिणी, १—७

'He alone is a worthy and commendable historian, whose narrative of the events in the past, like that of a Judge, is free from passion, prejudice and partiality.'

Kalhana, Rajatarangini, 1—7

General Editor

PROF. A. L. THAKUR

Director, K. P. Jayaswal Research Institute, Patna

K. P. JAYASWAL RESEARCH INSTITUTE
PATNA

1971 *Price Rs.* 10.00

Published by
PROF. A L. THAKUR
Director
KASHI PRASAD JAYASWAL RESEARCH INSTITUTE
PATNA

PRINTED IN INDIA
by
THE SUPERINTENDENT, SECRETARIAT PRESS
BIHAR, PATNA

The Government of Bihar established the K. P. Jayaswal Research Institute at Patna in 1950 with the object, *inter alia*, to promote historical research, archaeological excavations and investigations and publication of works of permanent value to scholars. This Institute along with five others was planned by this Government as a token of their homage to the tradition of learning and scholarship for which ancient Bihar was noted. Apart from the K. P. Jayaswal Research Institute, five others have been established to give incentive to research and advancement of knowledge—the Nalanda Institute of Post-Graduate Studies and Research in Buddhist Learning and Pali at Nalanda, the Mithila Institute of Post-Graduate Studies and Research in Sanskrit Learning at Darbhanga, the Bihar Rashtra Bhasha Parishad for Research and Advanced Studies in Hindi at Patna, the Institute of Post-Graduate Studies and Research in Jainism and Prakrit Learning at Vaishali and the Institute of Post-Graduate Studies and Research in Arabic and Persian Learning at Patna.

As part of this programme of rehabilitating and re-orienting ancient learning and scholarship, the editing and publication of the Tibetan Sanskrit Text Series was first undertaken by the K. P. Jayaswal Research Institute with the co-operation of scholars in Bihar and outside. It has also started a second series of historical research works for elucidating history and culture of Bihar and India. The Government of Bihar hope to continue to sponsor such projects and trust that this humble service to the world of scholarship and learning would bear fruit in the fullness of time.

मुखबन्ध

लामा तारनाथकृत "भारतवर्ष में बौद्धधर्म का इतिहास" नामक ग्रन्थ का मूल भोट भाषा से प्राध्यापक श्री लामा रिगजिन लुण्डुप (गुरु विद्याधर अनाभोग) महोदयकृत हिन्दी अनुवाद इतिहास तथा धर्म जिज्ञासु पाठक समाज को उपहार देते हुए मुझे विशेष आनन्द का अनुभव हो रहा है। द्रष्टव्य है कि दीर्घकाल से भारतीय विद्वान भारतीय ग्रन्थों का तिब्बती भाषानुवाद भोट देशीयों को उपहार देते रहें, वहां भोट देशीय विशिष्ट विद्वान एक भोट ग्रन्थ को भारतीय भाषा में अनुवाद कर भारतीयों को समर्पण कर रहे हैं।

तारनाथ ने सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में जन्म ग्रहण किया था। सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में प्रस्तुत ग्रन्थ लिखा गया था। संसार में भोट भाषा निबद्ध ग्रन्थों में इसका आदर सर्वाधिक है। भोट देश में इसका एकाधिक संस्करण हुआ था। सेण्ट पिटर्सवर्ग से शिफनार द्वारा सम्पादित इसका एक अपर संस्करण प्रकाशित हुआ था। वाराणसी से भी इसका पुनर्मुद्रण हुआ है। १८६९ में शिफनार तथा भसिलेभ द्वारा जर्मन तथा रूसी भाषानुवाद सेण्ट पिटर्सवर्ग से प्रकाशित हुए थे। एनगा टेरामोटोकृत जापानी अनुवाद टोकिओ से १९२८ में प्रकाशित हुआ है।

मूल भोट भाषा से हरिनाथ दे कृत अंग्रेजी अनुवाद का कुछ अंश "दी हेराल्ड" (१९११) पत्रिका में निकला था। डॉ० उपेन्द्रनाथ घोषाल तथा डॉ० नलिनाक्ष दत्त ने इन्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टली (३-२८ भाग) में शिफनारकृत जर्मन अनुवाद को अंग्रेजी में अंशतः उतार दिया। भोट ग्रन्थ से लामा चिन् पा तथा अलका चट्टोपाध्याय कृत पूर्ण अंग्रेजी अनुवाद टिप्पणी तथा परिशिष्टों के साथ शिमला स्थित इन्डियन इन्सटिच्युट ऑफ एडभान्स्ड स्टडिज द्वारा १९७० में प्रकाशित हुआ है।

भारतीय इतिहास पर प्रस्तुत ग्रन्थ प्रचुर प्रकाश डालता है। इस दृष्टि से किसी भारतीय भाषा में इसका अनुवाद होना विशेष आवश्यक था। प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद ने इस अभाव को पूर्ण किया है।

प्रारंभ से ही काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान ने विशिष्ट बौद्ध ग्रन्थों के प्रकाशन को अन्यतम कर्त्तव्य रूप में अपनाया है। इस क्षेत्र में इसे समुचित स्वीकृति भी मिली। आशा है प्रस्तुत अनुवाद ग्रन्थ भी पण्डित समाज में इसके अपरापर प्रकाशनों के समान समादर प्राप्त करेगा।

इस प्रसंग में मैं सुविज्ञ अनुवादक, संस्थान के पूर्ववर्ती निदेशकगण तथा बिहार सरकार को, प्रस्तुत योजना की सफलता के लिये, हार्दिक धन्यवाद प्रकट कर रहा हूं।

बुद्ध पूर्णिमा
१९७१

अनन्त लाल ठाकुर,
निदेशक।

विषय-सूची

भूमिका

लामा तारानाथ द्वारा प्रणीत 'भारत में बौद्धधर्म का इतिहास' के मूल तिब्बती ग्रंथ के हिन्दी अनुवाद को इतिहासकारों, विशेषतया बौद्धधर्म में अभिरुचि रखने वाले पाठकों का कर स्पर्श प्राप्त कराने में मुझे अनिर्वचनीय हर्ष हो रहा है। इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद मैंने १९६३ में आरम्भ कर १९६५ में समाप्त किया और तब से १९७० तक पटना स्थित अधीक्षक, सचिवालय मुद्रणालय के कार्यालय में अनुवाद की पांडुलिपि पड़ी रही। जब मैंने १९७० में एक बार पांडुलिपि का अवलोकन किया, तो उसमें अनेक त्रुटियां देख मेरा चित्त खिन्न तथा लज्जित हो उठा। पर साथ ही मुझे प्रसन्नता भी हुई कि इस अवधि में मैंने कम-से-कम इतनी प्रगति तो कर ली है कि मैं अपने पूर्व-कृत कार्य में त्रुटियां देख सकने योग्य हो गया हूँ। ग्रंथ का मुद्रण-कार्य प्रारम्भ हुआ तथा मेरे पास इसका प्रामुद्रण देखने के लिये भेजा गया। मुझे प्रसन्नता और सन्तोष है कि इस अवसर का लाभ उठा कर मैंने उसमें अपने नवीन अनुभवों के आधार पर यथोचित संशोधन कर दिया है।

मुझे भारतीय इतिहास का ज्ञान तो नहीं के बराबर है और मेरा विषय भी इतिहास नहीं रहा है; किन्तु तिब्बत में बौद्धधर्म सम्बन्धी इतिहास का थोड़ा बहुत-ज्ञान रखता हूँ। मेरा प्रयास तो यही रहा है कि मैं एक अनुवादक बन सकूं और इसमें भी मुझे अब भी पूर्णता प्राप्त नहीं हुई है। तिब्बती-हिन्दी व्याकरण और शब्दकोश के अभाव में अनुवाद करते समय मेरे सामने व्याकरण सम्बन्धी नियमों, प्रतिशब्दों तथा मुहावरों की अनेक कठिनाइयां उपस्थित हुई। तिब्बती भाषा की शैली और हिन्दी भाषा की शैली का भी मुझे ध्यान रखना पड़ा। तिब्बती भाषा की यह विशिष्टता है कि संस्कृत या हिन्दी की व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को भी तिब्बती में अनूदित किया जाता है। उदाहरणार्थ, बुद्ध के लिये 'सङ्स्-र्ग्यस्, धर्म के लिये 'छोस्', संघ के लिये 'द्गे-ह्दुन', गुरु के लिये 'ब्ल-म', धर्मपाल के लिये 'छोस्-स्क्योङ', अशोक के लिये 'म्य-ङन-मेद', पाटलिपुत्र के लिये 'स्क्य-नर-बु', कपिलवस्तु के लिये 'सेर-स्क्यहि-ग्रोङ' इत्यादि। तिब्बती शैली को अक्षुण्ण रखने तथा हिन्दी शैली को भी सुरक्षित रखने के विचार से मैंने जो शब्द तिब्बती में नहीं हैं और हिन्दी में उनके बिना अभाव-सा लगता है उन्हें हिन्दी में लिख कर इस (   ) कोष्ठक में रख दिया है। इस पद्धति को स्व० राहुलजी आदि कुछ विद्वान मूल की सुरक्षा की दृष्टि से अच्छा मानते हैं और कुछ इसके विरुद्ध हैं। मैंने स्वतन्त्र अनुवाद न कर तथा भाव का भी ध्यान रखते हुए शाब्दिक अनुवाद करने का ही प्रयास किया है ताकि तिब्बती-हिन्दी के नौसिखुआ अनुवादकों को शब्दार्थ सीखने का अवसर मिल सके तथा मूल का भाव सुरक्षित रह सके।

तारानाथ अपने ग्रंथ में लिखते हैं कि उन्होंने इस ग्रंथ को चौंतीस वर्ष की अवस्था में भूमि-पुरुष-वानर बुध वर्ष में समाप्त किया। यह तिथि १६०८ ई० के लगभग है। इस तिथि के अनुसार इनका जन्म द्रुम-शूकर वर्ष अर्थात् १५७३ ई० में हुआ था। ये लो-त्स-व (संस्कृत-तिब्बती दुभाषिया) के परिवार में जन्मे। इनका वास्तविक नाम गों-स्ङ-स्-कुन-द्गह्-स्ञिङ-पो था। इनके पिता का नाम नम-र्ग्यल-फुन-छोगस् था।

तारानाथ ने जो-नङ मठ में विद्याध्ययन किया था। यह मठ स-स्क्य के उत्तर में अवस्थित है। जो-नङ की व्युत्पत्ति जो-मो-नङ नामक स्थान से हुई जहाँ एक मठ अवस्थित है। यह जो-नङ स-स्क्य का उपसम्प्रदाय है। इकतालीस वर्ष की अवस्था में तारानाथ ने उसके निकट एक मठ की स्थापना की जिसका नाम तेंग-व्र्तेन-फुन-छो़स-ग्लिङ रखा। इस मठ को इन्होंने अनेक अमूल्य प्रतिमाओं, पुस्तकों और स्तूपों से सम्पन्न किया। पश्चात्, आप मंगोलवासियों के निमन्त्रण पर मंगोलिया गये जहां आपने चीनी सम्राट् के आश्रय में कई मठ बनवाए। आप उस देश में जे-ब्चुन-दम-प की उपाधि से विभूषित किए गए। बाद में मंगोलिया में ही आपका स्वर्गवास हुआ। इन्होंने कालचक्र, हठयोग, तंत्र आदि पर अनेक पुस्तकें लिखीं और ये सभी कृतियां विद्वत्तापूर्ण हैं। इन्होंने भारत में बौद्धधर्म का इतिहास नामक ग्रंथ तिब्बती में लिखा जिससे प्रसिद्ध तिब्बती लेखकों की श्रेणी में इनकी परिगणना हुई। इस पुस्तक को जर्मन भाषा में अनूदित किए जाने के फलस्वरूप पाश्चात्य देशों में भी इनकी ख्याति हुई। इनकी लिखी हुई Mystic tales नामक एक और पुस्तक का जर्मन भाषा में अनुवाद हुआ जिसका अंग्रेजी अनुवाद श्री भूपेन्द्रनाथ दत्त, एम० ए०, डी० फिल० ने किया है। इनकी सभी तिब्बती पुस्तकों का मुद्रण फुन-छोगस्-गिलङ विहार में हुआ जिसका वर्णन डा० टुची ने किया है। भारतीय पण्डित बलभद्र और कृष्ण मिश्र की सहायता से तारानाथ ने अनुभूतिस्वरूप द्वारा प्रणीत सारस्वत-व्याकरण और इसकी टीका का तिब्बती में अनुवाद किया। ये दोनों पण्डित तिब्बत गए और लामा तारानाथ के यहां ठहरे थे। तारानाथ ने गशन-स्तोङ-प (पर शून्यता या विशिष्ट शून्यता) सम्प्रदाय की स्थापना की। यद्यपि चोङ-ख-प ने, जो द्गे-लुगस् सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे, तारानाथ के किसी साक्षात् शिष्य से काल-चक्र, पारमिता आदि का अध्ययन किया; किन्तु इसके पश्चात् उस सम्प्रदाय के अनुयायियों ने गशन-स्तोङ मत को मान्यता नही दी। चोङ-ख-प के अनन्तर कुन-द्गह्-ग्रोल-म्छोग (जन्म १४९२, मृत्यु १५६६) और विशेष कर तारानाथ के अवतार ने गशन-स्तोङ मत का प्रचार किया। रिन-स्पुङस्-प-कर्म-ब्सतन-स्क्योङ-द्बङ-पो द्वारा आश्रय दिए जाने के फलस्वरूप इस मत का प्रचार उन्नति के शिखर पर पहुंचा हुआ था; किन्तु पीछे इसकी शक्ति क्षीण होती गई और तारानाथ के स्वर्गवास के पश्चात् पांचवें दलाई लामा ने फुन-छोगस्-ग्लिङ मठ को द्गे-लुगस्-प सम्प्रदाय में परिवर्तन कर दिया और काष्ठ छापा के मुद्रणालय में तालाबन्दी करा दी। अनन्तर १३वें दलाई लामा थुब-ब्सतन-र्ग्य-म्छो (१८७६—१९३३) ने अपने शासनकाल में ताला खोलवाया और काठ के छापे पर पुनः छपवाना आरम्भ किया।

तारानाथ का इतिहास राजा अजातशत्रु के काल से आरम्भ होकर बंगाल के सेन राजाओं तक चलता है। जब इसका अनुवाद पाश्चात्य भाषा में सर्वप्रथम हुआ तथा पाश्चात्य विद्वानों ने इतिहास सम्बन्धी पुस्तकों में इस पुस्तक का उल्लेख किया तो इसका महत्व और अधिक बढ़ गया। यह पुस्तक बौद्ध उपाख्यानों और परम्परागत कथाओं का एक भण्डार है यद्यपि लेखक ने यत्र-तत्र कुछ चमत्कारपूर्ण बातों का उल्लेख करने में अपनी लेखनी को पर्याप्त उदारता दिखलायी है। कुछ भारतीय इतिहासकारों का कहना है कि तारानाथ भारत में कभी नहीं आए थे और उन्हें भारतीय भूगोल का सम्यक् ज्ञान नही था। लेकिन तो भी हमें इतना तो मानना होगा कि इनकी प्रस्तुत पुस्तक से, विशेषतया इसके हिन्दी रूपान्तर से हिन्दी भाषियों तथा शोधकर्ताओं को अनेक महत्वपूर्ण सूचनायें मिलेंगी और साथ ही भारतीय इतिहास और समाजशास्त्र

पर भी प्रकाश पड़ेगा। तारानाथ की पुस्तक में सिद्धों द्वारा सिद्धियों का प्रदर्शन किये जाने के जो उल्लेख यत्र-तत्र मिलते हैं उन्हें इन्द्रजाल की संज्ञा देना उचित नहीं है। हम उन्हें ऋद्धि या आध्यात्मिक शक्ति-प्रदर्शन कह सकते हैं। यदि हम चमत्कारपूर्ण बातों से ओत-प्रोत तारानाथ-कृत प्रस्तुत इतिहास की प्रामाणिकता को नहीं मानते तो रामायण और गीता जैसे हिन्दुओं के पवित्रतम ग्रंथों का भी विश्वास नहीं किया जा सकता।

तारानाथ साधारणतया पश्चिम, पूर्व और मध्य भाग के महत्वपूर्ण राज्यों और शासकों के संक्षिप्त वर्णन से आरम्भ करते हैं और तब उन नृपों के शासनकाल में बौद्धधर्म की सेवा में सम्पादित सत्कार्यों और प्रसिद्ध बौद्ध आचार्यों का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करते हैं जिन्होंने बौद्ध शासकों का राजाश्रय पाकर बौद्धधर्म का प्रचार एवं विकास किया था। विशेषतया तारानाथ ने सदा उन राजाओं का ही वर्णन करने में अभिरुचि दिखायी है जिनके शासनकाल में बौद्धधर्म को यथेष्ट राजाश्रय मिला था। भारत में विभिन्न कालों में प्रादुर्भूत बौद्ध आचार्यों, सिद्धों, सिद्धान्तों और धार्मिक संस्थाओं का विस्तृत वर्णन करना उनका उद्देश्य था। इस प्रकार उन्होंने बहुत बड़े परिमाण में परम्परागत भारतीय बौद्धधर्म सम्बन्धी कथानकों, इतिहासों और राजनैतिक इतिहासों को सुरक्षित रखा है। अतएव यह पुस्तक भारतीय बौद्धधर्म के इतिहासों में एक गुरुत्वपूर्ण स्थान रखती है।

तारानाथ ने अपनी पुस्तक में अधिकतर ऐतिहासिक तथ्यों को क्षेमेन्द्र और भटघटी के इन्द्रदत्त से उद्धृत किया है। इनकी पुस्तक में वर्णित कतिपय आचार्यों के नामों का रूप बदल दिया गया है। जैसे कृष्णचारिन के स्थान पर बाद के तिब्बती लेखकों ने कालाचार्य रखा है और विश्रुदेव की जगह विख्यातदेव (थोब-यिग Vol. III, p. 244)। सुरेन्द्रबोधि के स्थान पर देवेन्द्रबुद्धि अधिक उपयुक्त माना गया और बुद्धदिश के स्थान पर बुद्धपक्ष। तारानाथ के इतिहास में और भी अनेक ऐसे रूप हैं जैसे विक्रमशिला के स्थान पर विक्रमशील और कहीं-कहीं विक्रमलशील। तिब्बती में भी ठीक विक्रमशील का रूपान्तर कर नम-ग्नोन-छुल लिखा गया है। भारतीय इतिहासों से तुलनात्मक अध्ययन करने से पता लगता है कि तारानाथ की पुस्तक में राजाओं और स्थानों के वर्णन में यत्र-तत्र कुछ गलत ऐतिहासिक सूचनायें मिलती हैं। लेकिन जहाँ तक भारतीय बौद्ध आचार्यों का सम्बन्ध है ऐसा विस्तृत और विशद् वर्णन कदाचित ही किसी भी भारतीय इतिहास में उपलब्ध हो। अतः, यह पुस्तक उन अभावों की सम्पूर्ति करने में सशक्त रहेगी। मैंने इस पुस्तक में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों को व्याख्या सहित पादटिप्पणी में दे दिया है और शब्दानुक्रमणिका में भारतीय नामों और शब्दों को तिब्बती के साथ दिया है।

अन्त में मैं डा० अल्तेकर साहब, भूतपूर्व अ० म० निदेशक, काशी प्रसाद जायसवाल, शोध संस्थान, पटना के प्रति अत्यन्त आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने मुझे इस पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद करने के लिये बार-बार प्रेरित कर प्रोत्साहन दिया और इसके लिये पारिश्रमिकस्वरूप सरकार से दो हजार रुपये की राशि दिलायी। मैं वर्तमान अ० स० निदेशक डा० बिन्देश्वरी प्रसाद सिन्हा का भी आभारी हूँ, जिन्होंने इसके मुद्रण-कार्य में पर्याप्त अभिरुचि प्रकट करते हुए वर्षों से मुद्रणालय में पड़े हुए हिन्दी अनुवाद को यथाशीघ्र मुद्रित कराकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। मैं अपने सहकर्मी डा० नागेन्द्र प्रसाद, एम० ए०, डी० लिट्०, प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, नव नालन्दा महाविहार के प्रति विशेष रूप से अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने अनुवाद को संशोधित कर और अपनी बहुमूल्य सम्मति देकर इसे अधिक शुद्ध रूप देने का कष्ट किया है।

रिगजिन लुंडुब लामा
(गुरु विद्याधर अनाभोग),
नव नालन्दा महाविहार (पटना)।

सद्धर्मरत्न[1] का आर्यदेश[2] में कैसे विकास हुआ (इसे) स्पष्टतया दर्शानेवाली चिन्तामणि[3] नामक (पुस्तक)।

ॐ स्वस्ति प्रजाभ्यः। श्रीमद् श्रीसे अलंकृत, ऐश्वर्य का आकर, सद्धर्मरत्न का आर्यदेश में कैसे उदय हुआ (इसका) स्पष्ट रूप से वर्णन करनेवाली चिन्तामणि नाम। बुद्ध (को, उनके आध्यात्मिक) पुत्रों[4] (को) और शिष्यों सहित को (मैं) प्रणाम करता हूं। धर्मधातु (रूपी)[5] देवपथ[6] से अवतीर्ण, लक्षणानुव्यंजन (रूपी)[7] इन्द्रधनुष से शोभित, कर्म (रूपी)[8] अमृत की रिमझिम वर्षा करने वाले, मुनीन्द्र (रूपी) मेघेन्द्र[9] को प्रणाम करता हूं। यहां इतिहासवेत्ता भी (जब) आर्यदेश के इतिहास की रचना में प्रविष्ट होते हैं, तो जैसे दरिद्रजन (विक्रय के लिये) वाणिज्यवस्तुएं प्रदर्शित करता है (वैसे ही उनके) कौशल प्रदर्शित करने पर भी, (उनमें) दारिद्रय ही दिखाई पड़ता है। कुछ विद्वान भी जब धर्मोत्पत्ति की व्याख्या करते हैं, (तो उनमें भी) अनेक भ्रांतियां दिखाई देती हैं। अतः, भ्रान्तियों का निराकरण करनेवाली कथा (को) परोपकार के लिये संक्षेप में लिखता हूं।

यहां अत्यावश्यक विषय-सूची (प्रस्तुत है)। राजा क्षेमदर्शिन् के वंश-क्रम में चार राजा हैं—(१) सुबाहु, (२) सुधनु, (३) महेन्द्र और (४) चमस। अशोक के वंश-क्रम में चार हैं—(१) विगता शोक, (२) वीरसेन, (३) नन्द और (४) महापद्म। चन्द्र के वंशज—(१) हरि, (२) अक्ष, (३) जय, (४) नेम, (५) फणि, (६) भंस और (७) शाल हैं (जिनके अन्त में) 'चन्द्र' शब्द का योग होना चाहिए। तत्पश्चात् (८) चन्द्रगुप्त, (९) विन्दुसार और (१०) इसका पौत्र श्री चन्द्र कहलाता है। (११) धर्म, (१२) कर्म, (१३) वृक्ष, (१४) विगम, (१५) काम, (१६) सिंह, (१७) बाल,

---

१—दम-पहि-छोस्-रिन-पो-छे=सद्धर्मरत्न। बौद्धधर्म को कहते हैं।

२—ह्फगस्-युल=आर्यदेश। भारतवर्ष को कहते हैं।

३—तिब्बती में 'द्गोस्-ह्दोद-कुन-ह्ब्युङ' लिखा है जिसका अर्थ है 'सब वांछित (फलों को) पूर्ति करनेवाला'। अतः, हमने इसके स्थान पर "चिन्तामणि" शब्द दिया है जो इसका पर्याय कहा जा सकता है।

४—सङस्-र्गयस्-स्रस्=बुद्ध-पुत्र। बोधिसत्त्व को कहते हैं।

५—छोस्-द्व्यिङस्=धर्मधातु। यह निर्मल चित्त का विषय है जिसे शून्यता, तथता आदि भी कहते हैं।

६—ल्ह-लम=देवपथ। आकाश को कहते हैं।

७—म्छन-द्पे=लक्षणानुव्यंजन। सर्व बुद्ध ३२ महापुरुषलक्षणों और ८० अनुव्यंजनों से सम्पन्न होते हैं। द्र० अभिसमयालंकार आठवां परिच्छेद।

८—ह्फ्रिन-लस्=कर्म। कर्म से तात्पर्य बुद्ध के चरित्रों से है।

९—स्प्रिन-ग्यि-द्बङ-पो=मेघेन्द्र। बुद्ध के धर्मकाय और निर्माण काय के परोपकारी गुणों की उपमा आकाश, इन्द्रधनुष, सुधा बरसानेवाले मेघ इत्यादि से दी गई है

(१८) विमल, (१९) गोपी और (२०) ललित के अन्त में भी चन्द्र (शब्द) जोड़ना चाहिए। बिन्दुसार को नहीं गिना जाय, तो चन्द्र नामक उन्नीस हैं। इनमें से (१) अक्षचन्द्र, (२) जयचन्द्र, (३) धर्मचन्द्र, (४) कर्मचन्द्र, (५) विगमचन्द्र, (६) कामचन्द्र और (७) विमलचन्द्र को सात चन्द्र के नाम से अभिहित किया जाता है। इनके ऊपर चन्द्रगुप्त, गोपीचन्द्र और ललितचन्द्र (जोड़कर) दशचन्द्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। पाल के वंश-क्रम में—(१) गोपाल, (२) देव, (३) रास, (४) धर्म, (५) वन, (६) मही, (७) महा, (८) श्रेष्ठ, (९) भेय, (१०) नय, (११) आम्र, (१२) हस्ति, (१३) राम और (१४) यक्ष हैं और इन सब के अन्त में 'पाल' (शब्द) का योग होना चाहिए। पालवंशीय चौदह हैं। राजा अग्निदत्त, कनिष्क, लक्षाश्व, चन्दनपाल, श्रीहर्ष, शील, उदयन, गौडवर्धन, कनिक, तुरुष्क, शाक-महासम्मत, बुद्धपक्ष, गम्भीरपक्ष, चल, चलध्रुव, विष्णु, सिंह, भर्ष, पंचमसिंह, प्रसन्न, प्रादित्य, महासेन और महाशाक्यबल का आविर्भाव छिट फुट रूप से हुआ। मसुरक्षित, चणक, शामुपाल और क्षान्तिपाल का प्रादुर्भाव पालों के बीच-बीच में छिटफुट रूप से हुआ। लव, काश मणित और राथिक ये चार सेन हैं। दक्षिण दिशा के कांची आदि विविध (राज्यों) में शुक्ल, चन्द्रशोभ, शालिवाहन, महेश, क्षेमणकर, मनोरथ, भोगसुवाल, चन्द्रसेन, क्षेमकरसिंह, व्याघ्र, बुद्ध, बुद्धशुच, षण्मुख, सागर, विक्रम, उज्जयन, श्रेष्ठ, महेन्द्र, देवराज, विश्व, शिशु और प्रताप का आविर्भाव हुआ।

दक्षिण दिशा में बलमित्र, नागकेतु और वर्धमाना नाम के ब्राह्मण आविर्भूत हुए। गगरि, कुमारनन्द, मतिकुमार, भद्रानन्द, दानभद्र, लकादेव, बहुभुज और मध्यमति ये प्राचीन महान् आचार्य हैं। जिन (बुद्ध) शास्ता के प्रसिद्ध उत्तराधिकारी सात हैं (और) माध्यन्दिन के जोड़ने से आठ हैं। उत्तर, यश, पोषद, काश्यप, शानवास, महालोम, महात्याग, नन्दिन, धर्मश्रेष्ठी, पार्श्विक, अश्वगुप्त और नन्द—ये शासन का संरक्षण करने वाले अर्हत्[1] हैं। उत्तर, काश्यप, सम्मतीय, महीशासक, धर्मगुप्त, सुवर्षक, वात्सीपुत्रीय, ताम्रशाटीय, बहुश्रुतीय, धर्मोत्तर, अवन्तक, जेतवनीय, स्थविर, धर्मत्रात, वसुमित्र, घोषक, श्रीलाभ, बुद्धदेव, कुमारलाभ, वामन, कुणाल, शंकर, संघवर्धन और सम्भूति ये महा भदन्त[2] वर्ग के हैं। जय, सुजय, कल्याण, सिद्ध, अदर्प, राघव, यशिक, पाणिनि, कुशल, भद्र, वररुचि, शूद्र, कुलिक, मुदगरगोभिन्, शंकर, धर्मिक, महावीर्य, सुविष्णु, मधु, सुप्रमधु, द्वितीय-वररुचि, काशिजात, चणक, वसुनेत्र, शंकु, वृहस्पति, मक्षिक, वसुनाग, भद्रपालित, पूर्ण और पूर्णभद्र—ये शासन में कृतकृत्य महाब्राह्मण वर्ग हैं।

महायान के उपदेशक आचार्यगण प्रायः सुविख्यात होने से विषय-वस्तु में सम्मिलित नहीं किये गये हैं, लेकिन (आगे उनके) जीवन-वृत्तान्त का वर्णन करने से ज्ञात हो

१—द्ग्र-ब्चोम=अर्हत्। तिब्बती के अनुसार इसका शब्दार्थ अरि को हत करनेवाला है अर्थात् जिसने राग, द्वेष आदि क्लेशरूपी शत्रु का वध किया है वही अर्हत् है। पालि साहित्य में योग्य, अधिकारी, जीवन्मुक्त इत्यादि कहा गया है।

२—ब्चुन-प=भदन्त। बौद्ध संन्यासी।

जायगा। जम्बूद्वीप[1] के षडलंकारों[2] (का नाम) सुप्रसिद्ध है। शूर, राहुल, गुणप्रभ और धर्मपाल को चार महान् (के नाम) से अभिहित किया जाता है। शान्तिदेव और चन्द्रगोमिन् को विद्वज्जन दो अद्भुत आचार्य के नाम से पुकारते हैं। दो प्रधान (आचार्य के नाम से) भारत में नहीं पुकारे जाते। षडलंकार और दो प्रधान की संज्ञा भोटवासियों ने प्रदान की है। (१) ज्ञानपाद, (२) दीपंकर भद्र, (३) लंका जय भद्र, (४) श्रीधर, (५) भवभद्र, (६) भव्यकीर्ति, (७) लीलावज्र, (८) दुर्जयचन्द्र, (९) समयवज्र, (१०) तथागतरक्षित, (११) बोधिभद्र और (१२) कमलरक्षित,—ये बारहों विक्रमशिला के तांत्रिक आचार्य हैं। तत्पश्चात् छः द्वारपण्डित[3] आदि विविध मंत्रयानी आचार्यों का आविर्भाव हुआ।

उपर्युक्त तथ्यों को भली प्रकार ध्यान में रखने से आगे के वर्णनों का बिना उलझन के और सुगमता के साथ उल्लेख किया जा सकता है।

हमारे शास्ता सम्यक् सम्बुद्ध के जीवनकाल तक के राजाओं की जो वंशावली विनयागम[4], अभिनिष्क्रमणसूत्र[5] और आंशिक रूप में ललितविस्तर[6] इत्यादि में दी गयी है वह विश्वसनीय है। तीर्थंकर के ग्रंथों में सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापर और कलियुग में प्रादुर्भूत राजा, ऋषि आदि की वंशावली का उल्लेख प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है, लेकिन कुछ हद तक असत्य से मिश्रित होने के कारण एकान्त विश्वास करना कठिन है और सद्धर्म (बौद्धधर्म) के इतिहास से इसका कोई संबंध नहीं होने से धर्मार्थियों (बौद्धधर्मावलम्बी के लिये उपयोगी प्रतीत नहीं होता है, अतः यहां इसका उल्लेख नहीं किया जायगा। लेकिन कोई (यदि) यह पूछे कि इनके उपदेष्टाओं के कौन से ग्रंथ हैं, तो ये हैं शतसहस्राधिक श्लोकात्मक भारत[7], शतसहस्र श्लोकों से गुम्फित रामायण, शतसहस्राधिक श्लोकों से ग्रंथित अष्टादश-पुराण, अस्सी सहस्र श्लोकमय रघुवंश काव्य-शास्त्र इत्यादि। यहां उन्हीं (व्यक्तियों) का वर्णन किया जायगा (जिन्होंने) शास्ता के शासन की सेवा में अपने कर्त्तव्य का पालन किया था।

(१) राजा अजातशत्रु (४९४--४६२ ई०पू०) कालीन कथाएं।

जब शास्ता सम्यक् सम्बुद्ध की प्रथम संगीति[8] बुलाई गई तब देवताओं ने स्तुति की। समस्त मनुष्यलोक में सुख-समृद्धि और उत्तम फसल हुई। देव और मनुष्य सुखपूर्वक रहने

१--ह्जम-बु-ग्लिङ=जम्बूद्वीप--भारतवर्ष का नाम।

२--र्ग्यन-द्रुग=षडलंकार। नागार्जुन, असंग, दिङ्नाग, आर्यदेव, वसुबन्धु और धर्मकीर्ति को छः अलंकार कहते हैं। कुछ लोग नागार्जुन और असंग को दो प्रधान और अन्तिम चार आचार्यों के ऊपर गुणप्रभ और शाक्यप्रभ जोड़कर छः अलंकार मानते हैं।

३--म्खस्-प-स्गो-द्रुग=छः द्वारपण्डित। द्र० ३३वीं कथा।

४--ह्दुल-ब-लुङ=विनयागम। क० ४२।

५--म्ङोन-पर-ह्ब्युङ-बइ-म्दो=अभिनिष्क्रमणसूत्र। क० ३९।

६--र्ग्य-छे-रोल-प=ललितविस्तर। क० २७।

७--महाभारत।

८--ब्कह्-ब्स्डु=संगीति। तिब्बती विनय के अनुसार प्रथम संगीति राजगृह में न्यग्रोध गुहा के पास निष्पन्न हुई।

लगे। राजा क्षेमदर्शिन् जिसे अजातशत्रु भी कहते हैं, स्वभाव से पुण्यात्मा था। (उसने) वृज्जि को छोड़ सब पाचों नगरों[1] पर बिना किसी संघर्ष के अपना सिक्का जमा लिया। जब तथागत, (उनके) युगल प्रधान[2] और १६८,००० अर्हत् एवं महाकाश्यप भी परिनिर्वाण को प्राप्त हुए (तब) सब लोग बहुत दुःखी हुए। शास्ता के दर्शन पाने वाले जो पृथग्जन[3] भिक्षु, बुद्ध के जीवनकाल में अपने प्रमाद के फलस्वरूप (धार्मिक क्षेत्र में किसी प्रकार का) साफल्य प्राप्त नहीं कर सके, वे उद्विग्न हो, एकाग्र (चित्त) से धर्म में उद्योग करने लगे और इसी प्रकार आर्य शैक्ष्य[4] भी। नवागन्तुक भिक्षु जो शास्ता के दर्शन नहीं कर पाये, (परस्पर संवाद करने लगे:) "हम शास्ता के दर्शन नहीं कर सके, इसलिये (अपने को) नियंत्रित करने में असमर्थ हैं। अतएव (यदि) बुद्ध-शासन में उद्योग नहीं करेंगे, तो भटक जाएंगे।" सोच (वे) कुशल कर्म के क्षेत्र में कठोर परिश्रम करने लगे। यही कारण है कि चतुष्फल[5] का लाभ करनेवालों (की संख्या में) दिनानुदिन वृद्धि होने लगी। कभी-कभी आर्यानन्द चतुर्विध परिषदों[6] को उपदेश दिया करते थे। पिटकधारियों[7] द्वारा धर्म उपदेश देने के फलस्वरूप सब प्रव्रजित[8] अप्रमाद के साथ अपना जीवन निर्वाह करने लगे। शास्ता ने (अपना) धर्मशासन महाकाश्यप को सौंप दिया। उन्होंने आर्यानन्द को शासन सौंपा जो सफल ही रहा। राजा आदि सभी गृहस्थलोग उन पुण्यवान् तथा प्रतापी राजाओं के दृष्टिगोचर नहीं होने के कारण उद्विग्न हुए। "पहले (हमलोगों को अपने) शास्ता के दर्शन मिलते थे और अब उनके शिष्य तथा प्रशिष्यों का समुदाय मात्र दिखाई पड़ता है।" यह कह (वे) बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति दुर्लभता का भाव रख नित्य आदरपूर्वक (उनको) आराधना करने एवं कुशल कर्म में उद्योग करने लगे। कलह आदि का अभाव था। कहा जाता है कि इस रीति से लगभग चालीस वर्षों तक लोक में कल्याण का अस्तित्व रहा।

१—मगध, अंग, वाराणसी, वैशाली और कोसल।

२—म्छोग-सुङ=युगलप्रधान—शारिपुत्र और मौद्गल्यायन।

३—सो-सोहि-स्क्ये-वो=पृथग्जन। अनाड़ी।

४—ह्फगस्-पइ-स्लोब-प=आर्यशैक्ष्य। पृथग्जन नहीं होने पर भी शिक्षा ग्रहण करने के योग्य हो उसे आर्यशैक्ष्य कहते हैं।

५—ह्ब्रस्-बु-ब्शि=चतुष्फल। स्रोतापत्तिफल, सकृदागामि०, अनागामि०, अर्हत्।

६—ह्खोर-र्नम-प-ब्शि=चतुर्विध परिषद्। भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिका को चतुर्विध परिषद् कहते हैं।

७—स्दे-स्नोद-ह्जिन-प=पिटकधारी। विनयपिटक, सूत्रपिटक और अभिधर्मपिटक का ज्ञान रखनेवाला।

८—रब-तु-ब्युङ-व=प्रव्रजित। त्रिशरण और दस शील के साथ भिक्षुवेश धारण करनेवाला।

आर्य आनन्द द्वारा बुद्धशासन का संरक्षण करते पन्द्रह वर्ष बीत जाने पर **कनकवर्ण ने** अर्हत्व प्राप्त किया जिसका वर्णन कनकवर्णावदान[1] में उपलब्ध होता है। उस समय राजा अजातशत्रु को विचार हुआ कि कनकवर्ण जैसा सुखविलास का जीवन यापन करने वाला तक बिना किसी काठिन्य के अर्हत्पद को प्राप्त हुआ (जबकि) आर्यानन्द तो बुद्ध के समकक्ष श्रावक हैं (और उसने) आर्यानन्द आदि पांच हजार अर्हतों की पांच वर्षों तक सभी साधनों से आराधना की। उस समय दक्षिण दिशा के किम्मिलिमाला[2] नामक नगर से जम्भल का सजातीय भारध्वज नामक किसी ब्राह्मण जादूगर ने, मगध में आकर भिक्षुओं के साथ प्रातिहार्य[3] की होड़ लगाई, जो जादूगरी में सुदक्ष था, राजा आदि सभी एकत्र जनपुंज के आगे (उसने) सुवर्ण, रजत, कांच और वैडूर्यमय चार पर्वत निर्मित किये। प्रत्येक (पहाड़) पर चार-चार रत्नमय उद्यानों और प्रत्येक उद्यान में चार-चार कमल-पुष्करिणियों का निर्माण किया जो विविध पक्षियों से भरी-पूरी थीं। आर्यानन्द ने (अपने योग बल से) अनेक प्रचण्ड हाथी निर्मित किये जिन्होंने कमलों का भक्षण किया और पुष्करिणियों को उथल-पुथल कर दिया। प्रचण्ड वायु भेजकर वृक्षों को विछिन्न कर दिया गया। वज्रवृष्टि के बरसाये जाने से प्राचीर एवं पहाड़ों का सर्वनाश हुआ। तब आर्यानन्द ने अपने शरीर को पांच सौ विविध आकृतियों में प्रकट किया। कोई रश्मि प्रसृत करता, कोई वृष्टि करता, कोई आकाश में चतुर्विध ईर्यापथ[4] का आचार करता, कोई शरीर के ऊपरी (भाग) से अग्नि प्रज्वलित करता और (कोई) निचले (भाग) से जलधारा प्रवाहित करता था। इस प्रकार अनेक यमक-प्रातिहार्य[5] दिखाकर पुनः (पूर्वशरीर में) समेट लिया। भारध्वज आदि जन-समुदाय को (आर्यानन्द के प्रति) श्रद्धा उत्पन्न हुई जिन्हें (आर्य ने) अनेक धर्मोपदेश दिया। फलतः एक सप्ताह के भीतर ही भारध्वज आदि पांच सौ ब्राह्मणों और ८०,००० व्यक्तियों को सत्य में स्थापित किया गया। तत्पश्चात् जब किसी दूसरे समय में आर्यानन्द जेतवन में विहार कर रहे थे, गृहपति शाणवासी ने पांच वर्षों तक संघ के लिये (धार्मिक) महोत्सव (का आयोजन) किया। अंत में आर्य (आनन्द) की आज्ञा से (उसने) प्रव्रज्या की दीक्षा ग्रहण की। (वह) धीरे-धीरे त्रिपिटकधारी[6] और उभयतो-भाग-विमुक्त[7] अर्हत् हो गया। इस प्रकार (आनन्द के द्वारा) पहले और बाद में क्रमशः लगभग १०,००० भिक्षुओं को

१—ग्सेर-म्दोग-र्तोगस्-ब्र्जोद=सुवर्णवर्णावदान। न० १२७।

२—किम्बिला? क्रमिला?

३—छो-ह्फ़ुल =प्रातिहार्य—चमत्कार।

४—स्प्योद-लम-ब्शि=चार ईर्यापथ—उठना, बैठना, लेटना और टहलना।

५—य-म-सुङ-गि-छो-ह्फुल=यमक-प्रातिहार्य। ऊपर के शरीर से अग्नि-पुंज और निकले शरीर से पानी की धारा निकलना आदि जोड़े चमत्कार का प्रदर्शन।

६—स्दे-स्नोद-ग्सुम-ह्जिन-प=त्रिपिटकधर—विनय, सूत्र और अभिधर्म का ज्ञाता।

७—ग्ञिस्-कइ-छ-लस्-र्नम-पर-ग्रोल-व=उभयतो-भाग-विमुक्त। निरोध-समापत्ति-लाभी **उभयतोभागविमुक्त** उच्यते। द्र० कोश का षष्ठंस्थानम्।

अर्हत्पद पर संस्थापित कर वैशाली के लिच्छविगण और मगध नरेश अजातशत्रु को (अपनी) धातु का (बराबर) भाग प्राप्त कराने के लिये उन दोनों देशों के बीच गंगा नदी के मध्य (भाग) में निवास करने लगे। (वहां) ५०० ऋषियों द्वारा उपसम्पदा के लिये निवेदन करने पर (आनन्द ने ऋद्धि के बलपर) नदी के मध्य (भाग) में (एक) द्वीप का निर्माण किया। जहां भिक्षुओं के एकत्र होने पर (आर्यानन्द ने) ऋद्धि से एक ही घंटे में (उक्त) पांच सौ (ऋषियों) को क्रमश: उपसम्पन्न[1] कर अर्हत् (पद) पर प्रतिष्ठापित किया। फलत: (वे) ५०० माध्यन्दिन[2] के नाम से विख्यात हुए। उनका प्रमुख (व्यक्ति) महामाध्यन्दिन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अनन्तर (आर्यानन्द) वहां निर्वाण को प्राप्त हुए। (उनके शरीर का) अग्नि संस्कार स्वत: प्रज्वलित अग्नि से सम्पन्न हुआ और (शारीरिक धातु) रत्नमय पिण्ड के रूप में दो भागों में (विभक्त) हुई जो जल-तरंग से प्रवाहित हो, (नदी के) दोनों तटों पर पहुंची। उत्तरीय (भाग) को व्रजवासी ले गये और दक्षिणी (भाग) को अजातशत्रु। (उन्होंने धातु को) अपने-अपने देशों में स्तूप बनवाकर (उसमें प्रतिष्ठित किया)। इस प्रकार आनन्द ने ४० वर्षों तक शासन का संरक्षण किया। अगले वर्ष राजा अजातशत्रु का भी देहान्त हुआ। कहा जाता है कि (अजातशत्रु) क्षण भर के लिए नरक में उत्पन्न हुआ और वहां से मृत्यु-च्युत हो, देव (योनि) में पैदा हुआ और आर्य शाणवासी से धर्म श्रवण करने पर स्रोतापत्ति[3] को प्राप्त हुआ। राजा अजातशत्रुकालीन पहली कथा (समाप्त)

(२) राजा सुबाहु कालीन कथाएं।

तदुपरान्त राजा अजातशत्रु के पुत्र सुबाहु[4] ने राज्य किया। (इसने) लगभग १७ वर्षों तक बुद्धशासन का सत्कार किया। उस समय आर्य शाणवासी भी थोड़ा (बुद्ध) शासन का संरक्षण करते थे। मुख्यत: आर्य माध्यन्दिन वाराणसी में विहार करते चतुर्विध परिषदों को शिक्षा देते और ब्राह्मणों तथा गृहपतियों को धर्म की देशना करते थे। किसी दूसरे समय में वाराणसी के (रहनेवाले) अनेक ब्राह्मण और गृहपति (उन) भिक्षाटन करनेवाले भिक्षुओं के आधिक्य से तंग आकर बोले : "भिक्षुओं को भिक्षाटन के लिये और (कहीं) जगह नहीं (मिली) है।" कह (उनकी) निन्दा करने लगे। (भिक्षुओं ने) कहा : "वाराणसी से बढ़कर और समृद्ध (स्थान) कहीं नहीं है।" (गृहपतियों ने) कहा : "हमलोगों को आप (भिक्षुओं) का भरण-पोषण करना पड़ता है, लेकिन आपलोग हमलोगों को थोड़ा सा भी देते नहीं हैं।" यह कहने पर आर्य माध्यन्दिन १०,००० अर्हत् परिषद से घिरे आकाश मार्ग से उड़ते हुए गमन कर उत्तर दिशा में उशीर गिरि को चले गये। वहां अज नामक गृहपति ने चारों

१--ब्स्ञेन-ज़ोगस्=उपसम्पन्न। भिक्षुओं के सम्पूर्ण नियमों का पालन करने वाला उपसम्पन्न कहा जाता है।

२--ञि-म-गङ-प=माध्यन्दिन। तिब्बती में इनका एक और नाम 'छु-द्बुस्-प' है।

३--ग्युन-दु-शुगस-प=स्रोतापन्न। तीन संयोजनों के क्षय से स्रोतापन्न, निर्वाण-मार्ग से न-पतित होनेवाले, सम्बोधिपरायण को स्रोतापन्न कहते हैं।

४--लग-ब्सङ=सुबाहु। पुराणों के अनुसार अजातशत्रु के पश्चात् उसका पुत्र दर्शक सिंहासनारूढ़ हुआ। पालि-साहित्य के अनुसार अजातशत्रु के बाद उसका उदायिभद्द लगभग ४५६ ई०पू० मगध की राजगद्दी पर बैठा।

दिशाओं के सभी संघ एकत्र करके धार्मिकोत्सव एक वर्ष तक मनाया। फलतः ४४,००० अर्हत् एकत्र हुए। इस कारण से उत्तरदिशा में (बुद्ध) शासन विशेषरूप से फला-फूला। इस प्रकार, माध्यन्दिन ने उशीर में तीन वर्षों तक धर्मोपदेश किया। उस समय श्रावस्ती में आर्य शाणवासी रहते थे और चतुर्विध परिषदों को धर्म की देशना करने पर लगभग १,००० (व्यक्ति) अर्हत्व को प्राप्त हुए। पहले राजा अजातशत्रु के जीवनकाल में पन और नप नामक दो ब्राह्मण रहते थे। ये दोनों अधर्मी और अतिक्रूर थे। (वे दोनों) चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध (सभी प्रकार के) आहार का उपभोग करते और नाना प्रकार के जीवों का वध करते थे। उन दोनों के द्वारा किसी घर में चोरी करने के अभियोग में राजा ने (उन्हें) दण्ड दिया। इससे अत्यन्त क्रोध में आकर उन्होंने अनेक अर्हतों को भोजन कराके इस प्रकार प्रणिधान[1] किया : "(हम) इस कुशलमूल[2] से यक्ष के रूप में होकर राजा और मगधवासियों को विनष्ट कर सकें।" किसी समय में वे दोनों रोगग्रस्त होने से मर गये और यक्षयोनि में पैदा हुए। जब राजा सुबाहु के शासन करते सात या आठ साल हो गये उन दोनों ने मगध में यक्ष का स्थान प्राप्त कर देश में महामारी फैलाई। (फलतः) वहां मनुष्यों और पशुओं की भारी संख्या में मृत्यु हुई और महामारी के शमन नहीं होने पर ज्योतिषियों ने (इसका कारण) जान लिया और मगधवासियों ने श्रावस्ती से आर्य शाणकवासी को आमंत्रित कर (उनसे) उन दोनों यक्षों का दमन करने के लिये प्रार्थना की। वे भी (=आर्य शाणवासी) गुर्व नामक पहाड़ी पर यक्षों की गुफा में जाकर रहने लगे जहां दो यक्षों का निवासस्थान है। उस समय वे दोनों यक्ष अन्य यक्षों की सभा में चले गये थे (तभी उनके) किसी यक्ष साथी ने (उन्हें आर्य के आगमन की) सूचना दी। लौटकर (दोनों ने) बड़े क्रोधित हो गुफा को चट्टान को धंसा दिया। फिर एक अन्य गुफा प्रादुर्भूत हुई जिसमें आर्य शाणकवासी विराजमान थे। इसी तरह (की घटना) तीन बार हुई, तो दोनों ने (गुफा में) आग लगा दी। अर्हत् ने उससे भी अधिक (भीषण) अग्नि दश दिशाओं में प्रज्वलित की। दोनों यक्ष भयभीत हो (वहां से) पलायन करने लगे तो सभी दिशाओं में (आग) भड़कने के कारण (उन्हें) भागने का स्थान ही नहीं मिला। शाणवासी की शरण में जाने पर अग्नि शान्त हुई। उसके बाद धर्मोपदेश देने पर (दोनों को शाणवासी के प्रति) बड़ी श्रद्धा हुई और (शाणवासी ने उन्हें) शरणगमन[3] और शिक्षापद[4] पर स्थापित किया। तत्काल महामारी भी शान्त हो चली। इस प्रकार के चमत्कार-प्रदर्शन को हजारों ब्राह्मणों और गृहपतियों ने देखा। राजा सुबाहु के काल में घटित दूसरी कथा (समाप्त)।

१—स्मोन-लम=प्रणिधान। दृढ़ कामना। प्रार्थना। अभिलाषा।

२—द्गे-वहि-र्च-व=कुशलमूल। सुकर्मों का मूल। भलाइयों की जड़। सुकर्म।

३—स्क्यब्स्-ह्ग्रो=शरणगमन। शरण तीन हैं—बुद्धशरण, धर्मशरण और संघशरण। बौद्ध लोग बुद्ध को शास्ता, धर्म को मार्ग और संघ को सहायक के रूप में मानते हैं तथा उनकी शरण में जाते हैं।

४—ब्स्लब-पइ-ग्ज़िस्=शिक्षापद। पंचशील, दसशील आदि को शिक्षापद कहते हैं।

(३) राजा सुधनु कालीन कथाएँ।

राजा (सुबाहु) की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र सुधनु ने शासन किया। (यह) माध्यन्दिन का समकालीन था जो (उन दिनों) काश्मीर पर (अपना धार्मिक) प्रभाव डाल रहे थे। अर्थात् माध्यन्दिन (अपनी) ऋद्धि के द्वारा काश्मीर को चले गये (जहां वे) नागों के निवासस्थान समुद्रतट पर ठहरे। उस समय सपरिवार नागराज औदुष्ट ने क्रोधित हो, जोरों का आंधी-पानी बरसाया, लेकिन (माध्यन्दिन के) चीवर का छोर तक विचलित नहीं हुआ। नाना प्रकार के शस्त्रास्त्रों की बौछार किए जाने पर (भी वे) पुष्प के रूप में परिणत हो गये, तो नाग ने साक्षात् आकर उनसे पूछा:

"आर्य! (आप) क्या चाहते हैं?"
"(मुझे) भूमि दान करो।"
"कितने (क्षेत्रफल की) भूमि?"
"पालथी भर से व्याप्त भूमि।"
"अच्छा, तो समर्पण करता हूं।"

उन्होंने ऋद्धि (बल) से एक (ही) पालथी में काश्मीर के नौ प्रदेशों को व्याप्त कर लिया, तो नाग बोला:

"आर्य के कितने अनुयायी हैं?"

"पांच सौ।"

"(यदि) उन (पांच सौ) में एक भी अनुपस्थित रहा तो भूमि वापस ले लूंगा।"

"यह स्थल शास्ता ने विपश्यना[1] के लिये उपयुक्त व्याकृत किया है। जहां दायक रहता है वहां याचक (भी) रहता है।"

"अतः, ब्राह्मणों और गृहपतियों को भी सम्मिलित कर लेना चाहिए।"

यह कह (आर्य) उशीर के ५०० माध्यन्दिन अनुयायी और वाराणसी के धर्म में विश्वास रखनेवाले सहस्रों ब्राह्मणों तथा गृहपतियों के साथ काश्मीर चले गये। तब शनैः-शनैः विभिन्न देशों से बहुत लोग आने लगे। (फलतः) माध्यन्दिन के जीवनकाल में ही नौ महानगरों, अनेक पर्वतीय गांवों, एक राजप्रासाद तथा अनेकानेक भिक्षुसंघ के साथ बारह (बौद्ध) विहारों से (काश्मीर) देश अलंकृत हुआ। तब (माध्यन्दिन अपने) ऋद्धि (बल) से काश्मीर के जनपुंज को गंधमादन पर्वत पर ले गये (जहां उन्होंने) अग्नि-प्रज्वलन ऋद्धि के द्वारा नागों को नियंत्रित किया। (नागों द्वारा) चीवर की छाया के (फैलाव से) ढंकने (भर) का गुरकुम भेंट करने पर अर्हत् ने (ऋद्धि से) चीवर को विशाल बनाया और उसकी छाया पड़नेवाली भूमि से सभी लोगों ने गुरकुम ग्रहण किया। और फिर क्षण भर में काश्मीर पहुंचे और (उन्होंने) काश्मीर को गुरकुम उत्पादन-केन्द्र बनाकर (वहां के निवासियों को) निर्दिष्ट किया:—"तुमलोगों के लिये आर्थिक-वृद्धि का यह साधन है।" (तत्पश्चात् उन्होंने) काश्मीर के निवासियों को (बुद्ध) शासन में दीक्षित कर निर्वाण लाभ किया। कहा जाता है कि उन्होंने काश्मीर में लगभग बीस वर्षों तक धर्म की देशना की। जिस समय माध्यन्दिन काश्मीर चले गये उस समय आर्य शाणकवासी छः नगरों के रहनेवाले चतुर्विध परिषदों को धर्म की

१—ल्हग-म्थोङ़—विपश्यना। धर्मों के यथार्थ स्वभावों को जाननेवाली प्रज्ञा।

देशना करते थे। किसी समय राजा सुधनु २३ वर्ष शासन कर कालातीत हो गया। तदनन्तर उक्त राजा के २,००० परिकरों और वेतनजीवियों ने शाणवासी से प्रव्रज्या ग्रहण की और उन (राजपुरुष) आदि संबहुल (प्रव्रजितों) के साथ (शाणवासी ने) शीतवन चिताघाट पर वर्षावास[1] किया। प्रवारणा[2] के दिन (वे लोग) श्मशानी क्षेत्र का भ्रमण करने चले गये (जहां) उन सभी को अशुभ समाधि[3] की प्राप्ति हुई और अचिर (काल) में ही मनस्कार[4] की सभी विशेषताएं सिद्ध कर वे अर्हन् हो गये। तदुपरान्त सुगंध के व्यापारी गुप्त के पुत्र उपगुप्त को उपसम्पन्न होते ही सत्य के दर्शन हुए। एक सप्ताह के बाद उभतो-भाग-विमुक्त[5] अर्हत हो गया। उसके बाद उपगुप्त को शासन सौंप कर (शाणवासी) चम्पा देश में निर्वाण को प्राप्त हुए। इन शाणवासी के उपदेश देने के फलस्वरूप पहले (और) पीछे लगभग १,००,००० (व्यक्तियों को) सत्य के दर्शन हुए (तथा) लगभग १०,००० अर्हत् हुए। काश्मीरकों का कहना है कि माध्यन्दिन को भी शासन के उत्तराधिकारियों में अवश्य गिना जाना चाहिए (क्योंकि) मध्यदेश में जब माध्यन्दिन ने १५ वर्षों तक शासन का संरक्षण किया था आर्य शाणवासी अल्पसंख्यक शिष्यों के साथ रहे। (और) जब से माध्यन्दिन काश्मीर चले गये तब से शाणवासी ने (बुद्ध) शासन का संरक्षण करना (आरम्भ किया), इसलिये उत्तराधिकारियों (की संख्या) आठ है। अन्य (लोगों) का कहना है कि माध्यन्दिन को काश्मीर का (बुद्ध) शासन चलाने के लिये शास्ता ने व्याकृत किया था और आनन्द ने (माध्यन्दिन को काश्मीर में बौद्धधर्म का संरक्षण करने की) आज्ञा दी। आनन्द ने शासन शाणवासी को ही सौंपा था, इसलिये सात ही उत्तराधिकारी हैं। भोटदेशीय भी इसी (वृत्तान्त) का अनुसरण करते हैं। राजा सुधनु के काल में घटित तीसरी कथा (समाप्त)।

(४) आर्य उपगुप्त कालीन कथाएं।

तब उपगुप्त गंगा पार कर उत्तर दिशा को चले गये। (वहां वे) तिरहुत के पश्चिम की ओर विदेह नामक देश में गृहपति वसुसार जो बिहार बनवाकर चारों दिशाओं के भिक्षु-संघ का सत्कार करता था, के यहां ठहरे। (वहाँ उपगुप्त ने) वर्षावास किया (और उनके) उपदेश देने पर तीन ही मासों में पूरे १,००० (व्यक्ति) अर्हत्व को प्राप्त हुए। तदनन्तर गन्धारगिरिराज जाकर भी उन्होंने धर्मोपदेश देकर अपरिमित लोगों को सत्य (मार्ग) पर स्थापित किया। उसके बाद फिर मध्यदेश के पास पश्चिमोत्तर में स्थित मथुरा को चले गये।

१—द्व्यर-गनस्=वर्षावास। वर्षा ऋतु में बौद्ध भिक्षु किसी एक स्थान पर ठहर जाते हैं और पाठ-पूजा में लगे रहते हैं।

२—दगग्-द्व्ये=प्रवारणा। वर्षावास के बाद आश्विन की पूर्णिमा के उपोसथ को प्रवारणा कहते हैं।

३—मि-स्दुग-पइ-तिङ-ङे-ह्‌जिन=अशुभ-समाधि। अशुभ भावना। द्र०—कोश ६.९।

४—यिद-ल-ब्येद-प=मनस्कार। द्र०—अभिधर्मसमुच्चय; पृ० ६८।

५—द्र० पहली कथा में।

मथुरा के द्वार पर जनसमूह के आगे नट और भट नामक मल्लों के दो प्रमुख व्यापारी वार्तालाप करते आर्य उपगुप्त की प्रशंसा कर रहे थे। (वे दोनों यह) कामना करते थे कि शिर पर्वत[1] पर आर्य शाणवासी के समय में उन दोनों द्वारा बनवाये गये विहार में आर्य उपगुप्त निवास करें तो क्या ही अच्छा हो। उस समय (दोनों ने) उपगुप्त को दूर से आते देखा और परस्पर कहने लगे "अहो भाग्य! वह दूर से आते हुए (व्यक्ति) जो जितेन्द्र और भव्य हैं आर्य उपगुप्त ही होंगे"। यह कह कुछ दूर तक (उपगुप्त का) स्वागत करने के लिये गये और (दोनों ने) प्रणाम कर (उपगुप्त से) पूछा :

"क्या (आप) आर्य उपगुप्त हैं?"

"लोग (मुझे) ऐसा ही कहते हैं।"

(दोनों ने) शिर पर्वत पर अवस्थित नटभट विहार (आर्य उपगुप्त को) समर्पित कर सभी साधनों का दान किया। वहां (आर्य के) धर्मोपदेश देने पर अनेक प्रव्रजित और गृहस्थों ने सत्य के दर्शन किये। तत्पश्चात् किसी दूसरे समय में जब (उपगुप्त) लाखों एकत्र लोगों को धर्मोपदेश कर रहे थे, पापीमार ने नगर में तण्डुल की वर्षा की। उस समय बहुत से लोग नगर की ओर चले गये (और) शेष लोग धर्म श्रवण करते रहे। दूसरे दिन वस्त्र की वर्षा किये जाने पर फिर बहुत से लोग नगर को चले गये। इसी प्रकार तीसरे (दिन) रजत की वृष्टि, चौथे (दिन) स्वर्ण की वृष्टि और पांचवें (दिन) सप्तविध रत्नों[2] की वृष्टि किये जाने के फलस्वरूप धर्म-श्रोतागण (की संख्या) बहुत कम हो चली। छठे दिन (स्वयं) पापीमार अपने को दिव्यनतक के वेश में (और अपने) पुत्र, स्त्री और लड़कियों को भी (क्रमशः) दिव्य गायक तथा नर्तकी के रूप में परिणत कर ३६ स्त्री-पुरुष नर्तकों के साथ नगर में आ पहुचा। (नर्तकों ने) नृत्य-कलाओं, नाना मायावी प्रदर्शनों और गीत तथा वाद्य की मधुर ध्वनि से सभी लोगों का मन बहला दिया जिसके फलस्वरूप धर्म श्रवण करनेवाला कोई नहीं रहा। उस समय आर्य उपगुप्त ने भी नगर में जाकर (उन नर्तकों से) कहा : "अहो! तुम वीर पुरुषों का नृत्य (अति) सुन्दर है! अतः मैं भी (तुम लोगों को) माला पहना देता हूं।" यह कह प्रत्येक के सिर और गले में एक-एक पुष्पमाला बांध दी। तत्क्षण आर्य की ऋद्धि से सपरिवार पापी (मार) पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह जीर्णशीर्ण शरीर, कुरूप, जर्जरवस्त्र पहने, सिर पर सड़े हुए मानव शव बांधे, गले में सड़े हुए कुत्ते का शव बांधे (दिखाई पड़ने लगा) (सड़े हुए शवों की) दुर्गन्ध दस दिशाओं में फैलने लगी और (लोगों की) दृष्टि (उनपर) पड़ते ही (उन्हें) उलटी आने लगी। वहां वे सभी लोग, जो अ-वीतराग[3] थे, (उस समय) खिन्न, भयभीत

१—न्गो-वोगि=शिरपर्वत। दिव्यावदान में उरुमुंड पर्वत दिया है। द्र० पृ० ३४९।

२—रिन-छेन-स्न-बदुन=सप्तविध रत्न। चक्ररत्न, हस्तिरत्न, अश्वरत्न, मणिरत्न, स्त्रीरत्न, गृहपतिरत्न और परिणायक रत्न।

३—ह्दोद-छगस्-दङ-म-ब्रल-व=अविरागी।

और घृणित हो नाक बंदकर पीछे की ओर मुड़कर बैठने लगे। उस समय उपगुप्त ने (पापीमार) से कहा :

"रे, पापी, तू मेरे अनुचरों को क्यों तंग करता है ?"

" आर्य, क्षमा करें और हमलोगों को बन्धन से मुक्त करें।"

" (यदि तू फिर) मेरे अनुयायियों को तंग नहीं करेगा, तो (मैं तुझे मुक्त) कर दूंगा।

" अपना शरीर नष्ट होने पर भी (मैं अबसे) उपद्रव नहीं करूंगा।"

उसी समय मार का शरीर पूर्ववत् हो गया (और) वह बोला :

" मैंने गौतम की बोधि-(प्राप्ति) में बड़ा उद्यम मचाया था, पर वे मैत्रेय समाधि में स्थित थे। गौतम के शिष्यगण क्रूर और पराक्रमी हैं। मेरे थोड़ी सी क्रीड़ा करने पर आर्य ने मुझे बांध दिया।"

तब उपगुप्त ने पापीमार को धार्मिक कथा सुनाकर कहा :

" मैंने शास्ता के धर्मकाय[1] के दर्शन किये, किन्तु रूपकाय[2] के दर्शन नहीं प्राप्त किये। इसलिये हे पापी तू (अपने को बुद्ध की) आकृति के सदृश प्रकट कर, ताकि (मैं) उनके दर्शन कर सकूं।"

उसने (अपने को) शास्ता की आकृति में परिणत किया, तो आर्य उपगुप्त ने प्रसन्न और रोमांचित हो, आंखें डबडबाते हुए 'बुद्ध की वन्दना करता हूं' कह बद्धांजलि को शीष पर रखा। फलतः पापीमार (उनकी वन्दना को) सहन नहीं कर सका और मूर्छित होकर गिर पड़ा। वहीं मार अन्तर्धान हो गया। इस घटना से सभी लोग उद्विग्न हो और अधिक श्रद्धा करने लगे। ·डल की वर्षा (के दिवस) से लेकर छठे दिवस तक (आर्य ने) उन पूर्वजन्म के कुशलमूल से प्रेरित होकर चारों दिशाओं से (धर्मोपदेश सुनने के लिये) आए लोगों को धर्मोपदेश किया जिसके फलस्वरूप सातवें दिन १०८००,००० लोगों ने सत्य के दर्शन किये। तत्पश्चात् (आर्य उपगुप्त) जीवन पर्यन्त नटभट विहार में रहे। एक गुफा थी जिसकी लम्बाई १८ हाथ, चौड़ाई १२ हाथ (और) ऊंचाई छः हाथ की थी। उपगुप्त के उपदेश

१—छोस-स्कु=धर्मकाय। इसे शुद्धकाय या स्वभावकाय भी कहते हैं, क्योंकि यह प्रपञ्च या आवरण से रहित और प्रभास्वर है।

२—ग्सुगस्-स्कु=रूपकाय। बुद्ध का वह असत्काय है जिसके द्वारा धर्मचक्रादि जगतहित का सम्पादन होता है।

से एक प्रव्रजित भिक्षु अर्हत् (पद) की प्राप्ति करता था, तो एक चार उंगली की शलाका उस गुफा में डाल दिया करता था। तब किसी दूसरे समय में इसी रीति से इस प्रकार की शलाकाओं से वह गुफा खचाखच भर गई। उस समय आर्य उपगुप्त भी परिनिर्वाण को प्राप्त हुए (और उनका) दाह-संस्कार भी उन्हीं लकड़ियों से सम्पन्न हुआ। कहा जाता है कि (उनकी) धातु को देवता ले गये। इन (उपगुप्त) को शास्ता ने स्वयं लक्षण-रहित[1] बुद्ध के रूप में व्याकृत किया था[2]। तात्पर्य यह है कि (इनके) शरीर में (महापुरुष के) लक्षण-अनुव्यंजनों का अभाव रहने पर भी (उपगुप्त) जगत हित करने में स्वयं शास्ता के समकक्ष थे। तथागत के निर्वाण के पश्चात् इनसे बढ़कर जगत का हित करने वाला (कोई भी) नहीं हुआ। उपगुप्त के शासन करते समय अधिकांश अपरान्त[3] में राजा सुधनु के पुत्र राजा महेन्द्र ने नौ वर्ष राज्य किया और उनके पुत्र चमस ने बाईस वर्ष। उस समय पूर्वी भारत में उत्तर नामक अर्हत् रहते थे (जिनके प्रति) राजा महेन्द्र को विशेषरूप से श्रद्धा हुई। बगल के निवासियों ने किसी कुक्कुट पालन करने के स्थान में (एक) विहार बनवाकर (उक्त अर्हत् को) समर्पित किया (और यह) कुक्कुटाराम के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उन (-अर्हत्) ने अपरान्त के चतुर्विध परिषदों[4] को अनेक उपदेश दिये (जिसके) फलस्वरूप बहुत से (लोगों) ने चतुष्फल[5] का लाभ किया। इनके प्रधान शिष्य अर्हत् यश थे। राजा महेन्द्र की मृत्यु के पश्चात् राजा चमश के सिंहासनारूढ़ होने के अचिर में ही मगध में जस्ला नामक एक ब्राह्मणी हुई जिसकी अवस्था १२० वर्ष के आसपास की थी। उसके तीन पुत्र थे—जय, सुजय और कल्याण। पहला (पुत्र) महेश्वर का, दूसरा कपिलमुनि का (और) तीसरा (पुत्र) सम्यक् सम्बुद्ध का भक्त था। वे अपने-अपने सिद्धांतों का अच्छी तरह अध्ययन कर एक घर में (रह) प्रतिदिन शास्त्रार्थ करते थे। इसपर (उनकी) मां ने कहा—

"तुमलोगों को भोजन, वस्त्र आदि नित्य प्रतिदिन मैं देती हूं। (आखिर) किसलिये विवाद करते हो?"

"हमलोग भोजन आदि के लिये विवाद नहीं करते, वरन् (अपने-अपने) उपदेशक और धर्म को लेकर विवाद करते हैं।"

"(तुमलोग) अपनी बुद्धि की अक्षमता से (अपने) उपदेष्टा और धर्म की श्रेष्ठता (और) अश्रेष्ठता नहीं समझ (पाते) हो, तो दूसरे विज्ञजनों से पूछताछ करो।"

१—म्छन-मेद-प = लक्षण-रहित। महापुरुष के लक्षणों से रहित।

२—दिव्यावदान पृ० ३४८ में भी यह कथा दी हुई है।

३—त्रि-होंग = अपरान्त। समुद्र तट पर बम्बई से सूरत तक का प्रदेश।

४—द्र० पहली कथा।

५—द्र० पहली कथा

उन्होंने मां का कहना मानकर विभिन्न देशों में जाकर पूछताछ की, (पर) किसी से विश्वसनीय सूचना नहीं मिली। अंत में अर्हत् उत्तर के यहां जा, (प्रत्येक ने) अपनी कथा विस्तारपूर्वक कह सुनाई। जय ने (महादेव द्वारा) त्रिपुर[1] का विनाश आदि महादेव की प्रशंसा की। सुजय ने कपिलमुनि के अभिशाप का प्रभाव आदि की महिमा गायी। (और दोनों ने) कहा कि श्रमण गौतम की तपस्या अपूर्ण प्रतीत होती है; क्योंकि (वह) शाप नहीं देते और (वह) प्रभावहीन हैं क्योंकि असुर का विनाश नहीं करते इत्यादि। इस पर अर्हत् बोले—

"जो क्रोध के वश में आकर शाप देता है उसकी कौन-सी तपस्या है? जैसे यहां भ्रष्टाचारिणी डाकिनी और क्रूर दैत्य भी शाप देते हैं। जिनकी यहां बिना जान से मार डाले, बांधे और मार-पीट किये ही मृत्यु हो ही जाती है, फिर उनके वध करने की प्रवृत्ति तो अत्यन्त मूर्खतापूर्ण है। जैसे कोई अज्ञ व्यक्ति सूर्यास्त होने पर दंड से (सूर्य को) खदेता है और अपनी विजय पर घमण्ड करता है। हे ब्राह्मण! और भी सुनो। बुद्ध, लोकहित में प्रयत्नशील हैं (और) उनका धर्म अहिंसा है। (जो) उसमें विश्वास करता है (और) उसका अनुसरण करता है उसको भी अहिंसक कहते हैं। (तथागत ने) दीर्घकाल तक उपकार कार्य किया (और) उसमे बोधि का लाभ कर सर्वदा अहिंसा (एव) उपकार किया। (अपने) अनुयायियों को भी परोपकार में यत्न करने की शिक्षा दी। ब्राह्मण या श्रमण, अन्य किसी के मुंह से इनके द्वारा अनिष्ट होने की चर्चा नहीं (सुनाई पड़ती)। यही (बुद्ध) की सर्वकल्याणशीलता है।(इनके विपरीत) स्वयं महादेव के धर्म (शास्त्र) में यह उल्लेख मिलता है कि रुद्र श्मशानवास करने में रत रहता है, मनुष्य-मांस, चर्बी और मज्जा का भक्षण करता है और नृशंसतापूर्वक प्राणियों का वध करने में रत रहता है। (अपने) सिद्धांत तक हिंसा (धर्मवाद) से कलंकित है। उस पर विश्वास करने वाला भी सदा हिंसा का उपभोग करता है। इस पर कौन विज्ञ प्रसन्नता व्यक्त करेगा? (यदि) वीर को गुणवान् (माना जाय), तो क्या सिंह, व्याघ्र आदि भी पूज्य नहीं बनते? (अतः) शान्ति का चिन्तन करने में ही गुण है। यह पहला सूत्र है।"

इत्यादि गुण-दोष के भेद पर प्रकाश डालनेवाले पांच सौ सूत्रों तक पाठ करने पर दोनों ब्राह्मणों को (यह सूत्र) सत्य प्रतीत हुआ (और वे) रत्नत्रय[2] के

१—ग्रोङ-ख्येर-ग्सुम=त्रिपुर। असुरों के तीन नगर।

२—दकोन-मछोग-गसुम=रत्न-त्रय। बुद्ध, धर्म और संघ को त्रिरत्न कहते हैं।

प्रति विशेषरूप से श्रद्धा करने लगे। ब्राह्मण पुत्र कल्याण की (त्रिरत्न पर) भक्ति पहले से और अधिक बढ़ गई। वे तीनों एकमत हो, अपने घर जा, मां से बोले––"हमलोग बुद्ध के ज्ञान से अवगत हो गये हैं, अतः शास्ता की प्रतिमा स्थापित करने के लिये एक-एक देवालय बनवाने जा रहे हैं। (इसके लिये) जो (उपयुक्त) स्थान हो (हमलोगों को) दिखाओ।" तब मां के निदेशानुसार ब्राह्मण जय ने वाराणसी के धर्मचक्र के स्थान पर (बुद्ध) प्रतिमा-स्थापना के लिये (एक) मन्दिर बनवाया। जिन विहारों में शास्ता रहते थे, वे वस्तुतः (दिव्य कारीगरों द्वारा) निर्मित हैं, अतः (ऐसा) प्रतीत होता है कि (मानों देवताओं का शिल्प-कला) निर्माण का संग्रह किया गया हो। लेकिन सत्त्वों की दृष्टि से क्षतिग्रस्त हो, उन दिनों भग्नावशेष मात्र रह गये थे। ब्राह्मण सुजय ने राजगृह के वेणुवन में (बुद्ध की) मूर्ति और देवालय का निर्माण कराया। कनिष्ठ (पुत्र) ब्राह्मण कल्याण ने वज्रासन[1] के गन्धोल का निर्माण महाबोधि (मन्दिर) के साथ कराया। मनुष्य के रूप में आये हुए दिव्य-शिल्पकारों द्वारा (इन मन्दिरों का) निर्माण किया गया। महाबोधि के निर्माण के लिये (संग्रहीत आवश्यक) सामान, मूर्तिकार और ब्राह्मण कल्याण (मन्दिर के) अन्दर बैठे। एक सप्ताह तक दूसरा कोई भी अंदर जाने से वर्जित किया गया। छः दिन के बीतने पर तीनों ब्राह्मण भाइयों की मां ने आकर द्वार खटखटाया। वहां (उनलोगों ने) कहा––

"(अभी) केवल छः दिन हुए हैं, कल प्रातः द्वार खोल दिया जायगा।"

"आज रात को मेरी मृत्यु हो जायगी। अब पृथ्वी पर बुद्ध के दर्शन पानेवाला मेरे अतिरिक्त कोई नहीं है। अतः (मेरे) अनन्तर दूसरा (कोई) नहीं जानेगा कि (यह) मूर्ति तथागत के सदृश है या नहीं? अतएव अवश्य द्वार खोल दो।"

यह कहने पर द्वार खोल दिया गया, तो (सभी) शिल्पकार अन्तर्धान हो गये। वहां (उनकी मां ने प्रतिमा को) भली-भांति परीक्षा की, तो सब-के-सब (अंग) शास्ता के सदृश (उतरे), लेकिन (उनमें) असमानता रखनेवाली तीन विशेषताएं थीं––रश्मि का प्रसृत न करना, धर्मोपदेश का न देना और बैठे ही रहने के सिवाय अन्य तीन आचरणों[2] का नहीं करना। कहा जाता है कि (इन असमानताओं को छोड़ यह) प्रतिमा साक्षात् बुद्ध के सदृश है। कुछ (लोगों) का मत है कि एक सप्ताह के पूरा नहीं होने के कारण उनमें जो थोड़ी सी शिल्प-कला की अपूर्णता रह गई थी वह दायें चरण का अंगूठा था। कुछ लोग प्रदक्षिणा से कुंडलित केश[3] मानते हैं। ये दोनों

१––दो-र्जे-गदन==वज्रासन। बोधगया को कहते हैं।

२––उठना, लेटना और टहलना।

३––द्बु-स्क्र-ग्यस्-सु-हृ्खियल-ब==प्रदक्षिणा कुंडलित केश। बाएं से दायीं ओर घूमे हुए बाल।

बाद में बनाए गये। लेकिन पण्डितों का कहना है कि शरीर में रोवें और चीवर के शरीर में असृता होने की (शिल्प-कला ही) अधूरी रह गई थी। पण्डित क्षेमेन्द्र भद्रने भी ऐसा ही उल्लेख किया है। उसी रात को ब्राह्मणी जस्मा भी बिना किसी वेदना के कालातीत हो गई। तब कुछ ही समय के बाद ब्राह्मण कल्याण किसी मार्ग से गुजर रहा था, (उसको) एक स्वप्रकाशवान् असम-गर्भ मणि प्राप्त हुई। उसने विचारा—(मुझे यह मणि) महाबोधि का निर्माण समाप्त होने से पूर्व प्राप्त हुई होती, तो इससे (बुद्ध मूर्ति के) नेत्र बनवाए गए होते, पर नहीं मिली। तत्काल (दोनों) नेत्रों के स्थान पर प्राकृतिक छेद हो गए। (वह मणि को) दो टुकड़ों में करने लगा, तो उसी (मणि) के सदृश दो (मणि) अपने आप बन गई (जिन्हें) दोनों नेत्रों के स्थान पर जटित कर दिया गया। इसी तरह (एक) प्रकाशमान इन्द्रनील के प्राप्त होने पर (उसे भ्रूमध्य के ऊर्णाकोश [1] के रूप में जड़ दिया गया। उसके प्रभाव से राजा राथिक के समय तक महाबोधि मन्दिर के अन्दर रात को भी मणि की दीप्ति से सदा आलोक रहता था। तत्पश्चात् तीनों ब्राह्मण भाइयों ने उन तीनों मन्दिरों में (वासकरनेवाले) पांच-पांच सौ भिक्षुओं की जीविका का रोज प्रबंध कर चारों दिशाओं के सभी (भिक्षु) संघों का (आवश्यक) साधनों से सत्कार किया। आर्य उपगुप्त के काल में घटित चौथी कथा (समाप्त)।

(५) आर्य धीतिक कालीन काथाएँ।

आर्य उपगुप्त ने (बुद्ध) शासन आर्य धीतिक को सौंप दिया। इसका वृत्तान्त (इस प्रकार) है—उज्जयिनी देश में एक धनी ब्राह्मण रहता था। उसके धीतिक नामक (एक) व्यक्त, चतुर और मेधावी पुत्र था। वह चारों वेद[2] और अष्टादश विद्याओं[3] में निष्णात हो गया। (उसका) पिता प्रसन्न हो (पुत्र के लिये) घर बनवाकर (उसके) विवाह की तैयारी करने लगा, तो उसने कहा—

"मुझे गृहस्थी (करने) की इच्छा नहीं है इसलिये (मुझे) प्रव्रज्या ग्रहण करने (की अनुमति) दें।

"यदि तुम निश्चय ही प्रव्रजित होगे, तो जबतक मैं जीवित रहूंगा तब तक प्रव्रजित नहीं हो सकोगे। इन ब्राह्मण परिवार का भी पालन तुम करना।"

वह पिता का कहना मान, घर पर (ही) ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ उन ५०० ब्राह्मणों को अहिंसा की विद्या पढ़ाने लगा। किसी समय में पिता का देहान्त हो गया। घर की सारी सम्पति श्रमणों और ब्राह्मणों को दान कर ५०० अनुयायियों

१—म्जोद-स्पु=ऊर्णाकोश। बुद्धों के ३२ महापुरुष लक्षणों में से एक है।

२—रिग-ब्येद-ब्शि=चारवेद। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अर्थवेद।

३—रिग-ग्नस्-ब्चो-ब्र्ग्यद=अष्टादशविद्या। अभिधर्मकोश के अनुसार १८ विद्याये हैं—गन्धर्व, वैशिकम, वार्त्ता, संख्या शब्द, चिकित्सा, नीति, शिल्प, धनुर्वेद, हेतु, योग, श्रुति, स्मृति, ज्योतिष, गणित, माया, पुराण और इतिहास। विनयागम और कोसलालंकार सूत्र तथा कालचक्र में भिन्न-भिन्न वर्णन उपलब्ध होते हैं।

सहित परिव्राजक के वेश में सोलह महानगरों में चारिका करते हुए (धीतिक ने) अनेक तीर्थिकों और ब्राह्मणों से ब्रह्मचर्य का मार्ग पूछा। लेकिन (किसी से) संतोषजनक उत्तर नहीं मिला। अंततः (उसने) मथुरा में आर्य उपगुप्त से पूछा। (उपगुप्त के प्रति उसको) विशेषरूप से श्रद्धा हुई और (उसने उनसे) प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा ग्रहण की। उपगुप्त ने सात अववाद[1] की देशना की, तो एक सप्ताह में ५०० ब्राह्मणों ने अर्हत्व को प्राप्त किया और आर्य धीतिक आठविमोक्ष[2] पर ध्यानस्थ हो गये। उन्होंने देश-देश के अनेक प्रमुख ब्राह्मणों को बुद्धशासन का परम श्रद्धालू बनाया जब आर्य उपगुप्त ने शासन (आर्य धीतिक को) सौंपा तब (धीतिक ने) छः नगरों में चतुर्विध परिषदों को उपदेश दिया, बुद्धशासन को सुविकसित किया (और) सभी सत्वों को सुख पहुंचाया। एक समय तुखार देश में मिनर नामक राजा रहता था। उस देश के सब निवासी आकाश देवता की पूजा करते थे। सिवाय इसके (उन्हें) पाप और पुण्य का ज्ञान तक नहीं था। वे लोग पर्व के अवसर पर अनाज, वस्त्र, बहुमूल्य और अनेक सुगन्धित लकड़ियां जलाकर (उनके) धुएं से आकाश (देवता) की पूजा करते थे। उनके पूजास्थल पर आर्य धीतिक ५०० अर्हत् अनुचरों के साथ आकाश मार्ग से गमन कर विराजमान हुए। उन लोगों ने भी आकाश के देवता समझकर (आर्यधीतिक के) चरणों में प्रणाम कर (उनकी) महती पूजा की और (आर्य ने) धर्मोपदेश किया। फलतः राजा आदि सहस्र व्यक्तियों ने सत्य के दर्शन पाये। अपरिमित व्यक्तियों को (त्रि) शरणगमन[3] और शिक्षापद[4] में स्थापित किया गया। बरसात के तीन मास वहां रहने पर भिक्षुओं की भी (संख्या) प्रचुर मात्र में बढ़ गई। अर्हत् (पद) को प्राप्त करनेवाले भी लगभग एक हजार हुए। उसके बाद उस देश और काश्मीर के बीच आवागमन की (काफी) सुविधा हो गई और काश्मीर के अनेक स्थविरों के वहां पहुंचने से (बुद्ध) शासन का विपुल प्रसार हुआ। राजा (मिनर) और उनके पुत्र इनके समय ही में लगभग ५० महाविहारों (की स्थापना हुई जिनमें) असंख्य (भिक्षु) संघ वास करते थे।

फिर पूर्वदिशा के कामरूप में सिद्ध नामक ब्राह्मण (रहता था)। (वह) महाराजाओं के समकक्ष भोगवाला था और हजारों अनुचरों के साथ सूर्य की पूजा करने में उद्यत रहता था। किसी समय वह सूर्य की पूजा कर रहा था, तो आर्य धीतिक ने सूर्य-मंडल के बीच से उतरते हुए (ऐसा) चमत्कार दिखाया (और) अनेक किरणें फैलाते हुए (उसके) समक्ष विराजमान हुए। उसने भी सूर्य (ही) समझ कर (उनकी) पूजा-वन्दना की। (आर्य धीतिक के) धर्मोपदेश देने से जब (उसको) महती श्रद्धा उत्पन्न हुई आर्य ने अपना शरीर प्रकट किया। फिर से धर्मोपदेश देने पर उस ब्राह्मण ने सत्य के दर्शन पाये और अत्यन्त श्रद्धापूर्वक (उसने) महाचैत्य नामक विहार बनवाया। वहां (उसने) चारों दिशाओं के (भिक्षु-) संघ के लिये महोत्सव का भी आयोजन किया और कामरूपदेश में बुद्धशासन का विपुल प्रचार किया।

१—ग्दमस्-प-नॅस-ब्दुन=सप्तविध अववाद। द्र० बोधिसत्व भूमि।

२—र्नम-थर-ब्र्ग्यद=आठविमोक्ष। द्र० कोश ८, श्लोक ३२।

३—स्क्यब्स्-सु-ह्ग्रो-ब-शरणगमन। बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में जाना।

४—ब्स्लब-पहि-ग्नस्=शिक्षापद। पंचशील आदि सदाचार-नियम।

उन दिनों पश्चिम मालवा में अर्दर्थ नामक ब्राह्मण निर्नुकुट (राजा के रूप में) राज्य करता था। वह प्रतिदिन एक-एक हजार बकरों का वध कराकर (उनके) रक्त-मांस से हवन कराता था। उसके एक हजार यज्ञ-कुण्ड थे। (वह) अपने सभी ब्राह्मण अनुयायियों से अपनी-अपनी सम्पत्ति के अनुकूल अजमेध का हवन कराता (और) अब्राह्मणों से भी यज्ञ की सामग्री जुटवाता था। किसी समय उसने गोमेध कराने की इच्छा से भार्गव जाति के भृकुराक्षस नामक ऋषि को आमंत्रित किया। १०,००० उजली गायों का संग्रह किया गया। संबहुल ब्राह्मणों को निमंत्रण दिया गया। दान के अन्य बहुत से सामान भी सजाकर (जब वह) यज्ञ प्रारम्भ करने लगा, आर्य धीतिक हविर्भू पर आ पहुंचे। (फलतः) वहां किसी भी उपाय से न अग्निका प्रज्वलन किया जा सका, न गौ का वध किया जा सका, न उन्हें घायल किया जा सका (और) न ब्राह्मण के वेद एवं वेद-मंत्रों का पाठ करने पर भी (उनका) उच्चारण (ही) हो सका। इस पर भृकुराक्षस ने कहा कि इस श्रमण के प्रभाव से यज्ञ में विघ्न पड़ा है। सभी के द्वारा उन पर पत्थर, लाठी और धूल फेंकने पर (वे सब) पुष्प और चन्दन-चूर्ण में परिणत होते नजर आये तो उनलोगों ने श्रद्धासे (उनके) चरणों में प्रणाम कर क्षमा याचना की (और) कहा--

"आर्य, क्या आज्ञा देते हैं?"

हे ब्राह्मणो! (इन जीवों को) छोड़ दो। इस पापपूर्ण (और) दुष्टतापूर्ण यज्ञ से क्या (प्रयोजन)? (इसके बदले) दान करो, पुण्य कमाओ। हम ब्राह्मणकुल के देवता हैं (और) अग्निक्रिया करनेवाले हैं, फिर देवता और माता-पिता की हत्या करने से क्या (परिणाम) होगा? अपवित्र गौमांस ब्राह्मण तक के लिये अस्पृश्य है, फिर देवताओं को (तो) अवश्य ही तृप्ति नहीं होगी। ऋषियो! इस पाप-धर्म का परित्याग करो। मांस भक्षण की लालच में आकर (दी गई) इस आहुति से तुम्हें क्या होगा? माया द्वारा पोषित करने का (मार्ग) दर्शानेवाले वेद-मंत्र से लोक ने धोखा खाया है।"

इत्यादि (आर्यद्वारा) सविस्तर धर्मोपदेश देने पर वे (अपने) पापकर्म पर पश्चाताप करते हुए अपने आचार पर लज्जित होने के कारण मुंह नीचा कर विनम्रता पूर्वक पाप शान्त होने का उपाय पूछने लगे। आर्य के निर्देशानुसार उन सभी ब्राह्मणों ने इसका उपाय--शरणगमन और पंचशील[1] ग्रहण किया। गृहपति घोषवन्त के आराम के अवशेष पर (एक) महाविहार बनवाकर (वह) वस्तु से होनेवाले सात पुण्य (अर्जन) में उद्योग करने लगे। इस प्रकार (आर्य ने) उस देश में शासन का विशेषरूप से विकास किया। उस समय के आसपास अशोक के पैदा हुए अधिक समय नहीं हुआ था। उन (ब्राह्मणों) के पश्चात् क्रमशः

१--ब्स्लब-पइ-गनस्-लं ङ=पंचशील। अहिंसा, अस्तेय, काम-मिथ्याचार का त्याग, असत्य और मादक पदार्थों का त्याग।

लगभग ५०० ब्राह्मणों को (त्रि) रत्न का भक्त बना, दीर्घकाल तक बुद्धशासन का परिपालन कर, प्राणियों का उपकार कर (और फिर) आर्य काल को शासन सौंपकर (आर्य धीतिक) मालव देश के अन्तर्गत उज्जैन देश में निर्वाण को प्राप्त हुए। आर्य धीतिक कालीन पांचवीं कथा (समाप्त)।

(६) राजा अशोक की जीवनी (२७२—२३२ ई० पू०)।

उस समय राजा अशोक कौमार्यावस्था में था। इसका जीवन-वृत्त (इस प्रकार) है—चम्पारण्य देश में नेमीत नामक सूर्यवंशीय राजा ५०० अमात्यों के साथ उत्तर दिशा के प्रदेश पर शासन करता था। वह महान् ऐश्वर्यशाली था। उसके पहले छः पुत्र थे—लक्ष्मण, रथिक शंखिक, धनिक, पद्मक और अनूप। किसी समय एक सेठ की पत्नी का राजा के साथ संयोग होने के फलस्वरूप (वह) गर्भवती हो गई। किसी समय राजा की मा की मृत्यु से (शोकातुर लोगों का) शोक निवृत्त होने के दिन सेठ की पत्नी ने (एक) शिशु प्रसव किया। अतः लोगों ने कहा) "(शिशु के) शोक-निवृति के दिन पैदा होने से इसका नाम अशोक रखा जाय" कह ऐसा (नाम) रखा गया। सयाना होने पर जब (वह) ६० कलाओं[१], ८ परीक्षणों[२], लिपि, गणित इत्यादि में निष्णात हो गया तब लोगों के बीच किसी नैमित्तिक ब्राह्मण से मन्त्रियों ने पूछा—"कौन सा राज कुमार राज्य करेगा?" (उसने बताया) 'जो उत्तम भोजन करता है, उत्तम वस्त्र धारण करता है (और) उत्तम आसन पर बैठता है (वह राज्य करेगा)"। दो मुख्य मन्त्रियों द्वारा गुप्तरूप से (इसका अर्थ) पूछने पर (उसने) बताया—

"आहारों मे उत्तम ओदन, वस्त्रों में उत्तम मोटे सूती कपड़े (और) आसनों में उत्तम पृथ्वी है।" (उन मंत्रियों ने) समझ लिया कि अन्य राजकुमार सम्पन्नशाली (और) वैभवशाली हैं और अशोक ही इन साधारण भोजन-वस्त्र का उपयोग करता है, इसलिये वह (अशोक) राजा बनेगा। इस बीच नेपाल और खसिया आदि के पहाड़ी (निवासियों) ने (देश) विद्रोह कर दिया। उनके दमन के लिये अशोक को सेना के साथ भेजा गया, तो (उसने) बिना कठिनाई के पहाड़ी लोगों को पराजित किया (और उनसे) वार्षिक-कर वसूल कर राजा को दिया। (इस पर) राजा (प्रसन्न होकर) बोला--

"तुम्हारी बुद्धि, बल और वीरता से मैं प्रसन्न हूं। इसलिये (तुम्हें) जो इच्छा हो (वह) दिया जायगा।"

"यहां मुझे दूसरे भाई लोग कष्ट देते हैं, अतः मैं अपनी सभी अभिलाषित वस्तुओं के साथ पाटलिपुत्र[३] नगर (में रहना) चाहता हूं।"

(राजा ने पाटलिपुत्र) दे दिया और उस नगर में ५०० उद्यान बनवाए। एक हजार गाने-बजानेवाली स्त्रियों से घिरा (वह) रात-दिन कामगुणों[४] में रमने लगा। तत्पश्चात् मगध देश का राजा चमस कालातीत हो गया। उसके बारह पुत्र थे। (उनमें से)

१—स्यु-चेल-द्रुग-चु=साठ कलाएं। द्र० महाव्युत्पत्ति पृ० ३२८।

२—व्र्तंग-प-व्र्ग्यद आठ परीक्षण। रत्नपरीक्षा, भूमिपरीक्षा, वस्त्रपरीक्षा, वृक्षपरीक्षा हस्तिपरीक्षा, अश्वपरीक्षा, स्त्रीपरीक्षा और पुरुषपरीक्षा। विनयवस्तु-प्रव्रज्यावस्तु, पृ० ४, क० ४१।

३—वर्तमान पटना।

४—ह्दोद-योन=कामगुण। रूप, शब्द, गंध, रस और स्पर्श को पंचकामगुण कहते हैं।

कतिपय सिंहासन पर बैठाए गए, पर (कोई) राज्य न कर सका। गम्भीरशील नामक एक ब्राह्मणकुल के मंत्री ने कुछ वर्षों तक राज्य किया। उस समय राजा नेमीत और उन दोनों में शत्रुता हो जाने के कारण गंगा के तट पर चिरकाल तक वे संग्राम करते रहे। राजा के छः ज्येष्ठ पुत्र संग्राम में शामिल हुए। लगभग उसी समय राजा नेमीत भी कालातीत हो गया। राजा की मृत्यु की बात प्रकाशित की जाय तो मगधवालों की शक्ति बढ़ जायगी (यह) सोच (इस बात को) गुप्त रख, राजकाज को स्वयं दोनों मंत्रियों ने संभाला। एक सप्ताह के बाद नगरवासियों को इसका पता चला (और उन्होंने) उन दोनों अमात्यों की आज्ञा भंग की। उस समय पहले ब्राह्मण द्वारा की गई भविष्यवाणी का समय यही है सोच (मंत्रियों ने) अशोक को बुलाकर सिंहासन पर रखा। जिस दिन राजा (नेमीत) के छः पुत्रों ने मगधवासियों पर विजय प्राप्त कर छः नगरों को हथिया लिया (उसी दिन) अशोक सिंहासनारूढ़ हुआ है यह (सूचना) पाकर, पांच-पांच सौ मंत्रि-परिषद् के साथ गंगा की उत्तरदिशा में राजगृह, अंग आदि छः नगरों में आगे चलकर प्रत्येक राजकुमार ने राज्य किया। प्रथम राजकुमार लोकायत[1] के रहस्य पर विश्वास रखता था। द्वितीय महादेव का भक्त था। तृतीय विष्णु, चतुर्थ वेदान्त, पंचम निर्ग्रन्थ[2] पिंगल (और) षष्ट (राजकुमार) कुशपुत्र नामक ब्राह्मण के ब्रह्मचर्य में विश्वास रखता था। उन (राजकुमारों) ने अपनी-अपनी संस्थाएं बनवायीं। भृगु जाति के ऋषियों के, जो डाकिनियों और राक्षसों की पूजा करनेवाले थे, वचन पर विश्वास कर अशोक उमादेवी और मसानियों को देवता मानता था। तब कुछ वर्षों तक कामगुणों में विलास करता रहा, इसलिये (उसका नाम) कामाशोक कहलाया। तब किसी समय (उसका अपने) भाइयों के साथ वैमनस्य हो गया (और वह भाइयों के साथ) कई वर्षों तक संघर्ष छेड़ता रहा। अन्त में (उसने अपने) छः भाइयों की पांच सौ मंत्रियों के साथ हत्या कर दी। और भी अनेक नगरों को नष्ट कर हिमाचल और विन्ध्याचल तक के सभी देशों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। (वह) अतिप्रचण्ड होने के कारण बिना दण्डकर्म किए चैन से भोजन नहीं करता था। दिन के प्रारम्भ में वध कराने, बंधवाने, मरवाने इत्यादि दण्डकर्मों का आदेश देकर उसके बाद चैन की सांस लेकर भोजन करता था। इस प्रकार राजा (अशोक) के युद्ध संबंधी अनेकानेक कथाएं हैं, लेकिन प्रयोजन नहीं होने से (उनका) उल्लेख नहीं किया गया। ऐसा क्षेमेन्द्र भद्र का कहना है। (हमने) कुछ भारतीय श्रुति परम्परागत कथाएं सुनी थीं, पर (उनका भी) उल्लेख यहां नहीं किया गया है। उन दिनों मिथ्यादृष्टिवाले ब्राह्मणों के प्रोत्साहित करने से (अशोक) बलिदान करने में प्रयत्नशील रहता था। विशेषतः भृगु जाति के गोकर्ण नामक ऋषि ने बताया था कि दस हजार मनुष्यों का वध कर यज्ञ करने से राज्य का विस्तार होगा (तथा) यह मोक्ष प्राप्ति का कारण बनेगा। (अशोक ने) यज्ञशाला बनवायी (और) दस हजार मनुष्यों की हत्या कर सकनेवाले (आदमी) की सर्वत्र खोज-ढूंढ़ करायी, पर कुछ समय तक (ऐसा आदमी) नहीं मिला। अन्त में गिरहुत में एक चाण्डाल मिला। (उसको बताया गया कि—) 'जो वध करने के योग्य हों (उन) सभी को यज्ञशाला में भेजें और जब तक दस हजार (की संख्या पूरी) न हो जाय तब तक उस (यज्ञशाला) में आनेवाले हर (आदमी) को मारता जाये। यही उमादेवी की पूजा करने का प्रण है।' ऐसा कह राजा ने प्रतिज्ञा की। इस रीति से एक या दो हजार व्यक्तियों की हत्या करने

१—ह्जिग-र्तेन-ग्यंड-फन-प = लोकायत। पूर्वापरजन्म पाप-पुण्य आदि को न मानने वाला।

२—ग्चेर-बु-व-ग्सेर-चन = निर्ग्रन्थ पिंगल। जैनसाधुदिगंबर।

के बाद वह हत्यारा नगर के बाहर जा रहा था, तो किसी भिक्षु ने (इस) दुराचार से हटाने की आशा कर (उसको) प्राणातिपात[1] का दोष (एवं) विभिन्न नारकीय कथाएं सुनाई। (लेकिन उस हत्यारे में) कुशलमूल[2] का जागरण न हो सका (और) उस हत्यारे ने सोचा—"पहले (मैंने) मनुष्यों का शीर्षच्छेद कर वध किया था। अब इस भिक्षु की कथा से जो सुना है वैसा ही जलाने, काटने, खाल उतारने इत्यादि विभिन्न (ढंग) से वध करूँगा।" इस रीति से (उसने) उस यज्ञशाला में लगभग ५,००० मनुष्यों का वद्ध किया। उस समय (राजा का) पूर्ववर्ती नाम बदल गया और व चण्डाशोक कहलाया। उस समय यश अर्हत् के एक शिष्य जो श्रामणेर[3], बहुश्रुत और प्रयोगमार्ग[4] पर आरूढ़ थे रास्ते का पता नहीं जानने से यज्ञशाला में पहुँचे हत्यारे ने (उन पर) तलवार से प्रहार करने का प्रयास किया तो (उन्होंने इनका) कारण पूछा। उसने पहले की बात कही तो (उन्होंने) कहा—"अच्छा, तो एक सप्ताह बाद (मुझे) मार डालना। तब तक मैं कहीं नहीं जाऊंगा, इसी यज्ञशाला में रहूंगा।" घातक ने भी मंजूर कर लिया। उन (श्रामणेर) ने यज्ञशाला को रुधिर-मांस, हड्डियों (और) अंतड़ियों से परिपूर्ण देखने के कारण अनित्य आदि १६ प्रकार के सत्य[5] का साक्षात्कार किया (और) एक सप्ताह के पूर्व ही अर्हत्व प्राप्त कर ऋद्धि भी सिद्ध कर ली। एक सप्ताह के बीतने पर (चाण्डाल ने) मन ही मन में कहा—"पहले इस शाला में ऐसे वेशधारी (व्यक्ति) का आगमन नहीं हुआ, अतः अपूर्व तरीके से (इसका) वध करूँगा।" कह तिल के तेल से भरे एक विशाल पात्र में श्रामणेर को डाल, आग पर चढ़ाकर जलाया। (लेकिन) रात-दिन आग जलने पर भी उनके शरीर में तनिक भी क्षति नहीं पहुँची। राजा को सूचित किया गया तो वह विस्मित हो यह देखने के लिये यज्ञशाला में पहुंचा। वही चाण्डाल तलवार लेकर (राजा की ओर) दौड़ा। राजा ने कारण पूछा तो (उसने कहा—) "यह तो स्वयं राजा की प्रतिज्ञा है (अतः) जब तक दस हजार मनुष्यों (की संख्या पूरी) न हो जाय तब तक इस शाला में कदम रखने वाले हर (आदमी) को मार डालूंगा।" राजा ने कहा—"तब तो मेरे आने से पहले तुम खुद यहाँ आये हो, इसलिये (मैं तुम्हारी) हत्या पहले कर डालूंगा।" और दोनों में मुठभेड़ होने लगी, तो उस श्रामणेर ने पानी बरसाने, बिजली चमकाने, आकाश में गमन करने इत्यादि का चमत्कार दिखलाया फलतः राजा और चाण्डाल दोनों की उन पर विशेषरूप से श्रद्धा उत्पन्न हुई और (श्रामणेर) के चरणों में प्रणाम करने पर (दोनों में) बोधिरूपी बीज अंकुरित हो गया। तब उन (श्रामणेर) के धर्मोपदेश देने पर राजा ने (अपने किये) पाप-कर्मों पर अत्यन्त पश्चाताप कर यज्ञशाला को वहीं तोड़वा दिया। (राजा ने) पाप शोधन के लिये श्रामणेर से (अपने यहां)

१—स्रोग-ग्चोद = प्राणतिपात। प्राणीहिंसा।

२—द्गे-बड़ि-र्व-ब = कुशलमूल। अलोभ, अद्वेष, अमोह को कुशलमूल कहते हैं।

३—द्गे-छुल = श्रामणेर। प्रव्रजित हो, जीवहिंसा आदि से विरत रहने इत्यादि मुख्यतः ३६ पालनीय धर्मों का पालन करनेवाले को श्रामनेर कहते हैं।

४—स्योर-लम् = प्रयोगमार्ग। द्र० कोश ५, ६१

५—ब्देन-पहि-र्नम-प-ब्चु-द्रुग = १६ प्रकार के सत्य। दुःखसत्य, दुःखसमुदय सत्य, दुःख-निरोध सत्य, दुःख-निरोध-गामिनी-प्रतिपद्-सत्य को चार-चार भागों में बाँटने से १६ प्रकार के सत्य होते हैं।

ठहरने का अनुरोध किया, तो (उन्होंने) व्याकरण किया—"(हे) राजन, मैं आपके पापशोधन का उपाय बताने में असमर्थ हूँ। अत: पूर्व दिशा में (अवस्थित) कुक्कुटाराम में पण्डित यशोध्वज नामक अर्हत् रहते हैं जो आपका पापशोधन करेंगे!" तदनुसार राजा ने भी अर्हत् के पास सन्देश भेजा- –"आर्य, (आप) पाटलिपुत्र आकर मेरे पाप का शोधन करें। यदि आर्य यहां नहीं आयेंगे, तो मैं वहां आ रहा हूँ।" राजा के यहां आने से बहुत लोगों को कष्ट होगा (यह) जान, अर्हत् यश स्वयं पाटलिपुत्र जा, प्रतिदिन राजा को धर्मोपदेश देते (और) प्रतिरात्रि विहार में जाकर चतुर्विध परिषदों को उपदेश देते थे। जब से अर्हत् यश के दर्शन मिले तब से राजा को (धर्म में) बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हुई और रात-दिन शुभकर्मों के सम्पादन में ही समय बिताने लगा। प्रतिदिन तीस-तीस हजार भिक्षुओं का सत्कार करता था। इस बीच जब अर्हत् यश मगध आदि अन्य देशों में विहार कर रहे थे राजा ने पांच सौ व्यापारियों को रत्नद्वीप से मणि लाने के लिये भेजा। वे (व्यापारी) नाना रत्नों से जलयान को भरकर लौटे (और जब) समुद्र के इस पार विश्राम कर रहे थे, तो नागों द्वारा समुद्री लहरों को उभाड़ने से सारा माल समुद्र में बह गया। तब वे लोग अपनी जीविका दूसरे पर निर्भर करते धीरे-धीरे लौटे और प्राय: एक सप्ताह के बाद (उन) व्यापारियों के पाटलिपुत्र पहुँचने की खबर फैली। उन (नागरिकों) ने (व्यापारियों के साथ) किस तरह की घटना घटी (यह) खबर नहीं सुनी थी, इसलिये ब्राह्मण, परिव्राजक और अपार जनसमूह एकत्र हुए। रत्नों के वर्ण और असाधारण गुणों को देखने के लिये सातवें दिन राजा (अशोक) जन-समूह के साथ उद्यान में गया तो व्यापारी लोग सिर्फ एक-एक गंजी पहने हुए दीनतापूर्वक आ रहे थे। जनसमूह ने उनका खूब मजाक उड़ाया और लौट गया। राजा ने कारण पूछा तो व्यापारियों ने (आप बीती) कहानी सुनाई। (व्यापारियों ने राजा को) प्रेरित किया—"(हे) राजन! (आप) फिर से नागों को दमन कर अपने अधीन नहीं करेंगे, तो भविष्य में रत्न लाने के लिये कोई भी उत्साहित नहीं होगा। अत: आप (कोई) उपाय करें, तो उचित होगा।" इस पर चिन्तित हो, राजा ने विज्ञों से उपाय पूछा, तो ब्राह्मण, परिव्राजक आदि (कोई) नहीं बता सका। वहां षडभिज्ञ[1] एक अर्हत् को विचार हुआ "इसका उपाय देवता द्वारा बताया जायगा। यदि मैं बताऊँगा तो यह भिक्षुओं का पक्ष लेता है सोच राजा को सन्देह उत्पन्न होगा और तैर्थिक भी (मेरी) निन्दा करने लगेंगे।" (यह) सोच (अर्हत् ने राजा से) कहा—

> "महाराज! इसका उपाय तो जरूर ही है। अत: आज रात को गृह देवता (इसका उपाय) बताएगा।"

तब प्रात:काल घर के (ऊपर) आकाश में स्थित देवता ने कहा—

> "(हे) राजन! (आप) बुद्ध की महती पूजा करें (जिससे) नागों का दमन हो।"

तब धरती पर रहनेवाले देवता ने कहा—

> "(हे) राजन! अर्हत् संघ की पूजा करें जिससे (नागों का) दमन होगा।"

प्रात:काल (राजा ने) सभी जन समुदाय को एकत्र कर देवता की आकाशवाणी सुनाकर पूछा—"यह कैसे किया जाना चाहिए?" मंत्रियों ने कहा "कल आकाशवाणी करनेवाले

१—मङोन-शेस्-द्रुग-ल्दन=षडभिज्ञ। दिव्यचक्षु, दिव्य श्रोत, परचित्त-ज्ञान, पूर्व-निवासानुस्मृति-ज्ञान, ऋद्धि-विधि-ज्ञान और आस्रव-क्षय-ज्ञान।

अर्हत् से ही पूछा जाय।" उन (अर्हत) को आमंत्रित कर पूछे जाने पर (उन्होंने कहा—'(ऐसा) उपाय किया जाना चाहिए जिससे लोगों को विश्वास हो।" यह कह राजा अशोक का (एक) आदेश (नागों के पास भिजवाया जिसमें लिखा गया—'हे!) नागो! सुनो, इत्यादि से लेकर व्यापारियों द्वारा लाये गये रत्नों को फिर व्यापारियों को (लौटा) दो।" यह पत्र ताम्रपत्र पर अंकित कर गंगा में छोड़ा गया। नगर के चौरस्ते पर (एक) अत्युच्च पाषाण-स्तम्भ के शिखर पर अष्टधातु के पत्र में राजा और नाग की एक-एक स्वर्ण निर्मित मूर्ति रखी गयी। उसके प्रातःकाल देखने पर नागों ने कुपित हो भीषण आंधी के साथ ताम्रपत्र को महल के फाटक पर फेंक दिया था। राजा की वह मूर्ति नाग को प्रणाम करती हुई मुद्रा में थी। राजा ने अर्हत् से पूछा तो (उन्होंने राजा को) यह कहकर प्रेरित किया—'अभी नाग अधिक पुण्यवान हैं, इसलिये राजन! आप अपने पुण्य की वृद्धि के लिये बुद्ध और संघ की पूजा करें।" (राजा ने) मूर्ति और चैत्य की पूजा पूर्वाज्ञा सातगुनी की। अर्हत् ने देव, नाग आदि के देशों में क्षण भर में जा सब अर्हतों को सूचित किया। राजा ने (धार्मिक) उत्सव के लिये (एक) विशाल भवन का निर्माण कराया। उस अर्हत् के घण्टी बजाने पर सुमेरु[1] और (उसकी) परिसीमा तक के रहने वाले सम्पूर्ण अर्हत् एकत्र हुए। (राजा ने) ६० हजार अर्हत् परिषद् की तीन मास तक सभी सामग्रियों से अर्चना की। उस समय दिनानुदिन राजा की मूर्ति सीधी होती गयी और ४५ दिनों में राजा और नाग की मूर्ति बराबर खड़ी हो गई। तब दिनानुदिन नाग की मूर्ति अधिक झुकती गई। फिर ४५ दिनों में नाग की प्रतिमा राजा की प्रतिमा के चरणों में प्रणाम करने लगी। सभी लोग (त्रि) रत्न के प्रति की गई पूजा का पुण्य (प्रताप) ऐसा होता है कह बड़े आश्चर्यचकित हुए। तब पहले के ताम्रपत्र को गंगा में डाल दिया गया तो दूसरे दिन प्रातःकाल नाग का दूत मनुष्य का रूप धारण कर आ पहुँचा और बोला—'रत्नों को समुद्र के तट पर पहुँचाया गया है, अतः (आप) व्यापारियों को (उन्हें) लाने के लिये भेजें।" यह कहने पर जब राजा ऐसा (ही) करने लगा तो वहां के अर्हत् ने कहा, "(हे) राजन! यह तो (कोई) आश्चर्य (की बात) नहीं है। आश्चर्य तो (तब) होगा (जब आप उन्हें) सन्देश भेजें "तुमलोग सात दिनों में मणियों को (अपने) कंधे पर लादकर यहां पहुँचाओ (और वे) ऐसा करें।" (अर्हत् के) कथनानुसार करने पर सातवें दिन अपार जनसमूह से घिरे हुए राजा को, नागों ने व्यापारी के रूप में आकर मणियों को समर्पित किया (और) राजा के चरणों में (शीष) नवा, जनपुंज का मनोरंजन कर उसका महोत्सव भी मनाया। राजा द्वारा यक्षरथ[2] विद्यामंत्र की सिद्धि प्राप्त कर (लेने पर) हाथी के बराबर अश्व, तालवृक्ष के बराबर मनुष्य आदि यक्षों का अनेक चतुरंगिनी सेनाएं[3] प्रादुर्भूत हुईं (और) बिना क्षति पहुँचाए विन्ध्याचल के दक्षिण प्रदेश आदि अन्य सभी देशों को अपने अधीन कर लिया। उत्तर हिमालय, कंसदेश[4] के पीछे हिमालय, पूर्व, दक्षिण और पश्चिम समुद्र पर्यन्त जम्बूद्वीप के स्थानों और लगभग पचास द्वीपों पर अपना शासन चलाया। तत्पश्चात् अर्हत यश ने शास्ता सम्यक् सम्बुद्ध द्वारा की गई भविष्यवाणी की चर्चा कर तथागत के धातुगर्भित

१—रि-रब=सुमेरु। पर्वतराज।

२—ग्नोद-स्ब्यिन-शिङ-र्त=यक्षरथ। द्र० मंजुश्री मूलतंत्र, पृ० २६८, कं० ६।

३—द्पुङ-यन-लक-ब्शि-प=चतुरंगिनी सेना। हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सेना।

४—लि-युल=कंसदेश। सम्भवतः नेपाल या तुर्किस्तान।

स्तूपों से पृथ्वी को शोभित करने के लिये (राजा को) प्रोत्साहित किया। बुद्ध की धातु की आवश्यकता पड़ने पर राजगृह स्थित महास्तूप के नीचे छिपाये गये राजा अजातशत्रु के धातुहिस्से को निकालने के लिये राजा (अशोक) और अर्हत् यश जनसमूह के साथ वहां (राजगृह) गये और जमीन खोदवाने पर लगभग तीन खड़े मनुष्य (परिमाण की गहराई) तक चलने के बाद (एक) दहकता हुआ लोहे का चक्र वेग से घूम रहा था जिसके कारण (धातु) ग्रहण करने की गुंजाइश नहीं हुई। उस समय किसी ग्रामीण वृद्धा ने (इसका) उपाय बताकर उसी स्थान से लगभग तीन योजन पश्चिम की ओर स्थित एक पर्वत चरण से बहते हुए पानी को मोड़कर (उक्त स्थल पर पहुंचाये जाने के) फलस्वरूप चक्र का घूमना रुक गया और आग बुझ गई। फिर खुदाई करने पर (एक) ताम्र-पत्र पर "यहां मगध का बड़ा द्रोण[1] भर तथागत की धातु (सुरक्षित है) (जिसे) भविष्य में कोई एक गरीब राजा निकाल लेगा।" ऐसा अंकित किया हुआ देखा तो (राजा) अशोक अभिमानवश बोल उठा—"इसको निकालनेवाला मैं नहीं हूं, क्योंकि गरीब ही (लिखा हुआ) होने से कोई दूसरा होगा।" कह (वह) पीछे की ओर मुड़कर बैठा। फिर अर्हत् यश ने प्रेरित किया। अंत में खड़े-खड़े सात व्यक्तियों (के माप की गहराई) तक खोदवाये जाने पर लोहे आदि की सात पेटिकाएं (निकलीं और) क्रमश: खोलवाये जाने पर मध्यवर्ती (पेटिका) में पहले मगध के एक बड़े द्रोण भर शास्ता की धातु जो बढ़कर लगभग १२० द्रोणों के परिमाण तक हो गई थी सुरक्षित थी। प्रत्येक पेटिका के कोने में एक-एक स्वप्रकाशमान मणिरत्न जो पूजोपकरण के रूप में रखा गया था एक योजन तक प्रकाश फैलाता था। प्रत्येक मणि का मूल्यांकन राजा अशोक के राज्य की सारी सम्पत्तियों से भी नहीं किया जा सकता है यह जान राजा का अभिमान चूर हो गया। उस में से एक बड़े द्रोण भर बहुमूल्य धातु ग्रहण कर फिर पूर्ववत् छिपाकर रखी गयी और (उस पर) लोहे का चक्र भी स्थापित किया गया। पानी को भी पूर्ववत् प्रवाहित किये जाने पर आग पहले की तरह जलने से (चक्र) घूमने लगा (और) बाद में (गड्ढे को) मिट्टी से पाट दिया गया। तब (राजा ने) विभिन्न देशों के लोगों को आज्ञा दी। इस कर्म और कार्य की सहायता शक्तिशाली यक्षों ने की। आठ महातीर्थों[2] के स्तूप, वज्रासन[3] के मध्यवर्ती प्रदक्षिणापथ तथा और भी उत्तर दिशा में कांस्यदेश[4] (की सीमा) तक के जम्बूद्वीप के सभी देशों में मुनि के धातु गर्भित स्तूपों का निर्माण कराया। (इस प्रकार, यक्षों की सहायता से) २४ घंटों में ८०,००० स्तूपों (का निर्माण) सम्पन्न हुआ। तब सब देशों को आदेश देकर (राजा) सब स्तूपों की प्रतिदिन एक-एक हजार दीप, धूपबत्ती और पुष्प-मालाओं से अर्चना करता था। स्वर्ण, रजत और वैदूर्य के १०,००० कलशों को सुगन्धित जल और पंचामृत[5] से परिपूर्ण कर बोधिवृक्ष की पूजा की जाती थी। दूर से दस हजार धूपबत्तियों और दीपों से पूजा की जाती थी। वहां ६०,००० अर्हतों को आमंत्रित कर, पाटलिपुत्र के ऊपर आकाश में बैठाकर, सब

१—ब्रे-बो-छे=महाद्रोण। एक द्रोण ६४ मुट्ठियों के बराबर।

२—ग्नस्-छेन-पो-ब्र्ग्यद=आठ महातीर्थ। लुम्बिनी, वज्रासन, वाराणसी, कुशीनगर, नालन्दा, श्रावस्ती, संकिस्सा, राजगृह को आठ महातीर्थ कहते हैं।

३—दोंर्-जें-ग्दन=वज्रासन। बोधगया को कहते हैं।

४—लि-युल=कांस्य या कंस देश। नेपाल को कहते हैं।

५—ब्दुद-र्चि-ल्ङ=पंचामृत। दूध, दही, घी, चीनी और मधु।

साधनों से तीन महीनों तक (उनकी) पूजा की गई। आर्य शैक्ष्यों और पृथग्जन-संघों की पूजा धरती पर की गई। अंत में प्रत्येक भिक्षु को एक-एक लाख (रुपये) के योग्य चीवर दान दिया गया। उस रात को स्तूपों के दर्शनार्थ राजा ने अपने अनुचरों के साथ शक्तिशाली यक्षों के कंधों पर सवार हो, सात दिनों में जम्बूद्वीप के सब स्थानों के त्रिरत्न के सम्पूर्ण स्तूपों की परिक्रमा की (और स्तूपों की) पूजा साधारण पूजा से दस गुना बढ़कर (की)। बुद्ध और श्रावकों[1] के सभी स्तूपों को एक-एक स्वर्णाभूषण समर्पण किया। बोधिवृक्ष को सब रत्नों से विशेषरूप से अलंकृत किया। आठवें दिन (राजा ने) अपने इस कुशलमूल से (समस्तप्राणी) नरोत्तम बुद्ध को प्राप्त हों कह बार-बार प्रणिधान[2] किया और जनसमूह से कहा कि वह प्रसन्नतापूर्वक (इस पुण्यकार्य का) अनुमोदन करे। यह कहने पर बहुत-से लोगों ने कहा--

"राजा का यह प्रयास बहुकृत्य होने पर भी अल्प साफल्य का है, (क्योंकि) अनुत्तर बोधि नाम का अस्तित्व ही नहीं है, फिर राजा का यह प्रणिधान निश्चय ही पूरा न होगा।"

"यदि मेरा यह प्रणिधान सिद्ध होगा, तो यह विराट् पृथ्वी कांप उठे, आकाश से पुष्प बरसें।"

यह कहते ही पृथ्वी कांप उठी और पुष्प की वर्षा हुई तथा वे लोग भी श्रद्धापूर्वक प्रणिधान करने लगे। स्तूपों के पुनरुद्धार के लिये (राजा ने) भिक्षुओं का तीन माह तक सत्कार किया और (पूजा) समाप्ति के दिन बहुत से पृथग्जन भिक्षु एकाएक आ पहुँचे। राजा ने उद्यान में बृहद् पूजा का आयोजन किया। उन (भिक्षुओं) के शीर्षासन पर बैठे हुए एक वृद्ध भिक्षु का विशेष रूप से सत्कार किया गया। वह स्थविर भिक्षु अल्पश्रुत, अत्यन्त मूर्ख, एक श्लोक तक का पाठ करने में असमर्थ था। उन तरुण भिक्षुओं में अनेक (त्रि) पिटकधारी भी थे। भोजनोपरान्त पंक्ति के अन्त में बैठे हुए (भिक्षुओं) ने स्थविर से पूछा--"क्या (आप) जानते हैं कि राजा द्वारा विशेषरूप से आपका सत्कार करने का क्या कारण है?" स्थविर ने कहा--"(मैं) नहीं जानता।" उन लोगों ने कहा--"यह हम जानते हैं। राजा तुरन्त (आप से) धर्म श्रवण करने की इच्छा से आयगा, आपको धर्मोपदेश देना होगा।" वह वृद्ध भिक्षु मर्मभेदी-सा हो गया (और) बोला--"मेरे उपसम्पन्न हुए ६० वर्ष बीत गये, पर (मैं) एक श्लोक तक नहीं जानता हूँ। यदि यह बात (मैं) पहले ही जान गया होता, तो उन सुभोजों को दूसरे भिक्षु को दान कर (एक) धर्म-भाणक खोज लेता। अब (मैं भोजन भी) कर चुका हूँ, अतः क्या करने से अच्छा होगा।" सोच (कर) अत्यन्त दुःखी हुआ। (उसकी इस दशा को देख) उस उद्यान में रहनेवाले (एक) देवता ने विचारा--"यदि राजा इस भिक्षु के प्रति अश्रद्धा करने लगेगा, तो अनुचित होगा।" सोच, निर्मित रूप में, उस भिक्षु के सामने आकर कहा--"राजा धर्म श्रवण करने के लिये आयगा, तो (राजा से यह कहना कि) महाराज, पहाड़ों सहित यह पृथ्वी भी नष्ट हो जायगी, तो आपके साम्राज्य की बात तो कहना ही क्या। (अतः) महाराज, यही चिन्तन करना (आपको) उचित है।" तब राजा एक सुनहरे रंग की पोशाक धारण किये धर्मोपदेश सुनने के लिये आ बैठा। (स्थविर ने) पूर्वोक्तानुसार कहा, तो श्रद्धालु होने से राजा ने (इस उपदेश पर) पूर्ण विश्वास कर लिया और रोमांचित

१--ञान-थोस् = श्रावक। बुद्ध का शिष्य।
२--स्मोन-लम = प्रणिधान। प्रार्थना।

हो, इसी अर्थ पर चिन्तन करने लगा। तब फिर, उद्यान के देवता ने वृद्ध भिक्षु से कहा—"स्थविर भिक्षु, आप श्रद्धालु के द्वारा प्रदत्त वस्तु को बरबाद न करें।" उस (भिक्षु) ने भी आश्चर्य से उपदेश ग्रहण कर एकाग्र (चित्त) से (ध्यान) भावना की। फलतः तीन मास में अर्हत्व को प्राप्त किया और त्रयस्त्रिंश (देव) लोक[1] के कोविदारवन में वर्षावास कर फिर पाटलिपुत्र के भिक्षु संघ और अनेक जनसमूहों के बीच में आ पहुँचा। राजा के दिये हुए वस्त्र पर कोविदारवृक्ष की सुगंध लगने से सब स्थानों में सुरभि फैलने लगा। वहां अन्य भिक्षुओं द्वारा (इसका) कारण पूछने पर उसने पूर्व कहानी सुनाई, जिससे सब आश्चर्य में पड़ गये। धीरे-धीरे यह बात राजा तक ने सुना और अतिमंद बुद्धिवाले भिक्षु तक ने धर्म के गुण और वह भी अपने वस्त्र दान के कारण अर्हत् पद प्राप्त किया है। तथा दान से परोपकार होने की अनुशंसा[2] को देख, (उसने) फिर से तीन लाख भिक्षुओं के लिये पांच वर्षों तक महोत्सव मनाया। सुबह के प्रथम पहर में अर्हतों, दूसरे (पहर) में आर्यशैक्ष्य और तीसरे (पहर) में पृथग्जन संघ को (उत्तम) भोज और उत्तम वस्त्र से आराधना की। तब राजा ने अपने जीवन के अन्त में अपरान्त, कश्मीर और तुखार के (भिक्षु) संघों को एक-एक करोड़ स्वर्ण दान करने की प्रतिज्ञा की। काश्मीर और तुखार के संघों को पूर्ण (एक-एक करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ और) अन्य सामान भी उसके बराबर भेंट किये। अपरान्त के संघों को (देने के लिये) चार लाख स्वर्ण और सामान की कमी हुई। इसी समय राजा सख्त बीमार पड़ गया। राजा का पोता वसुदेवदत्त ने, जो स्वर्ण भण्डार का भण्डारक था, राजा का आदेश भंगकर शेष स्वर्ण संघ को भेंट नहीं किया। उस समय राजा के पास अनेक अर्हत् पहुँचे और राजा ने, अपनी प्यास बुझाने के लिये जो आध मुट्ठी आंवला रखा था, वह अत्यन्त श्रद्धाभाव से संघ को भेंट किया। अर्हतों ने एक स्वर में (राजा की) प्रशंसा की (और कहा—) "राजन! पहले आपने सब अपने अधीन रहते समय जो ९६० करोड़ स्वर्ण दान दिये थे, उसकी अपेक्षा इस समय इस (आंवले) के दान करने में अधिक पुण्य है।" तब एक दासी (राजा पर) मणिदण्डिक चमर झल रही थी कि दिन में गरमी के कारण (उसे) झपकी आयी और चमर हाथ से छूटकर राजा की देह पर जा गिरा। (राजा ने सोचा—) "पहले बड़े-बड़े राजा महाराज तक पाद धुलाने आदि (मेरी सेवाएं) करते थे, अब ऐसी नीच दासी तक (मेरा) तिरस्कार करने लगी है।" यह सोच (वह) क्रोधपूर्ण भाव से कालातीत हुआ। क्रोधित होने के कारण वह पाटलिपुत्र स्थित एक सरोवर में नाग के रूप में (वह) पैदा हुआ। अर्हत् यश द्वारा इस धर्मराज का जन्म कहां हुआ है इसकी परीक्षा करने पर पता चला कि (वह) उस झील में नागयोनि में उत्पन्न हुआ है। अर्हत् झील के तट पर गये तो (वह) पूर्वजन्म के संस्कार से (प्रेरित हो) प्रसन्नतापूर्वक झील की सतह पर आकर अर्हत् के पास बैठा। जब वह पक्षी और जावों को खाने लगा, तो (अर्हत् ने कहा—) "महाराज! (आप) सावधान रहें!" इत्यादि धर्मोपदेश देने पर (उसने) वहीं आहार ग्रहण करना छोड़ दिया और कहा जाता है कि (वह) मरकर तुषित देवताओं[3] में पैदा हुआ। राजा ने अपने सभी शासित देशों में अनेक विहारों और धार्मिक संस्थाओं की स्थापना की, इसलिये

१—सुम-चु-र्च-सुम-ग्यि-ग्नस्=त्रयस्त्रिंश लोक। इन्द्रलोक। देवलोक।

२—फन-योन=अनुशंसा। गुण। उपयोगिता।

३—द्गह-ल्दन=तुषित। कहते हैं भावी बुद्ध मैत्रेय इसी देवलोक में हैं।

सर्वत्र बुद्ध शासन का प्रचार हुआ। जब से (राजा) बुद्धशासन के प्रति आस्थावान् हुआ तब से (उसका) पूर्ववर्ती नाम बदल कर वह धर्म अशोक या धर्माशोक कहलाया। जिस समय (राजा) अपरान्त के भिक्षुओं को सिर्फ ९६० करोड़ सुवर्ण दान कर सका, किसी बुद्धिमान मंत्री ने कहा—"राजन! इसका उपाय है। (आप अपना) सम्पूर्ण राज्य संघ को सौंप दें (क्योंकि) १०० कोटि स्वर्ण उसी (राज्य) में विद्यमान है।" इस कथन को सत्य जान (राजा ने) अपना राज्य संघ को समर्पित किया। राजा की पुण्य-वृद्धि के लिये संघ ने दो दिन राज्य का संचालन किया। (फिर) संघ को अपरिमित सुवर्ण और धन समर्पित कर, राज्य (वापस) ले, अशोक के पोता विगताशोक को राजगद्दी पर बैठाया गया। क्षेमेन्द्र भद्र कृत इतिहास में इसका वर्णन व्यवस्थित रूप में उपलब्ध होता है। श्रावकपिटक में सम्बन्धित नाम (अवदान) उपलब्ध होते हैं—अशोकावदान, अशोकदमनावदान, अशोक द्वारा नाग दमनावदान, स्तूपावदान, उत्सवावदान, स्वर्णार्पणावदान और कुनलावदान—(जिनमें से) द्वितीय और सप्तम का भोट भाषा में अनुवाद हुआ है। अन्य (शेष अवदानों) के मूल ग्रंथों को भी हमने देखा। स्वर्णार्पण आदि बहुत कुछ आख्यान कल्पलता में भी उपलब्ध होता है। राजा अशोक की जीवनी की छठीं कथा (समाप्त)।

(७) राजा अशोक की समकालीन कथाएं।

जब आर्यधीतिक आर्यकृष्ण को (बुद्ध) शासन सौंपने से पहले वर्षों बीमार पड़ गये थे और मालव देश के अन्तर्गत कौशाम्बी ही में विहार करते हुए चतुर्विध परिषद् को उपदेश देते थे (तब) वैशाली के भिक्षुओं (ने कहा—) "इस रोगग्रस्त स्थविर से (हमें) कौन-सी सम्यक् अनुशासनी मिलेगी।" कहकर (वे) उनके पास नहीं जाते थे। (और वे) दशनिषिद्ध वस्तुओं[1] का उपयोग करते हुए यही धर्म है, यही विनय है और यही बुद्ध का शासन है कह कर उनका प्रचार करते थे। अर्हत् यश आदि ७०० अर्हतों ने इनका खण्डन किया। कुसुमपुर नामक विहार में लिच्छवी जाति में उत्पन्न राम नाम के राजा के संरक्षण में द्वितीय संगीति का आयोजन किया गया। (उक्त) ७०० अर्हत्, छः नगरों का मोक्षाचार करने सम्बन्ध वैशाली के अन्तर्गत देशों के निवासी ही थे जो उभयतो-भाग-विमुक्त नरों और बहुश्रुत थे। अतः यह द्वितीय संगीति आंशिक संगीति है। इसका मूल वर्णन (विनय) क्षुद्रकागम[2] में उपलब्ध है जो अधिक (प्रामाणिक) है और

१—मि-रुङ-बइ-गृशि-ब्चु=दशनिषिद्धवस्तु। ये हैं—(१) 'अहो' कहकर चिल्लाना, (२) अनुमोदन करना, (३) जमीन खोदना और खोदवाना, (४) पवित्र लवण का उपयोग करना, (५) एक योजन या आधा योजन जा, इकट्ठे हो भोजन करना, (६) बिना बचे हुए भोजन को दो अंगुलियों से खाना, (७) जोंक की तरह सुरा को पीना (८) द्रोण भर दूध और द्रोण भर दही का मिश्रण कर अकाल में उपभोग करना, (९) पुराने आसन में तथागत के हाथ भर का पैवन लगाये बिना नये का उपभोग करना, (१०) गोलाकार, शुद्ध और व्यवहार में लाने लायक पिण्ड-पात्रों को सुगन्धित तेल लगाकर, सुगन्धित धूप से सुवासित इत्यादि कर उनका उपभोग करना। पालिग्रंथ, मूल सर्वास्तिवाद्, धर्मगुप्त, महीशासक आदि ने उक्त दस वस्तुओं की भिन्न-भिन्न व्याख्या की है।

२—लुङ-फ्रन-छेगस्=क्षुद्रकागम। क० ४४

प्रसिद्ध होने से यहां नहीं लिखा गया है। इस संगीति के इसी काल में निष्पन्न होने का उल्लेख भटघटी और क्षेमेन्द्र भद्र ने किया है। वर्तमान तिब्बती विनय में उल्लेख है कि शास्ता के निर्वाण के ११० वर्ष बीतने पर द्वितीय संगीति बुलाई गई थी जो (उक्त मत के) अनुकूल है। अतः, (हमें) अपने इसी मत को मानना चाहिए। कुछ अन्य निकायों के विनय में ऐसा भी उल्लेख किया गया प्रतीत होता है कि बुद्ध निर्वाण के २१० या २२० वर्ष बीतने पर द्वितीय परिषद् बुलाई गई थी। कुछ भारतीय इतिहासों में भी वर्णित है कि आर्य धीतिक आदि और (राजा) अशोक समकालीन थे और महा-सुदर्शन के निर्वाण तथा राजा अशोक के निधन के पश्चात् द्वितीय परिषद् बुलाई गई। इतिहासकार को क्षुद्रकागम में उक्त (इस) पद पर भ्रम हुआ है (जैसे), "उन्होंने महासुदर्शन को शासन सौंपकर महाराज परिनिर्वाण को प्राप्त हुए, तब शास्ता के निर्वाण हुए ११० वर्ष बीत गये इत्यादि।" संस्कृत भाषा में 'यदाचित्' (शब्द उसके) सहायक शब्द की दृष्टि से जब और तब दोनों में प्रयुक्त होता है। इस प्रसंग में जब या जिस समय के रूप में इसका भाषान्तर करना चाहिए। गुरु पण्डित का कहना है कि २२० वर्ष आदि का उल्लेख अर्द्ध वर्ष के (एक वर्ष) गिनने की दृष्टि से हुआ है, इस-लिये ११० वर्ष के उल्लेख से (यह) मतैक्य है। पण्डित इन्द्र दत्त कृत इतिहास में उल्लेख प्राप्त होता है कि बुद्ध निर्वाण के ५० वर्ष बीतने पर उपगुप्त का आविर्भाव हुआ और ११० वर्ष बीतने पर उत्तराधिकारियों की पीढ़ी समाप्त हुई। तत्पश्चात् अशोक का प्रादुर्भाव हुआ इत्यादि। (यह उल्लेख) न केवल (भगवान बुद्ध की) भविष्य वाणी से मेल खाता है (बल्कि इससे) भारत के प्रामाणिक इतिहासों का भी विरोध होता है। अतः, विद्वानों का कहना है कि (यह वर्णन देखने में) सुव्यवस्थित-सा प्रतीत होने पर भी विश्वसनीय नहीं है।

पूर्व दिशा के अंग नामक देश में एक धनी और अत्यन्त भोगशाली गृहपति रहता था। उसके घर में अपने कर्मानुभाव से प्रादुर्भूत एक वृक्ष था जिस पर से रत्नमय फल गिरते थे। जब उसको पुत्र का अभाव था, (उसने पुत्र लाभ के लिये) महादेव, विष्णु और कृष्ण का बार-बार पूजन किया। किसी समय (उसको) एक पुत्र उत्पन्न हुआ (जिसका) नाम कृष्ण रखा गया। सयाना होने पर उसे महासमुद्र की यात्रा करने की इच्छा हुई (और उसने) पांच सौ व्यापारियों के साथ जलयान से रत्नद्वीप[1] की ओर प्रस्थान किया। उसकी यात्रा सफल रही। इसी प्रकार छः बार उसने समुद्र की यात्रा की और शीघ्र ही बिना किसी कठिनाई के सफल यात्रा करने पर उसके सौभाग्य की ख्याति सर्वत्र फैली। इस बीच जब (उसके) मां-बाप का भी देहान्त हो गया और उसको आर्य धीतिक के प्रति श्रद्धा होने लगी, सुदूर उत्तर दिशा से अनेक व्यापारियों ने आकर (उसे) समुद्र की यात्रा करने के लिये प्रेरित किया। उसने कहा—"सात बार समुद्र की यात्रा करने की (बात मैंने) नहीं सुनी है, अतः मैं जाने में असमर्थ हूँ।" कहकर इन्कार किया, लेकिन (उनके) साग्रह अनुरोध करने पर अन्त में (वह) चल पड़ा। रत्नद्वीप पहुंच, जहाज को मणियों से भर (जब व्यापारी लोग) लौट रहे थे (उन्हें) समुद्री टापू में एक हरा-भरा वन दिखाई पड़ा। व्यापारी लोग वहां विश्राम करने के ख्याल से गये। (दुर्भाग्यवश) समुद्रवासिनी क्रौंच-कुमारी नामक राक्षसियों ने (उन्हें) धर-

---

१—रिन-पो-छे हि-लिङ = रत्नद्वीप। मणि-प्रदेश को कहते हैं।

पकड़ लिया। सेठ (-कृष्ण) आर्य धीतिक की शरण में गया। उस समय उसके प्रिय देवताओं ने आर्य धीतिक को सूचना दी। आर्य अपने ऋद्धि (बल) से उस द्वीप में पहुंचे तो (आर्य का) प्रताप न सहन कर सकने से (सब) राक्षसी भाग खड़ी हुईं। तत्पश्चात् व्यापारीलोग क्षेमपूर्वक जम्बूद्वीप पहुंचे। वहां उन सभी व्यापारियों ने अपने धन से तीन वर्षों तक चार दिशाओं के संघों के लिये (धार्मिक) महोत्सव का आयोजन किया। अंत में प्रव्रजित हो, आर्य धीतिक से उपसम्पदा ग्रहण कर अचिर में ही सभी अर्हत्व को प्राप्त हुए। तब किसी समय जब आर्य धीतिक निर्वाण को प्राप्त हुए सेठकुल के प्रव्रजित आर्य कृष्ण ने शासन का संरक्षण किया और उनके चतुर्विध परिषदों को उपदेश देने पर चतुर्विध फल की प्राप्ति करनेवाले निरन्तर होते रहे। उस समय काश्मीर में ब्राह्मणकुल का वत्स नामक एक भिक्षु हुआ जो क्रूर, बहुश्रुत और आत्म-दृष्टि में अभिरत था और सब देशों का भ्रमण करता हुआ पृथग्जनों को कुदृष्टि में स्थापित करता था। इसके चलते संघ में कुछ वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ। वहाँ मरुदेश के भाग में पुष्करिणी नामक विहार में कपिल नामक एक यक्ष ने आश्रय दे, चारों दिशाओं के सब (भिक्षु) संघ को एकत्र किया और उनके (विवाद को) निबटा कर एकत्रित संघों के बीच में अनात्म का बार-बार उपदेश दिया गया। तीन माह के बीतने पर जो पहले स्थविर वत्स द्वारा आत्मदृष्टि में स्थापित किये गये थे उन सब भिक्षुओं का चित्त परिशुद्ध हो गया और सब-के-सब सत्य के दर्शन पानेवाले हो गये। अंततः स्थविर वत्स स्वयं भी सम्यग् दृष्टि में स्थापित किया गया।

फिर सिंहलद्वीप में आसन सिंहकोश नामक राजा (रहता) था। जब वह सभा में बैठा था, जम्बूद्वीप के एक व्यापारी ने (उसे) एक काष्ठ निर्मित बुद्ध की प्रतिमा भेंट की। उस (-राजा) ने पूछा—"यह क्या है?" (उसने) शास्ता से आरम्भ कर आर्य-कृष्ण तक की महिमा का वर्णन किया। तब राजा ने आर्यकृष्ण के दर्शन करने (तथा उनसे) धर्म श्रवण करने की आकांक्षा से (एक) दूत भेजा। उस (दूत) के पहुंचने पर आर्य ५०० अनुचरों के साथ ऋद्धि (बल) से आकाश (मार्ग) से पधारे और दूत भी चीवर का अंचल पकड़ सिंहलद्वीप की सीमा पर उतरा। दूत को आगे भेजा गया और राजा आदि ने (आर्य का) सम्यक् रूप से स्वागत किया। (आर्य) रंग-बिरंगी रश्मि प्रसृत करने, (अग्नि) प्रज्वलित करने आदि प्रातिहार्य के साथ प्रधान नगर में पहुंचे। उस द्वीप में तीन माह तक भली-भांति धर्म की देशना की। विहारों और संघों से आबाद कर अनेकों को चतुर्विध फल में स्थापित किया। पहले शास्ता ने अपनी पाद-चर्या से उस द्वीप का भ्रमण किया था। लेकिन जब शास्ता के निर्वाण के पश्चात् शासन का पतन होने लगा आर्यकृष्ण ने (इसका फिर से) विपुल प्रचार किया। अंत में क्षत्रिय कुल के आर्य सुदर्शन को शासन सौंप कर उत्तर दिशा के कुशपन देश में (आर्यकृष्ण) निर्वाण को प्राप्त हुए।

आर्य सुदर्शन—पश्चिम देश भरुकच्छ में पाण्डुकुल में उत्पन्न दर्शन नामक एक क्षत्रिय (रहता) था। (वह) भोगसम्पन्न था। उसके पुत्र का नाम सुदर्शन रखा गया। सयाना होने पर (उसके लिये) ५० उद्यानों, ५० सुन्दरियों, प्रत्येक (सुन्दरी के लिये) पांच-पांच दासी, प्रत्येक (दासी की) पाँच-पाँच वादिकाए (नियुक्त की गईं)। और प्रतिदिन ५,००० स्वर्ण-पणों के पुष्पों का (वह) उपभोग करता था, फिर अन्य उपभोग विशेष की बात का तो कहना ही क्या। अर्थात् देवताओं के समकक्ष भोग वाला था। किसी समय वह अपने परिचायकों से घिरा उद्यान में प्रवेश कर रहा था कि मार्ग में (उसे) शुकायन

नामक अर्हत् के जो अनेक अनुचरों के साथ नगर में प्रवेश कर रहे थे, दर्शन हुए। (अर्हत् के प्रति उसे) अत्यधिक श्रद्धा उत्पन्न हुई और चरणों में प्रणाम कर एक ओर बैठ गया। अर्हत् के धर्मोपदेश देने पर (वह) उसी आसन पर बैठा हुआ अर्हत् (पद) को प्राप्त हुआ। (उसके अर्हत् से) प्रव्रज्या की प्रार्थना करने पर अर्हत् ने कहा—"यद्यपि गृहस्थ के लिये (प्रव्रज्या) सम्भव नहीं, तथापि अपने पिता से अनुमति लो।" उसके प्रव्रज्या के लिये निवेदन करने पर पिता अत्यन्त क्रोधित हो उठा और उसको हथकड़ी लगाने लगा तो तत्क्षण (उसने) आकाश में उठ, प्रकाश फेंकने आदि ऋद्धियों का प्रदर्शन किया। फलतः (अपने पुत्र के प्रति) अत्यन्त श्रद्धालु होकर पिता (बोला—) 'पुत्र! तुमने ऐसे ज्ञान विशेष को प्राप्त किया है, अतः अब प्रव्रजित होकर मेरे प्रति भी सहानुभूति करना।" प्रव्रजित हो (अपने) पिता को धर्मोपदेश देने पर उसने (-पिता ने) भी सत्य के दर्शन पाये। तब (सुदर्शन) आर्यकृष्ण का अपने आचार्य के रूप में सेवन कर चिरकाल तक (उनके) साथ रहे। आर्यकृष्ण के निर्वाण होने के बाद चतुर्विध परिषदों पर महासुदर्शन ने अनुशासन किया। उस समय पश्चिम सिन्धु देश में हिंगलाची नामक बड़ी प्रभावशालिनी और ऋद्धिमती यक्षिणी रहती थी। वह देश-देश में संक्रामक रोग फैलाती थी। जब देशवासी अन्यत्र पलायन करने लगे तो उसने भयावह रूप में आकर मार्ग रोका। तब जनसमूह ने (यक्षिणी को) प्रतिदिन छः बैल-गाड़ियों में खाद्य-पदार्थ लाद, एक-एक श्रेष्ठ अश्व, (एक-एक) पुरुष और एक-एक स्त्री को बलिदान के रूप में दिया। तब किसी दूसरे समय में आर्य सुदर्शन ने उस (यक्षिणी) का दमन करने का समय जान, सिन्धु गांव से पिंडपात ग्रहण कर उसके (निवास) स्थान पर जाकर भोजन किया, तो (यक्षिणी ने) सोचा कि—"यह एक भटकैया श्रमण है।" अंत में (आर्य ने) पात्र धोए हुए जल को उसके स्थान पर डाल दिया तो वह अत्यधिक क्रोधित हो, पत्थर और शस्त्र की वर्षा करने लगी। अर्हत् द्वारा मैत्रीय समाधि लगाने पर (शस्त्र की वर्षा) पुष्प-वृष्टि में परिणत हो गई। आर्य ने अधिमुक्ति बल[1] से सब दिशाओं में अग्नि प्रज्वलित कर दी तो यक्षिणी झुलस जाने से भयभीत हो आर्य की शरण में गई। उन्होंने (यक्षिणी को) धर्मोपदेश कर शिक्षा में पर संस्थापित किया। आज तक उसको बलिदान नहीं दिया जाता है। और भी भविष्य में (किसी) विनेता का प्रादुर्भाव होने की सम्भावना न देख, (आर्य ने) शासन के प्रति अश्रद्धा रखने वाले ५०० नागों और यक्षों का दमन किया। तब आर्य ने सम्पूर्ण दक्षिण प्रदेश का भ्रमण कर विहारों और संघों से व्याप्त किया। अनेक छोटे-छोटे द्वीपों में भी बुद्धशासन की स्थापना की। भारत के बड़े-बड़े देशों में भी धर्म का किंचित प्रचार कर अपरिमेय सत्वों को सुख पहुंचाया और (अंत में) निरुपाधिशेष निर्वाण[2] को प्राप्त हुए। जब राजा अशोक अल्पावस्था का था आर्य धीतिक के जीवन का उत्तरार्ध भाग था। जब (अशोक) पापचारी था, तब शासन का संरक्षण आर्यकृष्ण करते थे और जब (वह) धार्मिक राजा बना तो आर्य सुदर्शन। महासुदर्शन के निर्वाण के पश्चात् राजा का भी देहान्त हो गया। आर्य आनन्द से लेकर सुदर्शन तक प्रत्येक का अवदान उपलब्ध था। उन (अवदानों)

१—मोस-पइ-स्तोबस्=अधिमुक्तिबल। श्रद्धाबल को कहते हैं।

२—फुङ्-पो-ल्हग-म-मेद-प=निरुपधिशेष। हीनयान के अनुसार निर्वाण दो प्रकार का है—सोपधिशेष-निर्वाण और निरुपधिशेष-निर्वाण। महायान में निर्वाण की एक और अवस्था है—अप्रतिष्ठित-निर्वाण। द्र० महायान सूत्रालंकार।

का सारांश क्षेमेन्द्रभद्र ने संगृहीत किया था (और इसने उसी) के अनुसार उल्लेख किया है। उन उत्तराधिकारियों ने शासन का पूर्णरूपेण संरक्षण किया था और (उनकी) कृतियां स्वयं (भगवान्) बुद्ध के समान हैं। इनके बाद यद्यपि, अनेक अर्हतों का जन्म हुआ, पर इनके बराबर (कोई) नहीं हुआ (जिन की) कृतियां शास्ता के तुल्य हों। राजा अशोक समकालीन सातवीं कथा (समाप्त)।

(८) राजा विगताशोक कालीन कथाएं।

राजा अशोक के ग्यारह पुत्र थे। (उन) में प्रधान कुणाल है। हिमालय पर्वत पर रहनेवाले कुणाल पक्षी की आंखों के सदृश (उसके) नेत्र होने से किसी ऋषि ने (उसका) ऐसा नामकरण किया था। जब वह सब कलाओं में प्रवीण हुआ, अशोक की रानी तिष्यरक्षिता उस पर मोहित हो, (उसे) प्रलोभन देने लगी। वह सावधान था, अतः (उस पर) उसने ध्यान नही दिया। इससे तिष्यरक्षिता को क्रोध आया। किसी समय अशोक को दस्त और वमन की बीमारी हुई। एक पर्वतीय क्षेत्र में किसी साधारण व्यक्ति के इसी तरह (के रोग) से पीड़ित होने (का समाचार) तिष्यरक्षिता ने सुना और (उसने) उस (व्यक्ति) की हत्या कराकर, (उसका) पेट चीर-फाड़ कर देखा तो बहुत से अंगवाले एक भयानक कीट को देखा और पता चला कि उसके ऊपर-नीचे चलने से दस्त (और) वमन होता है। वह (कीड़ा) अन्य औषधियों के लगाने पर भी नही मरा, पर लहसुन डालने पर मर गया। तब तिष्यरक्षिता ने राजा से लहसुन की घृत-मिश्रित औषधि का सेवन कराया। क्षत्रिय को लहसुन खाना वर्जित है, लेकिन रोग निवारण हेतु उसका सेवन किया और स्वस्थ हुआ। राजा ने (तिष्यरक्षिता को) वरदान दिया तो (उसने कहा––) "अभी नहीं चाहिए, किसी दूसरे समय निवेदन करूंगी।" किसी समय अश्मपरान्त नामक दूर पश्चिमोत्तर देश में गोकर्ण नामक राजा ने देश-विद्रोह कर दिया। (उसके) दमनार्थ राजकुमार कुणाल अपनी सेना के साथ चला गया। अंत में जैसे ही (कुणाल ने) उस राजा को अपने अधीन कर लिया, तिष्यरक्षिता ने (राजा से कहा––) "देव! मुझे वरदान देने का समय अब है, (अतः) मुझे सात दिनों के लिये (आपका) राज्य चाहिए।" उसने (राज्य) दे दिया तो (तिष्यरक्षिता ने) "कुणाल की आंख निकाल दो" कहकर (एक) पत्र लिखा (जिसपर) राजा की मुहर चुराकर लगा दी और (एक) दूत के द्वारा अश्मपरान्त में भेजा। (अश्मपरान्त के) राजा ने पत्र पढ़ा, लेकिन (उसे) कुणाल की आंखें निकालने का साहस न हुआ। उस समय स्वयं कुणाल ने पत्र पढ़ा और राजा का आदेश जान, अपनी आंखें निकालने लगा। जब (उसने) "एक आंख निकाल कर मेरे हाथ में सौंप दो।" इस आदेश के अनुसार कार्य किया तो एक अर्हत् ने पहले ऐसी घटना होने की (बात) जान अनित्य से आरम्भ कर अनेक धर्मोपदेश करने का अर्थ सदा स्मरण किया इस कारण अपनी आंख को देखने से (वह) स्रोतापत्ति को प्राप्त हुआ। तब (वह) नौकर-चाकर रहित वीणा बजाता हुआ देश-देश का भ्रमण करता रहा। अंत में जब (वह) पाटलिपुत्र की गजशाला में पहुंचा तो आजानेय हाथी ने (उसे) पहचान कर सलामी दी। मनुष्यों ने नहीं पहचाना। प्रातःकाल महावतों ने (उससे) वीणा बजाने को कहा और (उसने) गमक संगीत के साथ वीणा बजाई तो प्रासाद के ऊपर (बैठे) राजा ने अपने पुत्र की-सी आवाज सुनी। भोर होने पर (उसकी) परीक्षा की गई तो (कुणाल ही) होने का पता लगा। कारण पता लगाने पर राजा को बड़ा क्रोध आया और (उसने) तिष्यरक्षिता को लाक्षागृह में बन्द कर जला देने का आदेश दिया। उस समय

कुणाल ने रोका। (राजा बोला) "मैं तिष्यरक्षिता और अपने पुत्र के प्रति समानरूप से प्रेम करता और द्वेषभाव नहीं रखता, तो (मेरे पुत्र की) आंख पूर्ववत् हो जाये।" कहकर सत्यवचन कहने पर (उसे) पहले से भी अधिक (सुन्दर) आंख प्राप्त हुई। वह प्रव्रजित होकर अर्हत्व को प्राप्त हुआ। इसलिये, बाद में वह राजगद्दी पर क्यों (बैठता) बल्कि उसके (--अशोक) पुत्र विगताशोक[1] को (उसने) सिंहासन पर बैठाया गया।

उस समय ओडिविश देश में राघव नामका ब्राह्मण हुआ। (वह) भोगसम्पन्न और त्रिरत्न के प्रति गुरुकार करने वाला था। उसको स्वप्न में देवता ने प्रेरित किया--"प्रातः तुम्हारे घर में एक भिक्षु भिक्षा ग्रहण करने के लिये आयेगा। वह बड़ा प्रभावशाली और महान् ऋद्धिमान होने से सर्व दिशाओं के आर्य (संघ) को एकत्रित करने में समर्थ है। (तुम) उससे प्रार्थना करना।" प्रातःकाल अर्हत् पोषद् उसके घर में आये तो (उसने) उनसे प्रार्थना की। और लगभग ८०,००० आर्य के एकत्र होने पर (उसने) तीन वर्षों तक (धार्मिक) उत्सव मनाया। फलतः शासन में श्रद्धा रखनेवाले देवताओं ने उसके घर में रत्नों की वर्षा की। वह जीवन पर्यंत १००,००० भिखारियों को प्रतिदिन (दान देकर) संतुष्ट करता रहा। राजा विगताशोक कालीन आठवीं कथा (समाप्त)।

(९) द्वितीय काश्यप कालीन कथाएं।

तत्पश्चात् उत्तर गन्धार देश में उत्पन्न काश्यप नामक अर्हत् जब शासन के विविध कार्यों[2] द्वारा प्राणियों का हित सम्पादित करते थे, राजा विगताशोक के पुत्र राजा वीरसेन ने वैश्रवण की पत्नी लक्ष्मी देवी की सिद्धि प्राप्त की जिससे प्राणियों को बिना किंचितमात्र भी हानि पहुंचाए (वह) अक्षय सम्पत्तिशाली बना। (उसने) चारों दिशाओं के सब भिक्षुओं का सत्कार किया और तीन वर्षों तक पृथ्वी पर के सम्पूर्ण स्तूपों की एक-एक सौ पूजोपकरणों से पूजा की। उस समय मथुरा में यशिक नामक एक ब्राह्मण (रहता था)। शासन के प्रति श्रद्धा रखने से (उसने) शरावती नामक विहार बनवाया और अर्हत् शाणवास के धर्मोपदेश देने पर चारों दिशाओं के भिक्षु अत्यधिक (संख्या में) एकत्र हुए (तथा उसने) १००,००० भिक्षुओं के लिये (एक) महोत्सव का भी आयोजन किया। उस समय मरुट देश के किसी भाग में महादेव नामक (एक) सेठ का बेटा (रहता था)। मां-बाप और अर्हत् की हत्या करने वाला अथवा तीन अन्तराय (कर्म) करनेवाला (वह व्यक्ति) अपने पाप से खिन्न हो, कश्मीर चला गया। (उसने) अपने अपराध छिपाकर भिक्षु की दीक्षा ली। तीव्र बुद्धि का होने से तीनों पिटकों का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया और (अपने अपराधों पर) पश्चात्ताप होने के कारण अरण्य में समाधि (के अभ्यास) में यत्न करने लगा। उसको मार के अधिष्ठित करने से सबने (उसे) अर्हत् माना और (उसका) काफी लाभ-सत्कार भी हुआ। (वह) अनेक अनुचर भिक्षुओं के साथ शरावती विहार में गया। (वहां) जब भिक्षु बारी-बारी से

१--म्य-ङन-ब्रल==विगताशोक। उत्तरी आख्यानों के अनुसार विगताशोक राज अशोक का भ्राता था।

२--ब्स्तन-पइ-व्य-ब-नंम-गुसुम==शासन के त्रिविधकार्य। संचालन, संरक्षण और प्रचार।

प्रातिमोक्ष सूत्र का पाठ करने लगे, महादेव की बारी आई। सूत्र पठन की समाप्ति पर (उसने बताया) 'देवगण (अपनी) अविद्या से वञ्चित हैं, मार्ग का प्रादुर्भाव शब्दधारा से हुआ, सन्दिग्ध (लोगों) का पथदर्शन दूसरे से होता हैं, यह बुद्धशासन है।" ऐसा बताने पर आर्य और स्थविर भिक्षुओं ने कहा कि (ये) सूत्रगत वाक्य नहीं हैं। अधिकतर युवक भिक्षुओं ने महादेव का समर्थन किया और (उनसे) वाद-विवाद किया। और भी उसने सूत्रों की अनेक अयथार्थ व्याख्याएं कीं। उसके मरने के बाद भद्र नामक भिक्षु हुआ (जो) स्वयं पापीमार का अवतारी भी कहा जाता था। उसने भी (बुद्ध) वचन के अभिप्रायों में अनेक वाद-विवाद और सन्देहात्मक विषय उत्पन्न किये। (उसने) दूसरे का प्रत्युत्तर, अज्ञान, दुविधा, परिकल्प और आत्मपोषण--इन पांच वस्तुओं का प्रचार कर यह शास्ता का शासन है कह (इनकी) प्रशंसा की। फलतः अनेक भिन्न-भिन्न बुद्धि के लोगों ने (बुद्ध) वचन के अभिप्राय को भिन्न-भिन्न रूप से ग्रहण किया। नाना प्रकार के सन्देह और दुविधाओं के उत्पन्न होने से घोर वाद-विवाद उठ खड़े हुए। भिन्न-भिन्न देशों की भाषाओं द्वारा भिन्न-भिन्न सूत्रों के उपदेश दिये गये। पर उनमें भी लिपि और शैली की कुछ-कुछ गलतियां होने के कारण विविध लम्बे-छोटे वाक्यों की रचना हुई। अर्हत् आदि विज्ञ लोगों ने उस विवाद के निवटारा के लिये प्रयास किया, परन्तु पृथग्जन भिक्षुओं को मार के द्वारा अभिभूत किये जाने के कारण विवाद शांत नहीं हुआ। जब महादेव और भद्र की मृत्यु हुई तब भिक्षुओं को उन दोनों की (दुष्) प्रकृति का पता चला। अर्हत् द्वितीय काश्यप के निर्वाण के बाद भी मथुरा में आर्य महालोम और आर्य नन्दिन ने शासन का कार्य किया। द्वितीय काश्यप कालीन नवीं कथा (समाप्त)।

(१०) आर्य महालोम आदि कालीन कथाएं।

आर्य महालोम और आर्य नन्दिन् द्वारा शासन का संरक्षण करने के अचिर में ही राजा वीरसेन का देहान्त हुआ और उसके पुत्र नन्द ने राज्य किया। (उसने) २९ वर्षों तक राज्य किया। इस राजा ने पीलु नामक पिशाच की सिद्धि प्राप्त की जिससे (उसकी) अंजलि आकाश की ओर फैलाते समय बहुमूल्य (रत्नों) से भर जाती थी। उस समय स्वर्ण-द्रोण नामक देश में कुशल नामक ब्राह्मण हुआ। (उसने) चारों दिशाओं के सब भिक्षु एकत्र कर सात वर्षों तक महोत्सव का आयोजन किया। तत्पश्चात् काशी (या) वाराणसी में राजा ने वर्षों तक भिक्षुओं की जीविका का प्रबंध कर (उनका) सत्कार किया। उस समय नाग नामक एक बहुश्रुत भिक्षु ने पांच वस्तुओं[1] की बार-बार प्रशंसा कर संघ के विवाद को और बढ़ाया। (फलतः वे) चार निकायों में बंट गये। वहा आर्य धर्म नामक श्रेष्ठी ने अर्हत्व प्राप्त किया और विवादशाली संघ का परित्याग कर शान्तिप्रिय भिक्षु समुदाय के साथ (वह) उत्तर-प्रदेश को चला गया। राजा नन्द का मित्र ब्राह्मणपाणिनी (ई०पू० ५००—८००) है। (यह) पश्चिम देश में भीरुकवन में पैदा हुआ। (उसके) हस्तरेखा शास्त्री से शब्द विद्या का ज्ञान प्राप्त करेगा या नहीं पूछने पर (उसने) नहीं ज्ञान प्राप्त करने का व्याकरण किया इस पर (उसने) तीक्ष्ण छुरे से हस्तरेखा सुधार कर पृथ्वी पर के समूचे व्याकरण आचार्यों का सेवन किया। भली-भांति सीख कर (उसने व्याकरण का) ज्ञान पा लिया, लेकिन अब भी संतुष्ट न हो, (उसने) एकाग्र (चित्त) से इष्टदेव की साधना की। फलतः

१—ङ्शि-ल्ङ =पांच वस्तुएं। प्रत्युत्तर, अज्ञान, दुविधा, परिकल्प और आत्म-पोषण।

(इष्टदेव ने) दर्शन दिये और अ, इ, उ का उच्चारण करते ही (उसने) त्रिलोक में विद्यमान सभी शब्द-विद्याओं को जान लिया। अबौद्ध लोगों का कहना है कि यह (उपर्युक्त इष्टदेव) ईश्वर (महादेव) है, लेकिन स्वयं अबौद्ध लोगों के पास भी (इसके ईश्वर होने का कोई) प्रमाण नहीं है। बौद्ध लोग (इसे) अवलोकित बताते हैं। मंजुश्रीमूलतंत्र [1] में—"ब्राह्मण शिशु पाणिनि का निश्चय ही श्रावक, बोधि (लाभ करनेवाले) के रूप में, मैंने व्याकरण किया है, महात्म लोकेश्वर की भी सिद्धि, अपने मंत्र (जप) के द्वारा प्राप्त करेगा।" कहकर व्याकरण किया गया है, अतः (यह उल्लेख) प्रामाणिक है। उन्होंने एक सहस्र श्लोकात्मक सूत्रवाली शब्द योजना और एक सहस्र श्लोकात्मक सूत्र के व्युत्पत्तिवाले (?) पाणिनीय व्याकरण नामक शास्त्र की रचना की। यह समग्र शब्दयोग का मूल है। इससे पूर्व न लिपिवद्ध किया गया शब्दयोग का शास्त्र ही था और न (इसका) क्रम संगृहीतरूप में उपलब्ध था। अतः, कहा जाता है कि पूर्वकालीन वैयाकरण एक-एक दो-दो शब्दयोग से आरम्भ कर समस्त बिखरे हुए (शब्दों का) संचय करने पर ही बहुत जाननेवाले बनते थे। तिब्बत में प्रसिद्धि है कि इन्द्रव्याकरण (की सृष्टि) आरम्भ (में हुई) है। लेकिन (इसका) प्रथम उद्भव देवलोक में होना सम्भव है, पर आर्यदेश में नहीं। (जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा। भोट (भाषा) में अनूदित चन्द्रव्याकरण [2] पाणिनी व्याकरण के समान है और कलाप व्याकरण [3] इन्द्र (व्याकरण) के समान है ऐसा पण्डितों का कहना है। विशेषतः, कहा जाता है कि पाणिनि व्याकरण अधिक विस्तृत होने से उसका सांगोपांग ज्ञान रखनेवाला अति दुर्लभ है। आर्य महालोम आदि कालीन दसवीं कथा (समाप्त)।

(११) राजा महापद्म कालीन कथाएं

उत्तरदिशा के प्रत्यन्त देश में वनायु नामक (स्थान) में अग्निदत्त नामक राजा हुआ। उसने अर्हत् धर्म-सेठ आदि कोई तीन हजार आर्यों का लगभग तीस वर्ष से अधिक सत्कार किया। मध्य देश में आर्य महात्याग बुद्ध शासन का संरक्षण करते थे। जब कुसुमपुर में राजा नन्द का पुत्र महापद्म (चौथी शती ई० पू०) सभी (भिक्षु) संघों का सत्कार करता था स्थविर नाग के अनुयायी भिक्षु स्थिरमति ने पंचवस्तुओं का प्रचार कर घोर विवाद पैदा किया। परिणामतः चार निकाय भी धीरे-धीरे अष्टादश (निकायों) में विस्फुटित होने लगे। राजा महापद्म के मित्र भद्र और वररुचि नामक दो ब्राह्मण हुए। उन दोनों ने संघ का महान् सत्कार किया। ब्राह्मण भद्र, अपने वेदमंत्र के प्रभाव से जिन विभिन्न देशों का भ्रमण करता था उन देशों के अमनुष्यों से सब भोग प्राप्त कर लेता था। अतः (वह) प्रतिदिन १,८०० ब्राह्मण, २,००० भिक्षु, १०,००० परिव्राजक, भिखारी इत्यादि को सभी साधनों से तृप्त करता था। वररुचि के पास वेदमंत्र-सिद्ध एक जोड़ा पर्ण-पादुका था। (वह) उसे पहन कर देव (लोक), नाग (लोक) आदि (की यात्रा कर उनसे) उत्तम साधन ग्रहण कर भिखारियों को संतुष्ट करता था। लेकिन, किसी समय (उसका) राजा के साथ वैमनस्य हो गया। (राजा ने—) "यह मुझ पर जादू-टोना कर देगा" यह सोच उसकी हत्या करने के लिए दूत भेजा, तो वह (अपने जादुई)

१—हजम-द्पल-र्च-र्ग्युद=मंजुश्रीमूलतंत्र। द्र०क० ६।

२—लुङ-स्तोन-प-चन्द्र-पइ-म्दो=चन्द्रव्याकरण। द्र० तं० १४०।

३—क-ल-पइ-म्दो=कलापव्याकरण। तं० १४०।

जूते पहनकर उज्जयिनी नगर को भाग गया। अंत में राजा ने धोखा देकर एक स्त्री से उसके जूते चुराये और भाग नहीं सकने से हत्यारे ने (उसकी) हत्या कर दी। राजा ने ब्राह्मण हत्या के पाप-मोचन के लिये २४ विहारों का निर्माण कराया और उन सभी (विहारों) को समृद्धिशाली धार्मिक संस्था बनाया। कतिपय लोगों का मत है कि उस समय तृतीय संगीति हुई, पर (यह मत) कुछ असंगत प्रतीत होता है। उल्लेख मिलता है कि वररुचि ने विभाषा की बहुत-सी पुस्तकें लिखकर धर्मभाणकों को वितरित कीं। (बुद्ध) वचन के बहुत कुछ ग्रंथ तो शास्ता के जीवनकाल ही में वर्तमान थे। कहा जाता है कि (बुद्धवचन की) टीका, पुस्तक के रूप में यही सर्वप्रथम लिखी गई। विभाषा का अर्थ है—विस्तारपूर्वक व्याख्या करना। पूर्व (समय में) बुद्धवचन के पदों को ज्यों-का-त्यों सुनाकर उसका उपदेश दिया जाता था और वहीं वचनों के अर्थ को खोलकर बताया जाता था। सिवाय इसके सूत्रांत से अधिक सुबोध शास्त्र की अलग से रचना नहीं होती थी। अनन्तर, भावी सत्त्वों के हित के लिये विभाषा-शास्त्र का प्रणयन किया गया। कतिपय लोगों का कहना है कि उपगुप्त के काल में अर्हतों ने सामूहिक रूप से (इसका) प्रणयन किया और कतिपय का मत है कि यश, सर्वकाम आदि ने (इसे) रचाया। तिब्बतियों का कहना है कि सर्वकाम, कुब्जित आदि ५०० अर्हतों ने उत्तर विंध्याचल (के) नट भट विहार में (इसका) प्रणयन किया जो पूर्ववर्ती दोनों मतों की मिली-जुली बात मालूम होती है। जो हो, उन अर्हतों के संगृहीत उपदेशों को, जो स्थविरों की श्रुति परम्परा (के रूप में सुरक्षित थे) बाद में लिपिबद्ध किया गया है। वैभाषिकों के मतानुसार सप्तवर्ग अभि (धर्म)[1] को (बुद्ध) वचन माना जाता है, इसलिये (उनका) मत है कि (बुद्धवचन) की आदिम टीका विभाषा है। सौत्रान्तिकों के अनुसार विभाषा से पूर्व आविर्भूत सप्तवर्ग अभि (धर्म) भी पृथग्जन श्रावकों ने रचाकर शारिपुत्र आदि द्वारा संगृहीत बुद्धवचन की ओर निर्देश किया है, इसलिये (बुद्धवचन की) टीका का प्रारम्भिक ग्रंथ सप्तवर्ग (अभिधर्म) है। कुछ आचार्यों (का कहना है कि) सप्तवर्ग (अभिधर्म के ग्रंथ) आरम्भ में बुद्धवचन था, लेकिन हो सकता है कि इस बीच (उनमें) पृथग्जन श्रावकों के रचित शब्द गढ़ दिये गये हों जैसे कि भिन्न-भिन्न निकायों के कुछ सूत्रान्त हैं। इसलिये तीन प्रमाणों[2] के विरुद्ध जो भ्रमपूर्ण शब्द हैं (उन्हें) बाद में गढ़ दिया गया मानना चाहिए। (कुछ लोगों का) मत है कि जैसे महायान का अपना पृथक अभि (धर्म) पिटक है वैसे श्रावकों का भी होना चाहिए। और यद्यपि यह सच है कि त्रिपिटकों का अर्थ परस्पर सम्बद्ध है, लेकिन तो भी अन्य दो पिटकों के अलग-अलग ग्रंथ हैं। (अतः) कोई कारण नहीं है कि मातृका पर ऐसा (ग्रंथ) नहीं (लिखा गया) हो। परवर्ती मत युक्ति-युक्त सा (मालूम) होने पर भी महान् आचार्य वसुबन्धु के सौत्रान्तिक मत से सहमत होने से (हमें भी) ऐसा ही स्वीकार करना चाहिए। कुछ लोगों का यह कथन अतिमूर्खतापूर्ण है कि (यह अभिधर्मपिटक बुद्ध) वचन नहीं है, क्योंकि अनेक त्रुटियों के होने से इसे शारिपुत्र आदि ने रचा है। (क्योंकि) युगल प्रधान (शिष्यों में से) एक तो शास्ता के पूर्व ही निवृत्त हो गये थे और शास्ता के जीवनकाल में कोई (बुद्धवचन की) टीका लिखनेवाला भी नहीं था। शास्ता के साक्षात विद्यमान होते हुए (बुद्ध) वचन के अर्थ की विपरीत व्याख्या करने वाले हुए हों तो

१—म्ङोन-प-स्दे-ब्दुन=सप्तवर्ग अभि (धर्म)। अभिधर्म के सात ग्रंथ ये हैं—धम्मसंगणि, विभंग, धातु-कथा, पुग्गल पञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान।

२—छद्-म-गसुम=तीन प्रमाण। प्रत्यक्षप्रमाण, अनुमान प्रमाण और आगमप्रमाण को तीन प्रमाण कहते हैं।

(यह बात) अत्युक्तिपूर्ण है। क्योंकि बुद्ध की शिक्षाओं के आधार पर (बुद्ध) वचन और (उसकी) वृत्तियों के रूप में (लिखे गये) शास्त्रों का प्रभेद भी स्वयं शास्ता के साक्षात् विद्यमान् होते समय हुआ है या (उनके) निर्वाण के उपरान्त होना मानना चाहिए। एक युगल प्रधान (शारिपुत्र) आदि ने (बुद्ध) वचन पर गलत वृत्ति लिखी होती तो--'प्रायः प्रमा णभूत पुरुषों के समाप्त होने पर' इस प्रकार कथित साक्षी पुरुष की पहचान नहीं हो सकती। क्योंकि, अर्हतों तक ने तत्त्व के दर्शन नहीं पाये होते तो श्रावक मत में तत्त्व दर्शक पुरुष का होना असम्भव होगा। इस कारण, स्वयं शास्ता की लीला से प्रादुर्भूत इन महान् अर्हतों की हृदय से निन्दा करना तो मार का प्रभाव ही समझना चाहिए। ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि राजा महापद्म के समय से कुछ समय बाद ओडिविश में राजा चन्द्रगुप्त का प्रादुर्भाव हुआ। उसके घर में आर्य मंजु श्री ने भिक्षु के रूप में आकर अनेक प्रकार से महायान धर्म का उपदेश दे, एक ग्रंथ भी छोड़ रखा। सौत्रान्तिकवादियों का मत है कि (यह ग्रंथ) अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता है और तान्त्रिकों का कहना है कि यह तत्त्वसंग्रह[1] है। जो भी हो, (दोनों का कहना) गलत नहीं है, फिर भी (हमारी) समझ में पूर्ववर्ती (मत) युक्तियुक्त है। यही शास्ता के निर्वाण के पश्चात् मनुष्यलोक में महायान का प्रारम्भिक अभ्युदय है। राजा महापद्मकालीन ११ वीं कथा (समाप्त)।

(१२) तृतीय संगीति कालीन कथाएं।

तत्पश्चात् काश्मीर में राजा सिंह का आविर्भाव हुआ। प्रव्रजित हो, उसने अपना नाम सुदर्शन रखा और अर्हत्व प्राप्त कर काश्मीर में (उसने) धर्मोपदेश किया। यह (बात) जालन्धर के राजा कनिष्क ने सुन (वह उनके प्रति) विशेषरूप से श्रद्धावान हो गया और उत्तर काश्मीर को जा आर्य सिंह सुदर्शन से धर्म श्रवण कर उसने भी उत्तर-प्रदेश के सब स्तूपों की विपुल पूजा की। चातुर्दिश (भिक्षु-) संघों के लिये अनेक उत्सव का आयोजन किया। उस समय संजयिन नामक भिक्षु ने, जो अर्हत् कहलाता था, अनेक धर्मोपदेश दिये। प्रभावशाली बन जाने से (उसने) ब्राह्मणों और गृहस्थों से प्रचुर साधन प्राप्त कर २००,००० (भिक्षु) संघ से धार्मिक सम्भाषण कराया। लगभग उस समय अष्टादश निकायों का विभाजन हो चुका था और (वे) बिना आपसी कलह के रहते थे। काश्मीर में शूद्र नामक ब्राह्मण (रहता) था जो अपार साधनों से सम्पन्न था। उसने वैभाषिक के भदन्त धर्मत्रात सपरिषद् और सौत्रान्तिक के आदिम कश्मीरी महाभदन्त स्थविर का (उनके) ५,००० भिक्षु अनुचरों के साथ नित्य सत्कार करता हुआ त्रिपिटक का विशेषरूप से प्रचार किया। दृष्टान्तमूलागम और पिटकधर मुष्टि आदि सौत्रा-न्तिकों के आगम हैं। उस समय पूर्वदिशा में आर्य पार्श्व नामक अर्हत् हुए जो बहुश्रुत पारंगत थे। उन्होंने कुछ बहुश्रुत स्थविरों से राजा कृकि[2] ने स्वप्न व्याकरण सूत्र, काञ्चन-मालावदान आदि अति दुर्लभ सूत्रों का पाठ कराया। काश्मीरकों का कहना है कि यह (बात) राजा कनिष्क ने सुनी और काश्मीर के कुण्डलवन-विहार में समस्त भिक्षुओं को एकत्र कर तृतीय संगीति का आयोजन किया। अन्य लोगों का मत है कि जालन्धर

१—दे-खो-न-जिद्-ब्स्दुस-प=तत्व संग्रह। त० ८१।

२—तिब्बती विनय में उल्लेख मिलता है कि राजा गगनपति के पुत्र नागपाल के वंशक्रम में वाराणसी में सौ राजाओं का प्रादुर्भाव हुआ जिनका अन्तिम राजा कृकि है। क० ४२।

के कुंडवन-विहार में (तृतीय संगीति) निष्पन्न की गई। अधिकांश विद्वान् परवर्ती (मत) को युक्तियुक्त मानते हैं। तिब्बतियों के अनुसार कहा जाता है कि ५०० अर्हतों, ५०० बोधिसत्वों और ५०० पृथग्जन पण्डितों ने एकत्र हो (तृतीय संगीति) संयोजित की। यह महायान के मतानुसार, वस्तुतः अयुक्तिसंगत नहीं है, लेकिन उन दिनों बौद्ध महान् विद्वानों को महाभदन्त से अभिहित किया जाता था, न कि पण्डित नाम से पुकारा जाता था। इसलिये ५०० पण्डित कहना उपयुक्त नहीं है। जैसे ह्गोम्-ग्शोन-नु-द्पाल (१३९२—१४८१ ई०) ने उत्तराधिकारियों के (वृत्तान्तों में) से एक भूली-भटकी संस्कृत पुस्तक के एक पृष्ठ का अनुवाद करने में भी वसुमित्र आदि ४०० भदन्तों का जो वर्णन किया है उचित ही है। लेकिन (यह) समझना उचित नहीं होगा कि यह वसुमित्र वैभाषिक के महान् आचार्य वसुमित्र हैं। इसके अतिरिक्त यह (उल्लेख) श्रावक के शासन की दृष्टि से किया गया होने से श्रावकों के अपने ही इतिहास के अनुरूप करना उपयुक्त होगा। इसलिये, कहा जाता है कि ५०० अर्हतों और ५,००० पिटकधारी महाभदन्तों ने (यह) संगीति की। वस्तुतः शासन की महिमा बढ़ाने के लिये ५०० अर्हतों का उल्लेख किया गया है। वास्तविकता यह है कि अल्पसंख्यक अर्हतों और फलप्राप्त स्रोतापन्नों तक को एकत्र करने पर ५०० (की संख्या) पूर्ण हुई है। महादेव और भद्र के प्रादुर्भाव के पूर्व फलपानेवालों[1] (की संख्या) प्रतिदिन अत्यधिक होती जा रही थी। जब से उन दोनों द्वारा शासन में फूट डालने से विवाद उत्पन्न हुए तब से भिक्षुगण योग (अभ्यास) में उद्योग न कर विवाद की बात सोचने लगे। फलतः फलपानेवालों (की संख्या) भी अत्यल्प होने लगी। यही कारण है कि तृतीय संगीति के काल में अर्हतों (की संख्या) कम थी। राजा वीरसेन के जीवन के उत्तरार्ध, राजा नन्द और महापद्म के आजीवन और राजा कनिष्क के जीवन के आरम्भकाल तक अर्थात् चार राजाओं के समय तक संघ में विवाद छिड़ता रहा और लगभग ६३ वर्षों तक घोर विवाद चलता रहा। पहले और पीछे के विवादों को एक साथ करने में लगभग १०० वर्ष होते हैं। (विवाद) शांत होने के बाद तृतीय संगीति के समय सभी अठारहों निकायों ने शासन का विशुद्ध रूप (पालन किया और विनय को लिपिबद्ध किया। पहले अलिपिबद्ध सूत्रों और अभिधर्म) को भी लिपिबद्ध किया गया तथा पहले लिपिबद्ध (पुस्तकों) का संशोधन किया गया। उन दिनों मनुष्यलोक में अनेक महायान प्रवचनों का उद्भव हुआ। लब्धानुत्पादधर्मक्षान्ति[2] के कुछ भिक्षुओं ने थोड़ा-बहुत (महायान धर्म की) देशना की, पर इसका अधिक प्रसार नहीं होने से श्रावकों में विवाद नहीं होता था। तृतीय संगीति कालीन १२वीं कथा (समाप्त)।

(१३) महायान के चरमविकास की आरम्भकालीन कथाएं।

तृतीय संगीति के पश्चात् राजा कनिष्क के (काल) अतीत होने के कुछ समय बाद पश्चिम काश्मीर के तुखार के पास उत्तरी अश्मपरान्त नामक एक भाग में गृहपति जटि नामक एक भोगसम्पन्न (व्यक्ति) हुआ। उसने उत्तर दिशा के सब स्तूपों की पूजा की (और) पश्चिम मरुदेश से वैभाषिक भदन्त वसुमित्र तथा तुखार के भदन्त घोषक को उक्त देश में आमंत्रित किया (एवं) ३००,००० भिक्षुओं का बारह वर्ष तक सत्कार किया। अंत में

१—स्रोतापत्ति-फल, सकृदागामि०, अनागामि०, अर्हत्०।

२—मि-स्क्ये-वइ-छोस-ल-बसोद-प-थोब-प = लब्धानुत्पादधर्मक्षान्ति। सभी बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों का अनुत्पाद ज्ञान प्राप्त।

(उसने) अनुत्तर बोधि के लिए प्रणिधान किया और (इस प्रणिधान के) सिद्ध होने के लक्षण स्वरूप––पूजा में चढ़ाये गये फूल साल भर नहीं मुरझाये, दीप भी उतना तक (जलते) रहे, छितरे गये चन्दन-चूर्ण और पुष्प आकाश में स्थित रहे, भू-कम्प तथा वाद्य (संगीत) की ध्वनि आदि (लक्षण प्रगट) हुए। पुष्कलवती प्रासाद में राजा कनिष्क के पुत्र ने अर्हत् आदि १०० आर्यों (तथा) और भी १०,००० भिक्षुओं के लिए पांच वर्षों तक उत्सव मनाया।

पूर्वदिशा के कुसुमपुर में विदुः नामक ब्राह्मण हुआ। उसने त्रिपिटक की अपरिमेय पुस्तकों की रचना कराके भिक्षुओं को भेंट की। प्रत्येक त्रिपिटक में एक-एक लाख श्लोक थे। ऐसे (त्रिपिटकों की) हजार बार रचना कराई। प्रत्येक (त्रिपिटक) की अचिन्त्य पूजोपकरणों मे पूजा की। पाटलिपुत्र नगर में आर्य अश्वगुप्त नामक एक समय-विमुक्तक अर्हत् हुए। वह आठ विमोक्ष[1] में ध्यानस्थ थे। उनके धर्मोपदेश देने पर आर्य नन्दमित्र आदि अनेक अर्हतों और सत्य के दर्शन पानेवालों का प्रादुर्भाव हुआ। पश्चिम दिशा में लक्षाश्व नामक राजा हुआ। उसने भी बुद्धशासन की महती सेवा की। दक्षिण-पश्चिम के सोराष्ट्र नामक देश में कुलिक नामक ब्राह्मण रहता था। उस समय अंग देश में उत्पन्न महास्थविर अर्हत् नन्द नामक महायान धर्म के माननेवाले विद्यमान हैं, सुन (उसने) महायान श्रवण करने के लिये उन्हें आमन्त्रित किया। उन दिनों विभिन्न देशों में महायान के अपरिमेय उपदेष्टा-कल्याणमित्रों का एक ही समय में आविर्भाव हुआ। वे सभी आर्यावलोकित, गुह्यकपति, मंजुश्री, मैत्रेय इत्यादि से धर्म श्रवण करते थे (और) धर्मस्रोतसमाधि[2] प्राप्त थे। महा-भदन्त अविर्तक, विगतरागध्वज, दिव्याकरगुप्त, राहुलमित्र, ज्ञानतल, महोपासक संगतल इत्यादि लगभग ५०० उपदेष्टाओं का प्रादुर्भाव हुआ। आर्य रत्नकूट धर्मपर्याय शतसाहस्रिका[3] अष्टसाहस्रिका[4] (१,००० श्लोक), आर्य अवतंसक धर्मपर्याय शतसाहस्रिक सहस्रपरिवर्त[5], आर्य लंकावतार २५,००० (श्लोकवाला)[6], घनव्यूह १२,००० (श्लोकवाला)[7], धर्म-संगीति १२,०००[8] (श्लोकवाला) इत्यादि कुछ सूत्रों की पुस्तकें देव, नाग, गन्धर्व, राक्षस इत्यादि विभिन्न स्थानों से (लाई गयीं)। (इनमें से) अधिकतर नागलोक से लाई गयीं। ऐसे अधिकतर आचार्यों को भी उस ब्राह्मण ने आमंत्रित किया। यह बात राजा लक्षाश्व

१––नंम-पर-थर-प-व्र्ग्यद=आठ विमोक्ष। द्र० कोश ८.३५।

२––छोस-र्ग्युन-ग्यि-तिङ-ङे-ह्जिन=धर्मस्रोतसमाधि। द्र० सूत्रालकार।

३––ह्फगस्-प-द्कोन-म्छोग-ब्र्चेगस्-प-छोस-क्यि-नंम-ग्रङस्-स्तोङ-फ्रग-ब्र्ग्य-प=आर्य रत्नकूट धर्मपर्याय शतसाहस्रिका। क० २२

४––ब्र्ग्यद-स्तोङ-प=अष्टसाहस्रिका। क० २१।

५––फल-पो-छे-छोस्-क्यि-नंम-ग्रङस-ह्बुम-लेहु-स्तोङ=अवतंसक धर्मपर्याय-शतसाहस्रिका सहस्रपरिवर्त। क० ७, ११ ?

६––ह्फगस्-प-लङ्-कर-गशेगस-प=आर्य लंकावतार। क० २९।

ने सुनी (और उनके प्रति) महान् श्रद्धावान् हो, (उसने) उन ५०० धर्मकथिकों को आमंत्रित करने की इच्छा से (अपने) अमात्यों से पूछा—

"कितने धर्मकथिक हैं ?"

"पांच सौ हैं।"

"धर्मश्रोताओं (की संख्या) कितनी है ?"

"पांच सौ।"

राजा ने सोचा—धर्म भाणकों की (संख्या) अधिक है और शिष्यों की कम। (यह) सोच (उसने) आभु नामक पहाड़ पर ५०० विहार बनवाये। प्रत्येक (विहार) में एक-एक धर्मकथिक आमंत्रित किया। सब (आवश्यक) साधनों की व्यवस्था की। राजा ने अपने ५०० श्रद्धावान तथा तीव्र बुद्धिवाले परिकरों को प्रव्रजित करा, महायान (धर्म) सुनने के लिए उत्साहित किया। तब राजा ने ग्रंथ लिखवाने की इच्छा कर (लोगों से) पूछा—

"महायान के कितने पिटक हैं ?"

"वैसे (उनके) परिमाण का अनुमान नहीं लगाया जा सकता, तो भी अभी जो विद्यमान हैं (वे) १० करोड़ (श्लोकों के) हैं।"

"यद्यपि अधिक है (तो भी मैं) लिखवाऊंगा।" कह (राजा ने) सब (पुस्तकें) लिखवाकर भिक्षुओं को भेंट कीं। तब कालान्तर में (उक्त) पुस्तकें श्री नालन्दा में लाई गयीं। वहां १,५०० महायानी भिक्षु रहते थे। वे अपरिमेय सूत्रों को धारण करनेवाले, अप्रतिहतबुद्धि वाले तथा लब्धक्षान्ति[1] के थे। वे लोगों के समक्ष छोटे-मोटे (अलौकिक) चमत्कार एवं अभिज्ञा का प्रदर्शन करनेवाले थे। यही कारण है कि महायान की सुख्याति सर्वत्र फैलने लगी, और श्रावकों की बुद्धि में (यह बात) नहीं समा (सकी और उन्होंने) महायानी बुद्ध वचन नहीं है कह, (उसपर) आक्षेप लगाया। वे महायानी केवल योगाचार विज्ञानवादी थे। वे पहले अष्टादश निकायों के अलग-अलग (निकायों) में प्रव्रजित हुए थे, इसलिए प्राय: उनके साथ रहने और हजारों श्रावकों के बीच एक-एक महायानी के रहने पर भी श्रावक (उन्हें) हावी नहीं कर पाते थे। उस समय मगध में मुद्गरगोमिन और शंकरपति नामके दो भाई ब्राह्मण हुए। (वे) अपने कुल-देवता महेश्वर की पूजा करते थे। उन दोनों ने बौद्ध और हिन्दू के सिद्धान्तों में विद्वत्ता प्राप्त की। लेकिन मुदगरगोमिन सन्देह में रहता था—सोचता था कि महेश्वर ही श्रेष्ठ होगा। शंकरपति बुद्ध ही के प्रति श्रद्धा रखता था। (उनकी) मां के प्रेरित करने पर पद-श्रृंग[2] की साधना कर (दोनों) पर्वतराज कैलाश पर चले गये और महेश्वर के निवास-स्थान पर (दोनों ने महेश के) वाहन श्वेत ऋषभ और उमादेवी को फूल तोड़ते देखा। अंत में स्वयं महादेव को सिंहासन पर आसीन हो धर्मोपदेश करते देखा। गणपति[3] ने

१—ब्सोद-प-थोब-प = लब्धक्षान्ति। द्र० कोश ६.२३।

२—र्कङ-मृग्योगस् = पद-श्रृंग। इसकी सिद्धि मिलने पर बड़ी द्रुतगति से चल सकता है।

३—छोगस्-क्यि-ब्दग-पो = गणपति। गणेश को कहते हैं।

उन दोनों को अपने हाथों में उठाए महादेव के पास रख दिया। थोड़ी देर बाद मानसरोवर से ५०० अर्हत् उड़कर आये तो महेश्वर ने (उन्हें) प्रणाम कर, पाद धुलाकर (तथा) भोजन कराकर (उन अर्हतों से) धर्मोपदेश सुना। यद्यपि (दोनों भाइयों को) बौद्ध (धर्म के) अधिक श्रेष्ठ होने का पता लग गया, तो भी (उनके) पूछने पर महादेव ने कहा कि मोक्ष केवल बुद्ध के मार्ग पर (चलने से प्राप्त) होता है अन्य से नहीं। वे दोनों प्रसन्नतापूर्वक स्वदेश लौट चले। ब्राह्मण वेश-भूषा को उतार फेंक, उपासक की दीक्षा ग्रहण कर, समस्त मतों का विद्वत्तापूर्वक अध्ययन कर, बौद्ध और तैर्थिक (मत) की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता के भेदों का पृथक्करण करने के लिए मुद्गरगोमिन ने विशेषस्तव[1] और शंकरपति ने देवातिशयस्तोत्र[2] की रचना की। सभी बाजारों और राजमहलों में (इनका) प्रचार हुआ। प्रायः देशवासियों तक इनका गायन करते थे। दोनों भाई वज्रासन में ५०० श्रावक भिक्षुओं की जीविका का प्रबन्ध करते थे और नालन्दा में ५०० महायानियों का सत्कार करते थे। नालन्दा, पहले आर्य शारिपुत्र का जन्मस्थान है और अंत में शारिपुत्र तथा (उनके) ८०,००० अर्हत् अनुयायी सहित का निर्वाण प्राप्ति स्थान भी है। कालान्तर में ब्राह्मणों का गांव उजड़ गया। आर्य शारिपुत्र का एक स्तूप था जिसपर राजा अशोक ने एक विशाल बौद्ध मन्दिर बनवाकर उसकी महती पूजा की। तब बाद में पूर्ववर्ती ५०० महायानी आचार्यों ने परामर्श किया कि जहाँ आर्य शारिपुत्र का स्थान है (वहां) महायान धर्म की देशना की जाय, तो महायान का नितान्त प्रचार होगा और यदि मौद्गल पुत्र के स्थान पर (धर्म) उपदेश दिया जाय, तो मात्र शक्तिशाली होगा, पर धर्म की वृद्धि नहीं होने का निमित्त देखा। (परिस्थिति के अनुकूल) दोनों ब्राह्मण भाइयों ने आठ विहारों का निर्माण कराया जिनमें समस्त महायान की पुस्तकें रखी गयीं। इसलिए नालन्दा के विहार का प्रथम-प्रथम निर्माण करानेवाला (राजा) अशोक था। धार्मिक संस्थाओं का विस्तार करनेवाले ५०० आचार्य और मुदगरगोमिन (दो) भाई थे। (उन्हें) विकसित करनेवाले राहुल भद्र थे (और) सुविकसित करनेवाले थे नागार्जुन। महायान के चरमविकास की आरम्भकालीन १३वीं कथा (समाप्त)।

(१४) ब्राह्मण राहुल कालीन कथाएं।

तत्पश्चात् चन्दनपाल नामक राजा हुआ जिसने अपरान्त देश पर शासन किया था। कहा जाता है कि वह राजा १५० वर्षों तक जीवित रहा (और) लगभग १२० वर्ष (उसने) राज्य किया। देवालय और संघ की विशेष रूप से पूजा की। इसके अतिरिक्त (उसके द्वारा) बुद्ध शासन की ऐसी (कोई खास) सेवा करने की कथा नहीं है। उस समय ब्राह्मण इन्द्रध्रुव नामक उस राजा के एक मित्र ने देवेन्द्र की साधना की (और) सिद्धि मिलने पर (इन्द्र से) व्याकरण पूछा। उसने (इसकी) व्याख्या की जो लिपिबद्ध होने पर इन्द्रव्याकरण के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसमें २५,००० श्लोक हैं। यह देवदर्शित व्याकरण कहा जाता है। लगभग उस राजा के राज्यारोहण काल में महाचार्य ब्राह्मण राहुल भद्र[3] नालन्दा में आये। (वे) कृष्ण नामक भदन्त से उपसम्पन्न हुये और

१—ख्यद्-पर-ह्फगस्-व्स्तोत=विशेषस्तव। नं० ४६।
२—ल्ह-लस्-फुल-ब्युङ-बस्तोद-प=देवातिशयस्तोत्र। नं० १०३।
३—ग्र-ग्चन-ह्जिन-व्सङ-पो=राहुल भद्र। इनके दूसरे नाम सरोजवज्र और सरहपा भी हैं।

श्रावक पिटकों का अध्ययन किया। कहीं-कहीं यह भी कहा गया है कि वे भदन्त राहुलप्रभ से उपसम्पन्न हुये और इनके उपाध्याय कृष्ण हैं। यह कृष्ण उत्तराधिकारी (में अंतर्गत कृष्ण) नहीं है। यद्यपि (इन्होंने) आचार्य अवितर्क आदि कुछ आचार्यों से महायान धर्म भी श्रवण किया, लेकिन, मुख्यतः गुह्यपति आदि अधिदेवों से महायान सूत्र और तन्त्र श्रवण कर माध्यमिकनय का प्रचार किया। इन आचार्य के समकाल में भदन्त कमलगर्भ, घनसल आदि आठ महाभदन्तों का आविर्भाव हुआ जो माध्यमिक मत के उपदेष्टा थे। प्रकाश धर्ममणि नामक भदन्त को आर्य सर्वनिवरणविष्कम्भिन द्वारा साक्षात दर्शन देने पर (वह) लब्धानुत्पादधर्मक्षान्ति को प्राप्त हुआ। (वह) पाताललोक (=नागलोक) से आर्य महासमय[1] लाया जो १,००,००० पर्याय, १,००० परिवर्त का है। और भी पूर्ववर्ती ५०० आचार्यों के अनेक शिष्य भी अनेक सूत्र और तन्त्र लाये जिनका प्रचार पहले नहीं हुआ था। इस समय तक क्रिया-(तंत्र), चर्या-(तंत्र) और योग-तंत्र के सभी तंत्रवर्ग तथा गुह्यसमाज[2], बुद्धसमयोग[3], मायाजाल[4] इत्यादि अनेक प्रकार के अनुत्तरयोग तंत्र विद्यमान थे। उस समय के लगभग साकेत नगर में महावीर्य नामक भिक्षु, वाराणसी में वैभाषिक-वाद के महाभदन्त बुद्धदेव और काश्मीर में सौत्रान्तिक के महाचार्य भदन्त श्रीलाभ का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने श्रावकयान का प्रचार किया। भदन्त धर्मत्रात, घोषक, वसुमित्र और बुद्धदेव—ये चारों वैभाषिक के चार महाचार्य के नाम से प्रसिद्ध थे। कहा जाता है कि प्रत्येक के १००,००० शिष्य थे। वैभाषिक के आगम त्रिमिश्रकमाला और शतकोपदेश हैं जिनका उपर्युक्त महाचार्यों ने विकास किया। (उपर्युक्त) धर्मत्रात उदानवर्ग[5] का संग्रह-कार धर्मत्रात हैं। (उक्त) वसुमित्र भी शास्त्रप्रकरण के लेखक वसुमित्र हैं और समय-भेदोपरचनचक्र[6] के लेखक वसुमित्र और (इन) दोनों का नाम एक समान होने से एक (ही व्यक्ति होने) का भ्रम नहीं होना चाहिए। आर्य (नागार्जुन कृत) गुह्यसमाज के (अनुयायियों के) इतिहास के अनुसार ओडिविश देश में प्रादुर्भूत राजा विसुकल्प को राजा चन्दनपाल का समकालीन मानना चाहिए। उस समय कुरुदेश में धार्मिक नामक ब्राह्मण हुआ। उसने उस देश के आसपास १०८ बौद्धमन्दिरों का निर्माण कराया। हर महायान धर्म उपदेष्टा के लिए धर्मसंस्था की स्थापना की। हस्तनपुरी में योगिन नामक एक भोगसम्पन्न ब्राह्मण ने भी १०८ देवालय बनवाये और १०८ विनयधर उपदेशकों के लिए धर्मसंस्था स्थापित की। उस समय पूर्व दिशा के देश भंगल में राजा हरिचन्द्र का आविर्भाव हुआ जो चन्द्रवंश का आदिम है। मंत्रमार्ग के अवलम्बन से (उन्हें) सिद्धि मिली। (वह) अपने सभी प्रासादों को पंचविधरत्नों[7] से निर्मित प्रदर्शित करते थे, प्राचीर पर त्रिलोक के चित्र प्रतिबिम्बित करते थे (और) देवता के समकक्ष भोगसम्पन्न थे।

१—ह्फगस्-प-हदुस्-प-छेन-पो = आर्य महासमय। क० २१।

२—ग्सङ-ब-हदुस्-प = गुह्यसमाज। तं० ६६।

३—सङस्-र्गयस्-मञम-स्ब्योर = बुद्धसमयोग। तं० ५८।

४—स्ग्यु-ह्फ्रुल-द्र-व = मायाजाल। तं० ८३।

५—छेद-दु-ब्र्जोद-पइ-छोमस् = उदानवर्ग। क० ३९।

६—ग्शुङ-लुगस्-त्रिय-ब्ये-ब्रग-व्कोद-पइ-ह्खोर-लो = समयभेदोपरचनचक्र। त० १२७।

७—रिन-पो-छे-स्न-ल्ङ = पंचविधरत्न। स्वर्ण, रजत, मूंगा, फीरोजा और मोती।

(अंत में) अपने १,००० अनुचरों के साथ विद्याधर पद को प्राप्त हुए। कहा जाता है कि श्री सरह या महाब्राह्मण राहुल (ई० ७६८—८०६) जब ब्राह्मण धर्म का पालन करते थे (पूर्ववर्ती) ५०० योगाचार आचार्यों का अभ्युदय हुआ। अंत में उनके जीवन-काल में शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता[1] को छोड़ प्रायः महायान सूत्रों का उद्भव हुआ। ब्राह्मण राहुल कालीन १४वीं कथा (समाप्त)।

(१५) आर्य नागार्जुन द्वारा बुद्धशासन संरक्षण कालीन कथाएं।

तदनन्तर आचार्य नागार्जुन (१७५ ई०) ने शासन का संरक्षण कर माध्यमिक-नय का विशेष रूप से प्रचार किया (साथ ही) श्रावकों का भी बड़ा उपकार किया। विशेषकर संघ पर रोब जनाए हुए सभी दुःशील भिक्षुओं और श्रामणेरों को बहिष्कृत किया (जिनकी संख्या) लगभग ८,००० बतायी जाती है। (नागार्जुन ने) सब निकायों का अधिपतित्व किया। उस समय के लगभग भदन्त नन्द, भदन्त परमसेन और भदन्त सम्यक सत्य ने योगाचार विज्ञानमात्र का पंथ चलाया और अनेक शास्त्रों का भी प्रणयन किया। अभि (धर्म) में आलय के भाष्य के स्थल पर इन तीनों भदन्तों को पूर्ववर्ती योगाचारी से अभिहित किया जाने का कारण यही है कि असंग के सगे भाइयों को परवर्ती योगाचारी माना गया है, इसलिये (यह) उक्ति स्पष्टतया सूचित करती है कि (उक्त तीनों भदन्त) इनके अनुयायी नहीं हैं। आचार्य नागार्जुन ने श्री नालन्दा में ५०० महायान धर्मकथिकों की वर्षों तक रासायनिक प्रयोग द्वारा जीविका का प्रबन्ध किया। तब चण्डिका देवी की साधना करने पर किसी समय वह देवी आचार्य को आकाश में उठाकर देवलोक में ले जाने लगी, तो (आचार्य ने) कहा—"मैं देवलोक को जाना नहीं चाहता (पर) जबतक शासन की स्थिति रहेगी तबतक महायानी भिक्षुसंघ की जीविका की व्यवस्था करने के लिये (मैंने) तुम्हारी साधना की है।" ऐसा कहने पर वह (देवी) वैश्यभुद्राका रूप धारण कर नालन्दा के निकट पश्चिम दिशा में वास करने लगी। आचार्य ने मंजुश्री के एक अत्युच्च पाषाण-निर्मित मन्दिर के ऊपर खदिर का एक भारी खूँटा गाड़ दिया (जो एक) व्यक्ति द्वारा ढोये जाने लायक था और (देवी को) अनुदेश किया—"जब तक यह (कील) भस्म हो न जायगा तबतक तुम संघ के जीवन निर्वाह का प्रबंध करो।" (उसने) १२ वर्षों तक सब साधनों से संघ की आराधना की। अंत में (एक) दुष्ट सेवक श्रामणेर द्वारा उसके साथ संभोग करने के लिये बार-बार प्रयास करने पर भी वह मौन रही। एक बार (देवी ने) कहा—"जब यह खदिर का कील भस्म हो जायगा तब (मैं तुम्हारे साथ) संभोग करूंगी।" उस दुष्ट श्रामणेर ने खदिर के खूंटे को आग में जलाकर भस्म कर डाला तो देवी वहीं अन्तर्धान हो गई। तब आचार्य ने उसके बदले में १०८ मन्दिरों में १०८ महायान धर्म-संस्थाओं की स्थापना की। (प्रत्येक में) एक-एक महाकाल की मूर्ति बनवायी (और उन्हें) शासन की रक्षा करने का (भार) सौंप दिया। और भी जब किसी समय वज्रासन के बोधिवृक्ष को हाथी द्वारा क्षति पहुंचाने पर (आचार्य ने) बोधिवृक्ष के पीछे दो पाषाण-स्तम्भ खड़े कराये जिससे अनेक वर्षों तक (क्षति) नहीं हुई। फिर क्षति होने पर पाषाण-स्तम्भ के ऊपर सिंहारूढ़ (और) गदाधारी महाकाल की एक-एक मूर्ति बनवाई जिससे अनेक वर्षों तक (उसकी) रक्षा हुई। फिर क्षति होने पर चारों ओर पाषाण-वेष्टिका-वेदी से

1—शेर-फियन-ह्बुम-प=शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता। क० १२—१८।

घेरवा दिया । बाहर की ओर १०८ स्तूपों का निर्माण कराया (जिन पर) मूर्तियां (उत्कीर्ण) थीं । श्री धान्यकटक के चैत्य (के चारों ओर) प्राचीर खड़ा करवाया और प्राचीर के भीतर की ओर १०० देवालय बनवाये । जब वज्रासन की पूर्वदिशा में पानी से भारी क्षति हुई, तो सात चट्टानों पर मुनि की विशाल मूर्तियां खोदवायीं (और) बाहर की ओर उन्मुख कर बांध के रूप में स्थापित की जिससे पानी से क्षति दूर हुई । (ये मूर्तियां) सप्त छु-लोन के नाम से प्रसिद्ध हुईं । छु-लोन, बांध का नाम है, इसलिये यह कहना गलत है कि जल में परछाईं के पड़ने से हृद्र-लेन (=प्रतिबिम्ब) कहलाया है । यह कहना विनयागम के विरुद्ध है कि यह (घटना) राजा उदयन के दमनकाल में घटी । ये दोनों (कथन) अपनी अज्ञता को व्यक्त करते हैं । इनके समकाल में ओडिविश देश में राजा मुंजका (उनके) १,००० अनुचरों के साथ विद्याधर काय को प्राप्त होना, पश्चिम दिशा के मालवा के एक भाग में तोढ़हरि नामक प्रदेश में राजा भोजदेव का (अपने) १,००० परिकरों के साथ अन्तर्धान हो जाना आदि मंत्रमार्ग पर आरूढ़ सभी (साधकों) में सिद्धि न मिलने वाला कोई भी नहीं रहा । उस समय आर्य (नागार्जुन) के अनेक धारणी और शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता[1] की पुस्तक (नालन्दा में) लाए जाने पर श्रावकों ने कहा कि (उन ग्रन्थों की) रचना नागार्जुन ने की है । उसके बाद में महायान के (किसी) नवीन सूत्र का आगमन नहीं हुआ । (आचार्य ने) स्वभाववादी श्रावकों के विवाद के निराकरण के लिये पंचन्यायसंग्रह आदि की रचना की । तिब्बती इतिहासों में (यह) उल्लेख मिलता है कि भिक्षु शंकर नामक ने महायान का खंडन करने के लिये १,२००,००० श्लोकात्मक न्यायालंकार नामक शास्त्र का प्रणयन किया । लेकिन (यह) गलत उक्ति है । (क्योंकि) भारतीय तीन इतिहासों में समानरूप से उल्लेख मिलता है कि (यह शास्त्र) १२,००० श्लोकों में है । पूर्वदिशा में पटवेश या पुकम्, ओडिविश, भंगल (और) राधा देशों में भी (आचार्य ने) अनेक मन्दिर बनवाये । उस समय मगध के सुविष्णु नामक ब्राह्मण ने श्री नालन्दा में १०८ देवालय बनवाये । हीन (यान और) महायान के अभिधर्मों की सुरक्षा के लिये १०८ मातृकाधर[2] के धार्मिक संस्थाएं स्थापित कीं । आर्य नागार्जुन (अपने) अन्तिम जीवन (काल) में दक्षिण प्रदेश को गये जहां (उन्होंने) राजा उदयन को विनीत किया (और) अनेक वर्षों तक शासन का संरक्षण किया । दक्षिण दिशा के द्रविड़ देश में मधु और सुप्रमधु नामक ब्राह्मण रहते थे जो असीम भोगसम्पन्न थे । वे दोनों और आचार्य (नागार्जुन) ब्राह्मणधर्म पर शास्त्रार्थ करने लगे तो चार वेद और १८ विद्या आदि में आचार्य के ज्ञान के प्रतिशत कलाभाग को भी (दोनों) ब्राह्मण नहीं पहुंच सके । दो ब्राह्मणों ने पूछा--"(हे!) ब्राह्मणपुत्र ! (आप) तीनों वेदों[3] से युक्त (और) समस्त शास्त्रों में पारंगत होते हुए शाक्य-श्रमण क्यों हुए हैं ?" (आचार्य ने) वेदों क निन्दा और बौद्ध धर्म की प्रशंसा की तो (आचार्य के प्रति) अत्यधिक श्रद्धा कर (दोनों ने) महायान का सत्कार किया । आचार्य ने उन्हें विद्यामंत्र (का उपदेश) दिया तो पहले ने सरस्वती की सिद्धि प्राप्त की और दूसरे ने वसुधारा की । उन दोनों ने २५० महायान धर्मकथिकों का सत्कार किया । पहला (ब्राह्मण) प्रज्ञा शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता को एक या दो या तीन दिनों में लिख लेता था । अतः उसने भिक्षुओं को

१--शेर-फिन-स्तोङ-फग-ब्गयं-प = शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता । क० १२--१८ ।

२--म-मो-ह् जिन-प = मातृकाधर । अभिधर्म का ज्ञान रखनेवाला ।

३--रिग-ब्येद-गसुम-दङ-ल्दन-प = त्रिवेदसम्पन्न । ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद ।

(प्रज्ञापारमिता की) बहुत-सी पुस्तकें भेंट कीं। दूसरा सब साधनों से (भिक्षुओं की) आराधना करता था। तब आचार्य (नागार्जुन) ने श्रवण, व्याख्यान, ध्यान-भावना, मन्दिर-निर्माण, संघों का पालन-पोषण, अप्रजुर्यों का हित-सम्पादन, तैर्थिकों का वाद-निवारण इत्यादि हर प्रकार से सद्धर्म का रक्षण-पालन किया (और) महायान शासन की अनुपम सेवा की। महाब्राह्मण (=सरहपाद) और आर्यनागार्जुन की मूल जीवनी का उल्लेख रत्नाकरजोपमकथा में किया जा चुका है, इसलिए वहीं देख लें। राजा उदयन १५० वर्ष की आयु तक रहा। आचार्य (नागार्जुन के बारे में) दो मत उपलब्ध होते हैं कि (नागार्जुन) ६०० वर्षों में ७१ वर्ष कम अथवा २९ वर्ष कम की अवस्था तक जीवित रहे। पूर्ववर्ती (मत) की दृष्टि से २०० वर्ष मध्यदेश में, २०० वर्ष दक्षिणप्रदेश में और १२९ (वर्ष श्री पर्वत पर (नागार्जुन के) वास करने का जो उल्लेख मिलता है (वह) स्थूल हिसाब है। जो हो, मेरे गुरु पण्डितों का कहना है कि अर्द्धवर्ष की गणना एक वर्ष में की गई है। परवर्ती (मत) अनुसार भी और (बातों में) सामञ्जस्य है, किन्तु श्री पर्वत पर १७१ (वर्ष) वास करने की चर्चा की गई है। रसायन की सिद्धि पाने पर (आचार्य का) वर्ण मणि के सदृश हो गया। श्री पर्वत पर ध्यान-भावना करने पर प्रथम भूमि[1] प्राप्त कर (उनका) शरीर ३२ (महापुरुष) लक्षणों से सम्पन्न हो गया। इन आचार्य का मित्र आचार्य वररुचि नामक ब्राह्मण, राजा उदयन के पुरोहित के रूप में रहता था। उस समय राजा की एक कनिष्ठ रानी थोड़ा-बहुत सस्कृत का ज्ञान रखती थी और राजा नहीं जानता था। उद्यान में जलक्रीड़ा करते समय राजा ने उस पर जल छिड़काये, तो उसने कहा—"मोदकं देहि देव।" जिसका (अर्थ) तिब्बती में 'मुझ पर पानी मत छिड़काओ' होता है। राजा ने दक्षिण लोक भाषा के अनुसार तेल में पकाई गई पूरी खिलाओ (का अर्थ) समझकर (उसे) खिलाई तो रानी ने सोचा कि पशुतुल्य राजा के साथ रहने की अपेक्षा मर जाना ही श्रेष्ठ है और जब (वह) आत्म-हत्या करने पर तुल गई तो राजा ने (उसे) पकड़ लिया और ब्राह्मण वररुचि से (सस्कृत) व्याकरण भली प्रकार सीखा। लेकिन कुछ (अध्ययन) अधूरा रह गया (जिसे) आचार्य सप्तवर्म से पूर्ण कर लिया।

आचार्य वररुचि का वृत्तान्त—मगध की पूर्वदिशा में छगल देश में छः कर्मों[2] में उद्योग करनेवाला एक ब्राह्मण रहता था जो बुद्धशासन के प्रति अभिश्रद्धा रखता था। जब आर्य नागार्जुन नालन्दा के पीठस्थविर थे (उनसे उस ब्राह्मण की) मित्रता हो गई। उसने १२ वर्षों तक आर्यावलोकित के मंत्र का जप किया। अंत में ४००,००० स्वर्ण के साधनों से होम करने पर आर्यावलोकित ने साक्षात् दर्शन देकर पूछा—"तुम क्या चाहते हो?" उसने निवेदन किया "मैं अष्ट महासिद्धियों[3] द्वारा प्राणियों का

१—स-दङ-पो=प्रथमा भूमि। बोधिसत्त्व की दसभूमियों में से एक। इसको प्रमुदिता भी कहते हैं। द्र० दशभूमिशास्त्र त० १०४।

२—लस्-द्रुग=छः कर्म। यज्ञ करना, यज्ञ कराना, अध्ययन करना, अध्ययन कराना, दान करना और प्रतिग्रह करना।

३—ग्रुब-प-छेन-पो०-ब्रग्यद=अष्टमहासिद्धियां। खड्ग-सिद्धि, गुटिका-सिद्धि, अञ्जन-सिद्धि, पद-शृंग-सिद्धि, रसायन-सिद्धि, खचर-सिद्धि, अन्तर्धान-सिद्धि और पाताल-सिद्धि। ये सिद्धियां साधक को साधारण सिद्धि के रूप में प्राप्त होती हैं।

हित करना चाहता हूं, इसलिये महाकाल को (अपने) सेवक के रूप में चाहता हूं।" (आर्य ने) यथावत् अनुमति दी। तब से सभी विद्यामंत्रों की यथेच्छ सिद्धि होने लगी। उनके ८,००० लब्धसिद्धि (शिष्य) थे। प्रत्येक ने गुटिका आदि अष्टसिद्धियों द्वारा प्राणियों का उपकार किया। ये आठ हजार सिद्ध भी उन्हें अपना गुरु मानते थे। (आचार्य वररुचि को) समस्त विद्याओं का ज्ञान अनायास हो गया। तत्पश्चात् पश्चिम दिशा के देश में जा, राजा शांतिवाहन के यहां रहने लगे जो महाभोगवाला था। वहां भी मंत्र-तंत्र के प्रयोग से प्राणियों का हित सम्पादित करते थे। वाराणसी आये तो (उन्होंने) राजा भीमशुक्ल के देश में भी प्राणियों का बड़ा उपकार किया। उस समय कालिदास का वृतान्त लिखा। तब दक्षिण दिशा को चले गये। जब राजा उदयन ने (संस्कृत) व्याकरण सीखना चाहा, तो पाणिनि व्याकरण आदि का सम्पूर्ण ज्ञान रखनेवाला आचार्य नहीं मिला। पता लगा कि शेष नामक एक नाग राजा सम्पूर्ण पाणिनि (व्याकरण)) जानता है और ब्राह्मण वररुचि ने मंत्र प्रभाव से बुला, (उससे) एक लाख श्लोकों में सम्पूर्ण पाणिनि (व्याकरण) के अर्थ पर व्याख्या करायी। जब आचार्य (उसकी टीका) लिखते थे उन दोनों के बीच में पर्दा डाल देते थे। २५,००० श्लोकों के होने पर आचार्य ने इस (नाग की) देह कैसी होगी सोच, पर्दा को हटाकर देखा, तो एक विशाल (काय) नाग दिखाई पड़ा। नाग भी लज्जित हो, भाग खड़ा हुआ। इसके बाद आचार्य ने स्वयं टीका लिखी जिसमें केवल १२,००० श्लोक हैं। दोनों (भागों) के मिलित (ग्रंथ) नाग-दर्शित व्याकरण कहलाया। (आचार्य ने) वहां संस्कृत आदि अनेक विद्याओं की शिक्षा दी। कहा जाता है कि अंत में महाकाल अपने कंधे पर (आचार्य को) बैठाकर सुमेरु के शिखर कोविदार (नामक) स्थान को चले गये। राजा उदयन को आचार्य वररुचि द्वारा लिखी गई टीका पर विश्वास नहीं हुआ और सप्तवर्म (नामक) ब्राह्मण से षण्मुखकुमार की साधना करायी। साधना पूरी होने पर (षण्मुख ने) कहा "तुम क्या चाहते हो?" (उसने कहा कि—) "मैं इन्द्रव्याकरण जानना चाहता हूं।" "सिद्धोवर्ण समाम्नाय" कहते ही (सप्तवर्म को) व्याकरण के सम्पूर्ण अर्थ का ज्ञान हो गया। पहले तिब्बत में प्रचलित इतिहास के अनुसार कलाप की चतुर्थी परिभाषा तक षणमुखकुमार ने व्याख्या की। कलाप का अर्थ यद्यपि संचित अंश (है जो) विविध वर्ण की मोरपूछ का संचित अंश बताया जाता है। (लेकिन) यहां ऐसा नहीं कहा गया है। कलाप की रचना सप्तवर्म ने स्वयं की। संचित अंश से तात्पर्य है उपयोगी अशों का संचय। इसी प्रकार इन आचार्य का नाम ईश्वरवर्मा कहना भी गलत है और सर्ववर्म भी अशुद्धलिपि की परम्परा सा चला आ रहा है। सप्तवर्म (का अर्थ) सातकवच होता है।

कालिदास का वृत्तान्त--जब वाराणसी के राजा भीमशुक्ल के (यहां) ब्राह्मण वररुचि पुजारी के रूप में थे, राजकन्या वासन्ती ब्राह्मण वररुचि को दी गई। वासन्ती ने अभिमानवश कहा कि—"मैं वररुचि से अधिक पाण्डित्यसम्पन्न हूं, इसलिये उसकी सेवा नहीं करूंगी।" वररुचि ने उसे धोखा देने की सोच (राजा से) कहा—"मेरे एक आचार्य हैं जो मुझसे सौ गुना बुद्धिमान और पण्डित हैं। आप उन्हें आमंत्रित कर वासन्ती को उनके हवाले कर दें।" (वररुचि ने) एक स्वस्थ मगधवासी गोपाल को वृक्ष शाखा के सिरे पर बैठ शाखा के मूल को कुल्हाड़ी से काटता हुआ देखा और उसे अतिमूढ़ जानकर बुलाया। कुछ दिनों तक उसको खूब स्नान और उबटन कराया (और) ब्राह्मण पण्डित की वेश-भूषा धारण कराकर केवल 'ऊंस्वस्ति' (का उच्चारण करना) सिखाया। उसे बताया कि जनसमूह के बीच में बैठे हुए राजा पर फूल छिड़काकर 'ऊंस्वस्ति' का उच्चारण

करे और किसी के पूछने पर भी उत्तर न दे । (गोपाल ने) राजा के ऊपर फूल बरसाकर 'उशटर' कहा । आचार्य ने इन चार अक्षरों की व्याख्या आशीर्वाद में रूपान्तरित कर इस प्रकार की —

उमया सहितो रुद्रः शङ्कर सहितो विष्णुः ।
टङ्कार शूलपाणिश्च रक्षन्तु शिवः सर्वदा ॥

इस पद का तिब्बती भाषान्तर इस प्रकार है —

उमा समेत रुद्र, शंकर समेत विष्णु ।
टंकार शूलपाणि और शिव सदा रक्षा करें ।

तब वासन्ती द्वारा व्याकरण का अर्थ आदि पूछने पर भी (वह) मौन रहा तो वररुचि ने कहा कि मेरे ये पण्डित आचार्य स्त्री के पूछे गये (प्रश्न) का उत्तर नहीं देते हैं । यह कह (उसे) बेवकूफ बनाकर ब्राह्मण वररुचि दक्षिण की ओर भाग निकला । तब उस (गोपाल) को मन्दिरों के (दर्शनार्थ) ले जाया गया, लेकिन (वह) कुछ बोलता नहीं था । अंत में मन्दिर के बाहर अंकित विविध प्राणियों के चित्रों में (एक) गौ के चित्र पर (उसकी) दृष्टि पड़ी, तो प्रसन्नता के मारे (वह) चरवाही का भाव देने लगा । हाय, (विचारी को) अब पता चला कि यह तो गोपाल है और (उसे) धोखा दिया गया है । बुद्धिमान हो तो व्याकरण पढ़ाऊंगी कह (उसकी) परीक्षा की पर वह अक्ल का दुश्मन निकला । वासन्ती (उससे) घृणा करने लगी और प्रतिदिन (उसे)) फूल चुनने भेजा करती थी । मगध के किसी भाग में काली देवी की एक मूर्ति (पड़ी हुई) थी (जो) दिव्यकारीगर ने बनाई थी । (वह गोपाल) प्रतिदिन उस पर बहुत से फूल चढ़ाकर वन्दना और आदरपूर्वक प्रार्थना करता था । किसी समय वासन्ती की पूजा के समय वह (गोपाल) प्रातः फूल तोड़ने गया, तो वासन्ती की एक दासी विनोद के लिये सुपारी चबाते हुए काली देवी की मूर्ति के पीछे छिपकर बैठी थी । जब गोपाल पूर्ववत् प्रार्थना करने लगा, तो दासी ने सुपारी का बचा-खुचा (टुकड़ा गोपाल के) हाथ में थमा दिया । (उसने) यह तो देवी ने सचमुच दिया है सोच (उसे) निगल लिया । तत्काल (वह) प्रतिभाशाली बन जाने से तर्क, व्याकरण और काव्य का प्रकाण्ड विद्वान् हो गया । और दाएं हाथ में पद्म और बाएं हाथ में उत्पल लिये (उसने) इस अर्थ में—पद्म सुन्दर होने पर भी (उसकी) डंडी रूखी होती है (और) उत्पल (आकार में) छोटा होने पर भी (उसकी) डंडी कोमल होती है अतः, (दोनों में से) किसको चाहती है के अर्थ में यह कहा—

मेरे दाएं हाथ में कमल (है) और,
बाएं में उसी तरह उत्पल का फूल,
कोमल डंडीवाला या रुखी डंडीवाला,
जो चाहो (हे) पद्मलोचनी ग्रहण करो ।

यह कहने पर विद्वान बन गया जान (लोगों ने उसका) बड़ा आदर-सत्कार किया । काली देवी का परम भक्त होने के नाते वह कालिदास (के नाम) से प्रसिद्ध हुआ ।

तत्कालीन समस्त कवियों का (वह) शिरोमणि बन गया। उसने मेघदूत[1] आदि आठ दूत और कुमारसम्भव आदि अनेक महाकाव्य शास्त्रों की भी रचना की। यह और सप्तवर्म दोनों बाह्य (अबौद्ध) मतावलम्बी थे। उनके समय में, कांस्यदेश में संघवर्द्धन (नामक) अर्हत् का प्रादुर्भाव हुआ। और भी तुखार में आचार्य वामन, काश्मीर में कुणाल, मध्य अपरान्तक में क्षेमकर और पूर्वदिशा में आचार्य संघवर्द्धन जैसे वैभाषिकवादी आचार्यों का तथा पश्चिम दिशा में सौत्रान्तिक आचार्य भदन्त कुमारलाभ का आविर्भाव हुआ। प्रत्येक (आचार्य) के अनगिनत अनुचर थे। राजा हरिश्चन्द्र अपने परिवार के साथ प्रकाशमय शरीर को प्राप्त हुए, इसलिये उनकी परम्परा नहीं थी, और उन्हीं के पौत्र अक्षचन्द्र और जयचन्द्र ने राज्य किया। यद्यपि वे दोनों भी सद्धर्म के पुजारी थे, (तथापि इनके द्वारा बुद्ध) शासन की विपुल सेवा किये जाने का उल्लेख नहीं मिलता। दक्षिणदिशा में, राजा हरिभद्र ने १,००० परिषद् के साथ गुटिका की सिद्धि प्राप्त की। पहले महायान के विकास से लेकर अब तक शतसहस्र व्यक्तियों ने विद्याधर की पदवी प्राप्त की। लगभग उस समय में म्लेच्छधर्म का भी प्रथम-प्रथम उद्भव हुआ। सौत्रान्तिक (और) बहुश्रुत होने पर भी (बौद्ध धर्म पर) श्रद्धा नहीं रखनेवाला कुमारसेन का उदय हुआ। कुछ (लोगों) का कहना है कि (इसका) प्रादुर्भाव काश्मीर में भदन्त श्रीलाभ के निधन के समय में हुआ और कुछ का कहना है कि (यह) भदन्त कुणाल का शिष्य है। (अपनी) दुःशीलता के कारण संघ ने उसको बहिष्कृत किया, जिससे बड़ा कुपित हो, (उसने यह दावा किया कि 'मैं) बुद्धशासन का मुकाबला करने में सामर्थ्य रखनेवाले धर्म (ग्रंथ) की रचना करूंगा।" कह, तुखार के पीछे गुलिक नामक देश को चल दिया। (उसने अपना) नाम बदलकर मामथर रखा (और) वेशभूषा बदलकर, हिंसा धर्मवादी म्लेच्छों का धर्म (ग्रंथ) रचा जिसे असुर जाति के (एक) प्रेत बिसमिल्लाह के निवास पर छिपाकर रखा। मार के प्रभावित करने से (उसने) संग्रामविजय आदि अनेक मंत्रों की सिद्धि प्राप्त की। उस समय खोरसन देश में एक ब्राह्मण कन्या प्रतिदिन बहुत से फूल चुन, ढेर लगाकर, देवता की पूजा-अर्चा करती थी (और फिर उन फूलों को) दूसरों को भी बेचती थी। एक बार फूलों के ढेर में से एक बिड़ाल के निकल, (उसके) शरीर में प्रविष्ट हो जाने पर (वह) गर्भवती हो गई। समय पर (उसने) एक पुष्ट शिशु को जन्म दिया। बड़ा होने पर (वह) अपने सभी समवयस्क बालकों की मार-पीट करता था और सभी जीवजन्तुओं को जान से मार डालता था। देश के मालिक ने (उसे) निष्कासित किया। वहां भी (वह) हर आदमी को पराजित करता और कुछ (लोगों) को अपना दास बनाकर रखता था। नाना प्रकार के वन्य पशुओं और जीवों का वध कर (उनके) मांस, हड्डियां और छाल लोगों को देता था। तब राजा को (यह बात) मालूम हुई और पूछ-ताछ कराने पर उसने कहा—"मैं न ब्राह्मण हूं, न क्षत्रिय, न वैश्य और न शूद्र ही। मुझे (किसी ने) जाति-धर्म नहीं दिया है, इसलिये (मैं) क्रोध से दूसरों को मारता हूं। यदि (मुझे) जातीय धर्म देनेवाला कोई हो, तो (मैं) उसका कर्त्तव्य पालन करूंगा।" (राजा ने पूछा) "तुम्हें कुलधर्म देनेवाला कौन है?" (उसने कहा –) "मैं स्वयं खोज निकालूंगा।" स्वप्न में मार के आकाशवाणी करने पर, पहले छिपायी गयी पुस्तक (उसको) मिली। उस (पुस्तक) को पढ़ा, तो (उसकी) उस (पुस्तक) पर आस्था हो गई और सोचा—"ऐसा उपदेश (मुझे) कौन देगा?" फिर मार के आकाशवाणी करने पर स्वयं मामथर से (उसकी) भेंट हो गई और (उससे उक्त पुस्तक की) शिक्षा ग्रहण की। इतने ही से (उसको) मंत्र की सिद्धि

१—स्प्रिन-ग्यि-फो-ञ्= मेघदूत। तं० १४०।

भी मिली और वह अपने १,००० अनुचरों के साथ पैखम्प नामक म्लेच्छों का ऋषि बन गया। मख नगर के पासवाले देश में जा, उसने ब्राह्मणों और क्षत्रियों को मिथ्याधर्म की देशना की, जिसके परिणामस्वरूप सैता और तुरुष्क राजाओं का वंश प्रादुर्भूत हुआ। यह उपदेशक अर्धो के नाम से प्रसिद्ध हुआ। म्लेच्छ धर्म का आरम्भिक उद्भव इस प्रकार हुआ। आर्य नागार्जुन द्वारा (बुद्ध) शासन संरक्षण कालीन १५वीं कथा (समाप्त)।

(१६) (बुद्ध) शासन पर शत्रुओं का पहला आक्रमण और (उसका) पुनरुत्थान।

राजा अक्षचन्द्र और जयचन्द्र (११७० ई०) नामक दो (राजा) अपरान्तक देश में शासन करते थे, और (ये) शक्तिशाली एवं त्रिरत्न का गुरुकार करने के नाते सात चन्द्र नामक (राजाओं) में गिने जाते हैं। जयचन्द्र का बेटा नेमचन्द्र, उसका बेटा फणिचन्द्र, उसका बेटा भंसचन्द्र (और) उसका बेटा सालचन्द्र अधिक शक्तिशाली नहीं थे, इसलिये सात चन्द्र या दशचन्द्र किसी में भी नहीं गिने जाते हैं। राजा नेमचन्द्र के द्वारा राज्य करने के अचिर में ही राजा के पुरोहित पुष्यमित्र नामक ब्राह्मण ने विद्रोह कर दिया और जब वह (पुरोहित) राज्य कर रहा था, उसकी रिश्तेदार एक बुढ़िया किसी कार्यवश नालन्दा गई। (वहां) घंटी की आवाज में 'फट्टय' की आवाज हुई। शब्दविद ब्राह्मणों ने (उसकी) परीक्षा की, तो 'दुष्ट तैथिकों के मस्तिष्क को पराजित करो' की आवाज थी। पहले तिब्बती वर्णन के अनुसार ऐसा कहा जाता है कि : "देवों, नागों और ऋषियों द्वारा पूजित त्रिरत्न के इस कोष के बजाने से दुःशील तैथिकों का मस्तिष्क शुष्क हो जाता है।" घंटी की आवाज में हुगेमस् (=फट) होने का अर्थ है अनेक टुकड़ों में खण्डित होना। भोटभाषा में हुगेमस् (=फट) का अर्थ शुष्क बताना तो हास्यास्पद है। ब्राह्मण (कुल) का राजा पुष्यमित्र आदि तैथिकों ने चढ़ाई कर, मध्यदेश से जालन्धर तक के अनेक विहारों को जला दिया। कुछ बहुश्रुत भिक्षुओं का भी वध किया। अधिकांश परदेश में भाग गये। पांच वर्ष पश्चात् उत्तर दिशा में उस (=पुष्यमित्र) की मृत्यु हो गई। जैसा कि कहा गया है कि ५०० वर्ष बुद्धशासन का उत्थान और ५०० (वर्ष) पतन का समय है। नागार्जुन के मध्यदेश में शासन का संरक्षण करते (समय) आगम-शासन (का युग था) और मन्दिर-निर्माण आदि में वृद्धि होते जाने से उत्थान (का समय) था। नागार्जुन के द्वारा दक्षिण-प्रदेश में जगत् हित करने के समय के लगभग म्लेच्छ-धर्म का आरम्भ हुआ। प्रतीत होता है कि (नागार्जुन के) श्री पर्वत पर निवास करते समय ब्राह्मण राजा पुष्यमित्र ने (बौद्धधर्म को) जो क्षति पहुंचाई वह स्पष्टतया (बुद्धशासन के) पतन का आरम्भ हुआ था। तत्पश्चात् राजा फणिचन्द्र मगध में राज्य करता था। उस समय पूर्वी भंगल के अन्तर्गत गौड नामक (देश) में गौडवर्धन नामक राजा हुआ, जो महा भोगवाला और बड़ा प्रतापी था। उसने पिछले सभी विहारों का जीर्णोद्धार किया (और) धर्म संस्थाओं का विकास किया। स्थविर सम्भूति ने शासन का बड़ा उपकार कर श्रावक पिटक का विकास किया (तथा) मगध में ६० धार्मिक संस्थाओं की स्थापना की। उस समय पश्चिम दिशा के मुलतान के बागद नामक नगर में हल्लु नामक फारस का राजा हुआ जो म्लेच्छों के उपदेष्टा का अनुयायी था। वह १,००,००० अश्व रखनेवाला शक्तिशाली हुआ। कहा जाता है कि भारतवर्ष में म्लेच्छों का जन्म (इसी से) आरम्भ हुआ। राजा भंसचन्द्र के जीवन के उत्तर (काल) में और सालचन्द्र के (जीवन) काल में, पूर्वदिशा में काशि जात नामक ब्राह्मण हुआ। (उसने) पिछले सभी धार्मिक संस्थाओं का सादर-सत्कार किया। विशेषकर, भंगल के स्वनरधवा नामक नगर में ६४ धर्म-भाणकों (का संठन

किया) और प्रत्येक को दस-दस धर्म-श्रोताओं सहित भोजन दान किया (तथा) शासन का पुनरुद्धार किया। ये (घटनाएं) आचार्य नागार्जुन के श्री पर्वत पर निवास करते समय और उसके अचिर काल में हुई। शासन पर शत्रु का प्रथम आक्रमण और (उसके) पुनरुद्धार की १६वीं कथा (समाप्त)।

(१७) आचार्य आर्यदेव आदि कालीन कथाएं।

तब राजा सातवन्द्रगुप्त का आविर्भाव हुआ। वह बड़ा शक्तिशाली होने से दसचन्द्रों में गिना जाता है। (वह) पाप (और) पुण्य मिश्रित रूप से करता था। बुद्ध की शरण में नहीं जाने से (वह) सातचन्द्रों में नहीं माना जाता है। इस राजा के (जीवन) काल में श्री नालन्दा में आचार्य आर्यदेव (२०० ई०—२२८ ई०) और आचार्य नागाह्वय ने शासन का विपुल रूप से संरक्षण किया। तिब्बती जनश्रुति के अनुसार आचार्य आर्यदेव का जन्म सिंहल-द्वीप के राजा के उद्यान में कमलगर्भ से हुआ था। राजा ने अपने पुत्र के रूप में (उनका) पालन-पोषण किया। अन्त में आचार्य नागार्जुन का शिष्यत्व ग्रहण कर, आचार्य नागार्जुन के जीवनकाल में (इन्होंने) तैर्थिक दुर्दजकाल का दमन किया। कुछ (लोगों) का कहना है कि इसके अतिरिक्त (आर्यदेव ने) सिद्धकर्णरिप सरीखे नागार्जुन के जीवनकाल में ही प्रकाशमय शरीर को प्राप्त किया। तिब्बती में जो कोई बात सर्व-साधारण में प्रचलित हो तो वह चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध (लोग उसका विश्वास कर लेते हैं तथा) और कोई सर्वथा सत्य की बात कहने पर भी (लोगों के) कानों में अप्रिय लगती है और हृदय में असुख (पैदा होता है। सच पूछिए, तो आचार्य चन्द्र-कीर्ति ने भी चतुःशतक की टीका में (आर्य देव को) सिंहलद्वीप का राजकुमार बताया है। आर्यदेश के प्रामाणिक इतिहास में भी ऐसा ही उल्लेख किया गया है, अतः ऐसा ही वर्णन किया जायगा। सिंहलद्वीप के पंचश्रृंग नामक राजा को एक सुलक्षण-सम्पन्न पुत्र हुआ। बड़ा होने पर (उसे) युवराज-पद पर बैठाया गया; पर (वह) प्रव्रजित होने को अधिक उत्सुक था। वह हेमदेव नामक उपाध्याय से प्रव्रजित और उपसम्पन्न हुआ। समस्त त्रिपिटक का ज्ञान हो जाने पर (वह) विभिन्न देशों के मन्दिरों और स्तूपों के दर्शनार्थ जम्बूद्वीप की ओर रवाना हुए। आचार्य नागार्जुन का जब राजा उदयन के यहां से श्री पर्वत जाने का समय हुआ प्रायः उसी समय (उनसे) भेंट हुई। (इन्होंने) श्री पर्वत पर आचार्य (नागार्जुन) के चरणों में रह, रसायन आदि की अनेक सिद्धियां प्राप्त की। अंत में (नागार्जुन) ने (इन्हें) शासन भी सौंप दिया। आचार्य नागार्जुन के निर्वाण के पश्चात् (आर्य-देव ने श्री पर्वत के) आसपास के दक्षिण प्रदेशों में शिष्यों (को उपदेश) और श्रवण-व्याख्यान आदि के द्वारा प्राणियों का हित सम्पादित किया। पर्वत देवता और वृक्षदेव आदि से साधन ग्रहण कर २८ विहारों का निर्माण किया। यक्षिणी सुभगा की आर्थिक सहायता से (आचार्य ने) उक्त सभी (विहारों) में एक-एक महायान धर्मसंस्था स्थापित की। उस समय पूर्वदिशा के नलिन के खोट नामक नगर में प्रादुर्भूत दुर्दजकाल (नामक) ब्राह्मण देश-देश में जा, शास्त्रार्थ के द्वारा बौद्धधर्म को परास्त कर, श्री नालन्दा में पहुंचा तो बौद्धों को शास्त्रार्थ करने का साहस नहीं हुआ और आचार्य आर्यदेव को आमंत्रित करने के लिये सन्देश लिखकर महाकाल को बलि (=अन्न का बना हुआ) चढ़ाया। महा-काल की एक प्राकृतिक पाषाण-मूर्ति के वक्ष-स्थल से एक काक निकल आया। उसकी गर्दन में (सन्देश) पत्र बांध दिया गया और उसने उड़कर दक्षिण प्रदेश में जा, आचार्य को (पत्र) सौंपा। आचार्य भी (उस दुर्दजकाल के) दमन का समय जान, पद-श्रृंग-द्रव्य[1]

[1]—कंङ-मग्योगस-जंस्=पद-श्रृंग-द्रव्य। अष्टसिद्धियों में एक है, जिसकी सिद्धि प्राप्त कर लेने पर बड़ी द्रुत गति से चला जा सकता है।

के द्वारा इस ओर आ रहे थे। मार्ग में एक तैर्थिक जाति की स्त्री को सिद्धि (प्राप्ति के) साधन के लिये (एक) पण्डित भिक्षु के नेत्र की आवश्यकता हुई और (उसने आचार्य का एक नेत्र) मांगा तो (उन्होंने अपना एक नेत्र) दे दिया। (और फिर) एक प्रहर की अवधि में नालन्दा पहुंचे। वहां तैर्थिक के समर्थक भगिनी पण्डित[1], सुग्गा[2] और खटिक[3] का उपासक काकोल[4], बिड़ाल[5] और तैलघट[6] के द्वारा दमन किया गया। चारों ओर मंत्रबद्ध कर फटे-पुराने कपड़े आदि से आवेष्टित करने के कारण स्वयं महेश्वर (उस तैर्थिक के) अन्तःकरण में प्रवेश न कर सके। लम्बे अरसे तक शास्त्रार्थ करने पर भी आचार्य ने उसे तीन बार पराजित किया। वह मंत्र के बल पर आकाश मार्ग से भागने का प्रयास करने लगा, तो आचार्य ने उसका मंत्र प्रभावहीन किया और (उसे) धर-पकड़ कर एक विहार में नजरबंद कर रखा। (विहार के भीतर सुरक्षित) पुस्तकों को पढ़ने पर (उसने) उस सूत्र को देखा जिसमें (भगवान बुद्ध ने) उसकी भविष्यवाणी की थी। यह देखकर (वह) पहले (अपने द्वारा बुद्ध) शासन के प्रति किये गये अ-कृत्य पर पछताने लगा। बुद्ध के प्रति (उसे) अत्यधिक श्रद्धा उत्पन्न हुई और प्रव्रजित हो, अचिर में ही त्रिपिटकधारी बन गया। तब आचार्य आर्यदेव नालन्दा में भी दीर्घकाल तक रहे। अन्त में फिर दक्षिण-प्रदेश जा, प्राणियों का विपुल उपकार किया और कांची के पास रगनाथ में राहुलभद्र को शासन सौंप, निर्वाण प्राप्त हुए।

आचार्य आर्यदेव के समकालीन आचार्य नागाह्वय को दक्षिण-प्रदेश में नागों ने आमंत्रित किया। इनका मौलिक नाम तथागतगर्भ है। (ये) नागलोक में सात बार गये। अनेक महायान सूत्रों की व्याख्या की और विज्ञान (वादी) माध्यमिक का थोड़ा-बहुत प्रचार किया। तिब्बती में अनूदित त्रिकायस्तुति[7] भी इन्हीं आचार्य की कृति है। विशेषकर इन्होंने गर्भस्तुति नामक शास्त्र का भी प्रणयन किया। उस समय दक्षिण-प्रदेश के विद्या-नगर आदि प्रायः (प्रदेशों) में तथागतगर्भसूत्र की गाथाएं[8] का नगर की बच्चे-बच्ची तक गायन करती थी। शासन का इतना विकास करने के बाद पुनः दीर्घकाल तक नालन्दा के प्रशासक रहे। ये आचार्य भी नागार्जुन के शिष्य थे। फिर पूर्वी भंगल देश के दो बुजुर्ग ब्राह्मण दम्पति के एक बेटा था। (वे) गरीब थे। आचार्य नागार्जुन के द्वारा बहुत से स्वर्ण दान करने पर (वे आचार्य के प्रति) अत्यधिक श्रद्धा करने लगे और तीनों

१—स्रिङ-मो-पण्डित।

२—ने-चो।

३—थोद-लें-कोर।

४—द्गे-ब्स्त्रेन-ङो-छ-मेद-प।

५—ब्यि-ल।

६—मर-नग-गि-बुम-प।

७—स्कु-ग्सुम-ल-ब्स्तोद-प = त्रिकायस्तुति। त० ४६।

८—दे-ब्शिन-ग्शेगस्-पहि-स्ञिङ-पोहि-म्दो। क० ३६।

(उनके) शिष्य बन गये । पुत्र ने आचार्य का उपस्थाक (=सेवक) बन रस रासायनिक की सिद्धि भी प्राप्त की । प्रव्रजित हो, त्रिपिटक का पण्डित बना और वह आचार्य नागबोधि कहलाया । इन्होंने आचार्य नागार्जुन के जीवन पर्यन्त उनकी सेवा की । (नागार्जुन के) निधन के बाद (उन्होंने) श्रीपर्वत के किसी स्थान में एक गहरी गुफा में रह, एकाग्र (चित्त) से ध्यान-भावना की और १२ वर्ष में (उन्हें) महामुद्रा परमसिद्धि प्राप्त हुई । (वह अपनी) आयु सूर्य-चन्द्र के समान (दीर्घकाल तक कायम रखते हुए) उसी स्थान में निवास करते रहे । (उनके) दो नाम हैं—नागबोधि और नागबुद्धि । फिर सिद्ध शिङ्खप नामक प्रादुर्भूत हुए । जब आचार्य नागार्जुन १,००० अनुचरों के साथ उत्तर दिशा के उशीरगिरि में प्रवास कर रहे थे, तो (उनके) एक मंदबुद्धिवाला शिष्य (था जो) अनेक दिनों में भी एक श्लोक तक कण्ठस्थ न कर सकता था । (आचार्य ने) व्यंग के रूप में (उसे अपने) सिर पर सींग निकले हुए की भावना करने को कहा और उसने भावना की तो भावना की अति तीव्रता से तत्काल (उसने) स्पर्श (और) दृष्टि (ज्ञान) का निमित्त सिद्ध कर अपनी बैठने की गुफा से सींग अटकने लगे । तब आचार्य ने (उसे) तीक्ष्णबुद्धिवाला जान, फिर सींग के लुप्त होने की भावना करायी तो लुप्त हो गये । (आचार्य ने) उसको निष्पन्नक्रम[1] के कुछ भेद की देशना कर भावना करायी तो उसने अचिर में ही महामुद्रा की सिद्धि प्राप्त की । तब आचार्य ने अपने अनुचरों के साथ छः माह तक पारारसायन की साधना की । साधना पूरी होने पर (आचार्य ने) प्रति शिष्य को रासायनिक गोलियां वितृत कीं, तो उक्त (शिष्य) गुटिका को सिर नवाकर, यत्र-तत्र फेंक कर चलने बना । आचार्य ने कारण पूछा तो (उसने) कहा "मुझे इसकी आवश्यकता नहीं है । यदि आचार्य को ऐसी (गोलियों) की आवश्यकता है तो पात्रों में जल भरवाने की तैयारी करें । वहां १,००० बड़े-बड़े मद्यपात्रों में पानी भरवाकर उस जंगल में रखे गये । उसी के मूत्र की एक-एक बूंद उन बर्तनों में डाले जाने पर वे सब रसायन बन गये । आचार्य नागार्जुन ने उन सब को उस पर्वत के एक भाग में किसी दुर्गम गुफा में छिपा कर रखा (और इन रसायनों से) भावी प्राणियों का हित करने के लिये प्रणिधान किया । उस मंदबुद्धिवाले सिद्ध को शिङ्खप कहलाया । यद्यपि निश्चय है कि महान आचार्य शाक्यमित्र (८५० ई०) भी आचार्य नागार्जुन के शिष्य थे; पर (इसका कोई) वृत्तान्त देखने-सुनने में नहीं आया है । महासिद्ध शावरि का उल्लेख रत्नाकरजोपम कथा में किया जा चुका है । नागार्जुन पिता-पुत्र (=नागार्जुन और आर्यदेव) के शिष्य कहलानेवाले सिद्ध मातंग का प्रादुर्भाव भी उस समय नहीं हुआ था; बाद में उनके दर्शन हुए । आचार्य आर्यदेव आदि कालीन १७वीं कथा (समाप्त) ।

(१८) आचार्य मातृचेट आदिकालीन कथाएं।

तत्पश्चात् राजा चन्द्रगुप्त का पुत्र बिन्दुसार नामक राजा का प्रादुर्भाव गौडदेश में हुआ, (जिसने) ३५ वर्ष राज्य किया । आचार्य चाणक्य नामक ब्राह्मण ने महाक्रोध यमान्तक[2] की साधना की और (जब) दर्शन मिले, तो (वह) विद्यामंत्र में अत्यन्त प्रभावशाली बन गया । (उसने) लगभग १६ महानगरों के राजाओं और मंत्रियों का अभिचार-कर्म द्वारा वध किया । उसके बाद राजा ने युद्ध किया और पूर्व-पश्चिम (तथा) बाह्य समुद्र

१—जोंगम्-रिम=निष्पन्नक्रम=सम्पन्नक्रम ।

२—ज्ञो-वो-छेन-पो-ग्शिन-जें-ग्शेद्=महाक्रोध यमान्तक । तं० ८० ।

पर्यन्त शासन किया। उस ब्राह्मण ने मारण-कर्म के द्वारा लगभग ३,००० व्यक्तियों का वध किया (और) उच्चाटन से १०,००० मनुष्यों को पागल बनाया। उसी प्रकार मोहन, विद्वेषण, स्तम्भन, निर्वाककरण इत्यादि द्वारा अनेक व्यक्तियों का अनिष्ट किया। इस पाप से (वह) शरीर के टुकड़े-टुकड़े फटने के रोग से मरकर नरक में उत्पन्न हुआ। राजा ने उस समय कुसुमपुर में कुसुमालंकृत नामक विहार बनवाया जिसमें रह, महाचार्य मातृचेट ने महायान (और हीनयान का विपुल प्रचार किया। आचार्य मातृचेट के जीवन के उत्तरार्द्ध (काल) में बिन्दुसार के भाई के लड़के राजा श्री चन्द्र ने राज्य किया। (इसने) आर्यावलोकितेश्वर का एक मन्दिर बनवाया जिसमें २,००० महायानी भिक्षुओं के जीवननिर्वाह की व्यवस्था की। श्री नालन्दा के पीठस्थविर राहुल भद्र थे। वहां १४ गंधकुटियों का निर्माण कराया (और) साथ ही १४ भिन्न-भिन्न धर्म-संस्थाओं की स्थापना की। राजा श्रीचन्द्र के राज्य करते अनेक वर्ष बीतने पर पश्चिम टिलि और मालवा देशों में एक युवक राजा कनिक को सिंहासन पर बैठाया गया और २८ बहुमूल्य की खानों के आविष्कृत होने से (वह) महान वैभवशाली बना। चार दिशाओं में एक-एक विहार का निर्माण कराया और महायान (तथा) हीनयान के ३०,००० भिक्षुओं का नित्य सत्कार करता था। इसलिये राजा कनिष्क और कनिक (को) भिन्न-भिन्न समझना चाहिए। आचार्य मातृचेट (उपर्युक्त) ब्राह्मण दुर्दर्जकाल ही है (जिसके बारे में) ऊपर कुछ कहा गया है। शूर, अश्वघोष[1], मातृचेट, पितृचेट, दुर्दर्जकाल, धार्मिकसुभूति और मतिचित्र (ये संज्ञाएं) पर्याय नाम हैं। खोर्त नगर में एक सेठ के १० बेटियां थीं। वे सभी शरणापन्न, पंचशील में प्रतिष्ठित और (त्रि) रत्न[2] की पूजा करनेवाली थीं। उनका भिन्न-भिन्न देशों के महाजनों से ब्याह कर दिया गया। कनिष्ठ बेटी का विवाह (किसी) महाभोगवाले संघगुह्य नामक ब्राह्मण से कर दिया गया। किसी समय (उसे) एक पुत्र उत्पन्न हुआ (जिसका) नाम काल रखा गया। वह समस्त वेद और वेदांग[3] में निष्णात हो गया और माता-पिता का बड़ा आदर करने के नाते मातृचेट और पितृचेट के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मंत्र-तंत्र और तर्क में प्रवीण होने के बाद महेश्वर ने (उसे) साक्षात दर्शन दिये। तब (उसने) शास्त्रार्थ के गर्वपूर्वक ओडिविश, गौड, तिरहुत, कामरूप इत्यादि देशों में बौद्धों को शास्त्रार्थ में परास्त किया। किसी को तैर्थिक में परिणत करना, किसी की शक्ति छीन लेना और किसी से तैर्थिकों को प्रणाम कराना इत्यादि (से उसने बौद्धों का) अपमान किया। (उसकी) मां ने विचारा—"यदि यह नालन्दा जाये, तो (वहां) तर्कपुंगव, मंत्रसिद्ध लोग (इसको) विनीत कर (बौद्ध) धर्म में दीक्षित करेंगे।" (यह) सोच (मां ने) कहा—"अन्य देशों के बौद्धों (की संख्या) अश्वकर्ण के रोवें के बराबर (है और) मगध के बौद्ध अश्व के शरीर के समान (हैं)। (अतः,) जबतक (तुम) मगध के बौद्धों को शास्त्रार्थ में विजित नहीं करोगे तबतक (तुम्हें) शास्त्रार्थ की ख्याति नहीं मिलेगी।" (उसके) मगध की यात्रा से लेकर प्रव्रजित होने तक का (वृत्तान्त) पूर्ववत् (है)। वहां जब (वह) पिटकधारी स्थविर हो गया, स्वप्न में आर्या (तारा) ने व्याकरण किया और यह कह कर प्रेरित किया—"तुम बुद्ध की

१—बु-स्तोन के अनुसार भी अश्वघोष का दूसरा नाम मातृचेट था।
(History of Buddhism by Bu-ston, p. 130)

२—द्कोन-म्छोग-ग्सुम=त्रिरत्न। बुद्धरत्न, धर्मरत्न और संघरत्न।

३—रिग-ब्येद-यन-लग=वेदांग। वेदांग छः हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दशास्त्र और ज्योतिष।

अनेक स्तुतियों की रचना करो (ताकि) पहले (बौद्ध) धर्म के प्रति किये गये पाप-कर्म के आवरण की शुद्धि हो जाय।" (उसने पाप) देशना के लिये स्तुत्य की स्तुति[1] की रचना की। कहा जाता है कि (उन्होंने) और भी बुद्ध की (एक) सौ स्तुतियों की रचना की। स्तुतियों में श्रेष्ठ शतपंचाशतक[2] है। जिस समय मातृचेट बुद्धशासन में प्रविष्ट हुआ उस समय चार दिशाओं के विहारों में तीर्थंकर और ब्राह्मण भारी संख्या में प्रव्रजित हुए। ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ दुर्दर्जकाल ने भी अपने सिद्धान्त को श्लेष्मा की तरह फेंक बुद्धशासन में प्रवेश किया है, तो निश्चय ही यह बौद्धधर्म आश्चर्यजनक है। यह कह श्री नालन्दा में ही १००० से अधिक ब्राह्मण प्रव्रजित हुए और उतनी (ही संख्या में) तीर्थंकर भी। यह आचार्य (=अश्वघोष) महापुण्यवान् होने से (जब) प्रतिदिन नगर में भिक्षाटन करने जाते थे, तो (उन्हें) प्रचुर (मात्रा में) भोजन प्राप्त होते थे और (इससे) २५० ध्यानियों (साधक) और २५० पाठकों (कुल) ५०० भिक्षुओं का पोषण करते थे। इन आचार्य द्वारा रचित स्तुतियों की उतनी ही प्रतिष्ठा है जितनी बुद्धवचन की। क्योंकि स्वयं जिन ने स्तुति की रचना करने का व्याकरण किया था। उनके द्वारा रचित सभी स्तुतियों का सब देशों में प्रचार है। गायक और विदुषक भी (इसका) पाठ करते थे, इसलिये सभी देशवासी बुद्ध के प्रति अनायास श्रद्धा करते थे। मात्र स्तुतियों (की रचना) से (बुद्ध) शासन के विकास में बड़ा योगदान मिला। जीवन के उत्तरकाल में (जब) राजा कनिक ने आचार्य को निमंत्रण देने के लिये दूत भेजा, तो (आचार्य अश्वघोष) अतिवृद्ध होने के कारण जाने में अशक्त हुए और सन्देश-पत्र द्वारा राजा को (बौद्ध) धर्म में प्रतिष्ठित किया। आचार्य ने ज्ञान प्रिय नामक अपने शिष्य (को) उक्त राजा को धर्मोपदेश करने के लिये भेजा। (आचार्य अश्वघोष ने) केवल सूत्र आदि पुस्तकों में विद्यमान (कथाओं) की अपेक्षा न कर उपाध्यायों और आचार्यों के श्रुति-परम्परागत दस जातकों (को) दस पारमिताओं[3] से मिलाकर रचने की इच्छा की और जब ३४ सर्ग समाप्त हुए तो (उनका) देहावसान हो गया। किसी-किसी इतिहास में उल्लेख प्राप्त होता है कि (अश्वघोष ने सोचा—"यदि) बोधिसत्व (भगवान बुद्ध) ने (अपना) शरीर (भूखी) बाघिन को उत्सर्ग किया था, तो मैं भी कर सकता हूं।" (फिर उन्होंने) विचारा कि—"क्या (यह) दुष्कर क्रिया तो नहीं है?" और किसी समय (उन्होंने) ऐसी ही (एक) प्रसूता, भूखी व्याघ्री को देखा (और अपना) शरीर दान करने लगे तो (उन्हें) कुछ असाहस हुआ। इसके कारण बुद्ध के प्रति और अधिक श्रद्धा उत्पन्न हो, ७० (श्लोकों का) प्रणिधान अपने खून से लिखा और बाघों को पहले खून पिलाकर कुछ-कुछ पुष्ट हुए, तो अपना शरीर उत्सर्ग कर दिया। कुछ (लोगों) का कहना है कि इस प्रकार का (साहसपूर्ण) कार्यकरने वाले आचार्य परहित स्वरकान्तार का आविर्भाव आचार्य मातृचेट के बाद हुआ। (अश्वघोष ने) प्रज्ञापारमिता अष्टसाहस्रिका आदि और भी अनेक शास्त्रों का प्रणयन किया। (वे) महायानी (और) हीनयानी सभी भिक्षुओं का समानरूप से उपकार करते थे। केवल महायान के ही पक्षपात नहीं करते थे, इसलिये श्रावक भी (उनके प्रति) बड़ी श्रद्धा रखते थे। (इस प्रकार आचार्य अश्वघोष) बौद्धों के प्रति निष्पक्ष व्यक्ति हो जाने के कारण (उनकी) बड़ी ख्याति हुई।

१—ब्स्ङग्स्-पर-ऽोस्-प-ल-ब्स्ङग्स्-पहि-ब्स्तोद-प=स्तुत्य की स्तुति।

२—ब्स्तोद-प-ब्र्ग्य-ल्ङ-ब्चु-प=शतपंचाशतक स्तुति।

३—फर-फ्यिन-ब्चु=दसपारमिताएं। दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, उपाय, प्रणिधान, बल और ज्ञानपारमिता।

आचार्य राहुलभद्र, जाति के शूद्र होने पर भी रूप (वान), सम्भोग (शाली) और ऐश्वर्यसम्पन्न होने से नालन्दा में प्रव्रजित हुए। त्रिपिटकधारी भिक्षु बनने पर आचार्य आर्यदेव के चरण-कमलों में रह, महत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया। नालन्दा में रह (समय) बड़ापात्र आकाश की ओर करते ही उत्तम-खाद्य से भर जाता था। इस रीति से अनेक भिक्षुओं को भोजन दान किया। अंत में धिङ्कोट देश में बुद्ध अमिताभ के दर्शन पा, सुखावती की ओर अभिमुख कर (उनका) देहावसान हुआ। इसका वृत्तान्त तारा के वर्णन में कहा जा चुका है। आचार्य मातृचेट आदि कालीन १८वीं कथा (समाप्त)।

(१९) सद्धर्म पर शत्रु का दूसरा आक्रमण और (उसका) पुनरुद्धार।

तत्पश्चात् पूर्व दिशा में राजा श्रीचन्द्र के पुत्र धर्मचन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ। इसने भी बुद्धशासन का बड़ा सत्कार किया। उसके मंत्री वासुनेत्र नामक ब्राह्मण बुद्धशासन के प्रति अभिश्रद्धा रखता (था)। (उसको) आर्य अवलोकितेश्वर के दर्शन प्राप्त हुए। उसने नागों से विविध औषधियां ग्रहण कर, अपरांतक देश में सब संक्रामक रोगों का उन्मूलन किया। देश के सभी ऋणियों को तीन बार (उऋण कर सबको) समान बनाया। उस समय काश्मीर में राजा तुरुष्क नामक एक धार्मिक महाराज का प्रादुर्भाव हुआ (जो) १०० वर्ष की आयु (तक) रहा। धर्मचन्द्र के शासनकाल में मुल्तान देश तथा लहोर का राजा बन्धेरो भी कहलाता था खुनिममप्त नामक एक फारसी राजा था। उसके साथ राजा धर्मचन्द्र का कभी लड़ाई-झगड़ा होता (था और) कभी समझौता होता था। एक बार समझौता हो गया था और आपस में दूतकर्म लाभ-सत्कार में लालच रखनेवाले कुछ भिक्षुओं ने किया। फारसी राजा मध्यदेशीय राजा को अश्व और बहुमूल्य (चीजें) उपहार में भेजा करता था। दूसरा (राजा) गज और विशेष प्रकार के रेशमी कपड़े फारसी (राजा) को भेजता था। एक बार जब अपरान्तक के राजा धर्मचन्द्र ने एक बहुमूल्य रेशमी कपड़े की पोशाक फारसी राजा के पास भेजी तो संयोगवश (पोशाक के) वक्षस्थल पर अंकित बूटीरेखा में एक पद-चिह्न सी रेखा के पड़ने से (फारसी राजा को) सन्देह हुआ कि कहीं जादू-टोना तो नहीं कर दिया है। फिर एक बार (राजा ने) उपहार में फल भेजना चाहा, तो किसी ब्राह्मण द्वारा वृक्षछाल पर अंकित अनेक मंत्र-चक्र जो धूप में रखे थे हवा से उड़कर मुंह खुले हुए केलों में जा गिरे। इन फलों को घृत से भरी पेटिका में बन्द कर फारसी राजा के पास भेजा। किसी समय फलों के अन्दर से मंत्रचक्र निकले तो (फारसी राजा ने) सोचा कि निश्चय ही जादू-टोना किया है और तुरुष्क सेना से सारे मगधदेश को नष्ट कराया। अनेक विहारों को विध्वस्त कराया। श्रीनालन्दा को भी भारी क्षति हुई। प्रव्रजितगण भी दूर निकल भागे। तत्पश्चात् धर्मचन्द्र का देहान्त हुआ और उसके एक पोता का राज्यारोहण हुआ; परन्तु तुरुष्कों का गुलाम होने के कारण (उसके हाथ में) अधिकार नहीं था। धर्मचन्द्र के मामा का नामक लड़का बुद्धपक्ष वाराणसी का एक राजा था। उसने कुछ सूत्रवादी आचार्यों को चीन भेजा तो चीन के राजा ने प्रत्युपकार में १०० व्यक्तियो के (ढोने लायक) सुवर्ण के बोझ आदि १,००० व्यक्तियों द्वारा लादे हुए बहुमूल्य सामान राजा बुद्धपक्ष के पास भेजा। तब (उसने) उन धनों से पश्चिम और मध्य (देश) के प्रमुख-प्रमुख राजाओं को प्रसन्न कर फारसी राजा पर चढ़ाई कर दी और राजा खुनिममप्त आदि अधिकांश फारसी वीरों को तलवारके घाट उतार दिया। अपरान्तक और पश्चिम के अधिकांश राज्यों पर राजा बुद्धपक्ष ने शासन किया। उसने पिछले सभी मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया (और) संघों को आमंत्रित किया। श्री नालन्दा में ८४ धार्मिक संस्थाओं की स्थापना की गई थी (जिनमें) स्वयं राजा ने ७१ (धार्मिक संस्थाओं की

स्थापना की)। शेष रानी और मंत्री ने स्थापित की। उस समय मंजुश्री के साक्षात दर्शन पानेवाले एक वाद के मित्रवित्र भी प्रादुर्भूत हुए जो राजगुरु बन गये थे। (भिक्षु) संघों का सत्कार राजमहल में होता था और तीर्थंकर को द्वारशाला के बाहर भोजन दान दिये जाते थे। इस प्रकार (उसने बुद्ध) शासन का भली भांति पुनरुद्धार किया। सद्धर्म पर शत्रु का द्वितीय आक्रमण और (उसके) पुनरुत्थान का १९वां परिच्छेद (समाप्त)।

(२०) सद्धर्म पर शत्रु का तृतीय आक्रमण और उसका पुनरुद्धार।

तब दक्षिण दिशा के कृष्णराज देश में आचार्य मालिक बुद्धि नामक प्रज्ञापारमिता के एक उपदेशक हुए। उन्होंने मध्यदेश में लगभग २१ विशाल धार्मिक संस्थाएँ स्थापित कीं और १,००० मूर्तिमान चैत्यों का निर्माण किया। लगभग २० वर्षों तक प्रज्ञापारमिता का विकास किया। अन्त में तुरुष्क के डाकू ने (उनकी) हत्या कर दी। (आचार्य का) लहू दूध के रूप में बहने लगा। पेट से निकले अनेक फूलों से अन्तरिक्ष भर गया। उसी देश में आचार्य मुदितभद्र का प्रादुर्भाव हुआ जो हजारों सूत्रों से कण्ठालंकृत, १२ धुतगुणों[1] में स्थित और लब्धानुत्पाद धर्मक्षान्ति के थे। उन्होंने भी पिछले सभी जीर्ण-शीर्ण स्तूपों का पुनर्निर्माण किया। (उनके चारों ओर उन्हें) दस-दस नए स्तूपों से घेरवाया। सभी ब्राह्मणों और गृहपतियों को श्रद्धा में स्थापित किया। वहां मध्यदेश में अनेक असंयत प्रव्रजित थे। जो दोष का प्रतिकार करने की रुचि रखते थे (वे उनका) प्रतिकार करते (और) जो स्वीकार नहीं करते थे (उनका) निष्क्रमण कर देते थे। इस कारण उन सभी ने उन भिक्षुवर के प्रति द्वेष कर (उनकी) जुगुप्सा की। इससे उदासी हो, (मुदितभद्र ने) आर्य समन्त भद्र से प्रार्थना की तो (आर्य ने) साक्षात् दर्शन दिये। (उन्होंने आर्य से) विनती की—"मुझे जहां प्राणियों का हित हो वहीं ले चलें।" (आर्य ने अपने) वस्त्र पकड़ने को कहा (और) पकड़ते ही कंसदेश में जा पहुंचे, जहां (वे) वर्षों तक जगत् का हित सम्पादित करने के बाद निर्वाण को पहुँच गये। इस प्रकार लगभग ४० वर्षों तक धर्म का विपुल प्रचार होता रहा। श्री नालन्दा में ककुदसिद्ध[2] नामक एक राज मंत्री ने एक मन्दिर बनवाया जिसके प्रतिष्ठान के अवसर पर सभी लोगों के लिये महोत्सव मनाया गया। दो तैर्थिक मतावलम्बी भिखारी भीख मांगने के लिये आये, तो क्रूर श्रामणेरों ने (उन दोनों पर) धोवन फेंका (और) कपाट के बीच में चांपकर प्रचंड कुत्तों से नोचवाया। इससे वे दोनों आगबबूला हो गये और एक ने जीविका जुटाई तथा दूसरे ने सूर्य की साधना की। गहरे गड्ढे में प्रविष्ट हो, ९ वर्षों तक साधना करने पर भी सिद्धि नहीं मिलने से (जब उसने) बाहर निकल आने का प्रयास किया, तो (उसका) मित्र बोला—

"क्या तुमने मंत्र की सिद्धि प्राप्त की?"
"नहीं।"

सर्वत्र भीषण दुर्भिक्ष पड़ रहा था तो मैंने इतनी कठिनाइयों से (तुम्हारी) जीविका का प्रबंध किया। अतः जब भी तुम बिना मंत्र की सिद्धि मिले बाहर निकलोगे तो (तुम्हारा) सर जड़ से उड़ा दूंगा।

१—स्ब्यङ्स्-पहि-योन-तन-बचु-गुञिस्=द्वादश धुतगुण। पालि साहित्य के अनुसार १३ धुतांग हैं। विशुद्धिमार्ग, पहला भाग, पृ० ६०।

२—यह सम्भवतः कुकुटसिद्ध का अपभ्रंश मालूम होता है।

यह कह (उसने) तीक्ष्ण छुरी उठायी, तो डर के मारे तीन वर्ष और उसने साधना की। इस प्रकार १२ साल में (उसको) सिद्धि मिली। उसने अग्निहोत्र यज्ञ का अनुष्ठान किया और होमीय भस्म[१] को अभिमंत्रित कर (विहारों पर) फेंकते ही अग्नि स्वप्रज्वलित हो उठी। फलतः बौद्धों की ८४ धार्मिक संस्थाएं जल (कर राख हो) गईं। विशेष कर श्री नालन्दा के धर्मगंज--रत्नसागर, रत्नोदधि (और) रत्नकरण्ड नामक तीन बड़े-बड़े देवालय जल (कर भस्म हो) गये जिनमें महायान पिटक की सभी पुस्तकें सुरक्षित थीं। उस समय रत्नदधि नामक (एक) नौ-मंजिले विहार के ऊपरी मंजिल में (रखी गई) कुछ पुस्तकों से काफी जल-धारा प्रवाहित होने से अग्नि का शमन हुआ। जहां तक जल-धारा का फैलाव था वहां तक की पुस्तकें नहीं जलीं। पीछे उन पुस्तकों को उठाकर देखा तो (कुछ लोगों ने) उन्हें पंच वर्ग आभ्यन्तर तंत्र बताया और कुछ ने केवल गुह्य समाज। जो हो, (ये) अनुत्तर-तंत्र वर्ग (के ग्रंथ) हैं। उनमें गुह्यसमाज की विद्यमानता तो निर्विवाद है। और-और देशों में भी अनेक विहारों को जला दिया गया। वे दो तीर्थंकर राजदण्ड के भय से उत्तर दिशा के हसाम नामक देश को भाग गये; लेकिन पाप-कर्म के प्रभाव से देह में अपने-आप आग लगकर मर गये। तत्पश्चात् देश-देश के अनेक बहुश्रुत भिक्षु इकट्ठे हुए। (उनके) हृदयंगम और पुस्तकस्थित सभी (बुद्धवचनों) को लिपिबद्ध किया (गया)। राजा बुद्धपक्ष, ब्राह्मण शंकु, ब्राह्मण बृहस्पति और अनेक श्रद्धालु गृहपतियों ने जले हुए मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया। पहले मनुष्यलोक में उद्भूत महायान पिटक, पिटकों में (मे), (जो) १५ भागों में विभक्त थे, दो-दो भागों को पिछले सद्धर्म के प्रथम और द्वितीय शत्रुओं ने विनष्ट कर दिया था। एक भाग बिना शत्रु के क्षति पहुंचाये भी नष्ट हो गया। शेष ६ भाग अग्निकाण्ड के कारण नष्ट हो गये, इसलिये वर्तमान (काल में) एक ही भाग रह गया। एक सहस्र आर्य रत्नकूट में से ४६ शेष रह गये। इसी प्रकार अवतंसक १,००० परिच्छेद में से ३८ रह गये। महासंनिपातात् १,००० खण्डों में से ६ खंड रह गये। लंकावतार के तथागतगर्भ का एक ही परिच्छेद रह गया। सद्धर्म पर शत्रु का तीसरा प्रहार और (उसका) पुनरुत्थान के समय की २०वीं कथा (समाप्त)।

(२१) राजा बुद्धपक्ष की अंतिम कृति और राजा कर्मचन्द्रकालीन कथाएं।

तब राजा बुद्धपक्ष के जीवन के उत्तरार्द्ध काल में पूर्वदिशा के ओडिविश देश के महासागर के एक समीपस्थ पर्वत के शिखर पर रत्नगिरि नामक विहार बनवाया (गया)। महायान (और) हीनयान के समग्र (बुद्ध) वचनों और शास्त्रों की तीन बार रचना कराकर उन्हें (इस विहार में) प्रतिष्ठित कराया गया। आठ महान् धार्मिक संस्थाएं (स्थापित कर) और ५०० भिक्षुओं की सभा हुई। भंगल के निकट समुद्रतटवर्ती एक पर्वत पर देवगिरि नामक विहार बनवाया गया, (जो) रत्नगिरि से मिलता-जुलता था। मन्दिर का निर्माण मंत्री ने कराया; प्रवचनों की रचना ब्राह्मण शंकु ने करायी सभी पूजा-परिष्कारों का प्रबंध ब्राह्मण बृहस्पति ने किया (और) धार्मिक संस्थाओं तथा संघों की जीविका का प्रबंध रानी ने किया।

१—श्री अमलानन्द घोष के अनुसार अग्निकुण्ड से धधकते हुए कोयले उठाकर बौद्ध मन्दिरों में फेंके आदि (नालन्दा पृ० १६)।

ब्राह्मण शंकु--मगध और भंगल के बीच के पुण्ड्रवर्धन नामक देश में सारो नामक ब्राह्मण रहता था। (वह अपने) सात चचेरे भाइयों के साथ महाभोग (विलास में रत) रहता था। उसने महेश्वर की विद्या की साधना कर किसी स्थानीय (दिव्य) नाग का दमन करना शुरू कर दिया, तो (नाग) विनीत नहीं हुआ। (फलतः) ब्राह्मण दम्पति की सभी सातों चचेरे भाइयों के साथ सर्पदंश से मृत्यु हो गई। उस ब्राह्मण का बेटा शंकु है और कुटुम्बों ने (उसे) प्यार से (पोसा)। घर की अधो कोठरी में अनेक नेवले बांध, घर के बाहर शैल नामक सर्प-भक्षी प्राणियों को बांध (कर और) घर की छत पर अनेक मोर रख कर (उस बालक को सर्प से) बचाते थे। और नाग दमन के मंत्र तथा द्रव्यों की खोज करने का प्रयत्न करने लगे। तब किसी समय नागों ने आकर गंभीर फुफकार किया तो मोर चौंक कर भाग गये। जोरों की आंधी छोड़ने से शैल नामक प्राणी बिल में घुस गये। वहां एक पतले-से सर्प के मकान के छोर पर (से) चढ़ कर भीतर प्रविष्ट हो, शंकु को डंसने से (वह) मर गया। शव (बाहर) निकालते समय उसकी पत्नी (को) शव को ले जाकर, बेड़े में रख, गंगा के बीच में ले जा, इसको जीवित कर सकने वाला कौन होगा? ऐसा कहने लग । यह कहते हुये तीन दिन बीत गये। तीन दिनों के बीच चरवाहों ने (उसका) मखौल उड़ाया। एक बार किसी स्त्री ने आकर, जल को अभिमंत्रित कर, उस (मृत) शरीर को स्नान कराया, फलतः (वह) पुनरुज्जीवित हो उठा। तब गांव में आकर (उन्होंने) हाल पूछा, तो (लोगों ने) बताया कि ब्राह्मण शंकु (का) देहान्त हुए सात दिन बीत गये हैं, (और) घर के सामानों (से) ब्राह्मणों की आराधना हो रही है। वहां (वे जब) घर पहुंचे, तो (घर वालों ने) माया समझ कर कुछ समय के लिये (उनपर) विश्वास नहीं किया। बाद में विश्वास होने से, (उन्हें) बड़ी खुशी हुई। तब वह (-ब्राह्मण शंकु) नाग दमन की विद्या की खोज में ही लगा रहा। एक बार कृषि कर्म करने वाली किसी स्त्री ने एक मंत्र का उच्चारण किया, तो अज्ञात दिशा से एक सर्प ने आकर उस औरत के बच्चे के पांव में मुंह से स्पर्श किया जिससे कुछ समय के लिये (वह बच्चा) मृतक-सा पड़ा रहा। लेकिन कृषिकर्मो के समाप्त होने पर एक सर्प के आकर उस नन्हे बच्चे के पैर में डंसते ही (वह) पुनरुज्जीवित हो उठा। उसे डाकिनी जान, उसने चरणों में प्रणाम किया (और) विद्या सिखाने की प्रार्थना की, तो (डाकिनी ने कहा) "तुम विद्यामंत्र के (योग्य) पात्र नहीं हो और (साथ ही) समय-द्रव्य[1] भी दुर्लभ है।" यह कह इनकार कर दिया। (उसके) पुनः साग्रह अनुरोध करने पर (डाकिनी ने) स्वीकार किया। वहां समय-द्रव्य (में) बिलकुल काले (रंग की) कुतिया के दूध की बनी हुई आठ अंजलि खीर की आवश्यकता पड़ी (और इसकी) खोज करके (उसने) मंत्र पूछा। उसने बहुत मंत्र जपकर शंकु को पिलाया। छः अंजलियो में (उसका) पेट भर गया और (वह) उससे अधिक पी नही सका, तो (डाकिनी ने कहा: "तुम) यह नहीं पीओगे, तो सर्प पहले ही तुम्हें मार डालेगा, उसके बाद बहुत लोगों की जान भी ले लेगा" कह, डरा-धमकाकर हठपूर्वक पिलाने पर पुनः एक अंजलि पी। शेष एक अंजलि किसी प्रकार नही पी सका। तब डाकिनी बोली: "क्या मैंने पहले ही नहीं कहा था कि तुम (योग्य) पात्र नहीं हो? अब तुम सात[2] (भिन्न-भिन्न) जाति के नागों का

१—दम-छिग-गि-जस्=समय-द्रव्य। तांत्रिकलोग धार्मिक उपयोग के लिये अपने साथ जो उपकरण रखते हैं उसे समय-द्रव्य या समय-वस्तु कहते हैं।

२—सर्पों के आठ कुल में से सात--शेष, कंबल, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शंख और कुलिक।

दमन कर पाओगे और (उन पर) यथेच्छ (अपना) आधिपत्य जमा सकोगे, लेकिन वासुकी[1] जाति पर नहीं। किसी समय वासुकी जाति के सर्प के डंसने से (तुम्हारी) मृत्यु होगी।" तब वह ब्राह्मण अत्यन्त प्रभावशाली और महाऋद्धिमान बन, नागों (से अपने) दास की तरह सेवा कराता (था और उनसे) हर तरह के हिताहित कार्य कराने में समर्थ बन गया। वह प्रतिदिन अनेक ब्राह्मणों से शास्त्र-पठन कराता था और दान करता था तथा पुण्य कमाता था। प्रतिरात्रि उद्यान में जा, नागिनों के साथ पंचकामगुणों[2] में विलास करता था। उसने पुण्ड्रवर्धन देश के एक भाग में अष्टधातु[3] से भट्टारिका आर्या तारा का मन्दिर बनवाया। (और) त्रिरत्न की महती पूजा की। किसी समय नागिनों के बीच में नागराज वासुकी की एक दासी की उपस्थिति का पता न चलने से (वह) ब्राह्मण लापरवाही से बैठा था। वह (उसके) माथे पर डसकर भाग गई। तब (उसने अपने) दास को समुद्री फेन लाने के लिये आदेश दिया (और यह समझाया) कि लौटते समय पीछे की ओर न देखे, दूसरे की बात न सुने (और) उधर बात न करे। (यह) कह (उसे) पद-शृंग-द्रव्य देकर भेजा। उसके लौटते समय एक आदमी (पीछे से उसे) आवाज दे रहा था। उस पर कान देने पर (उस आदमी ने) बताया: "मैं वैद्य हूं; समस्त रोग और विषों की चिकित्सा करता हूं।" (यह) कहने पर (उसने) पीछे की ओर देखा, तो एक ब्राह्मण (हाथ में) औषधि का पात्र लिये आ रहा था। सहसा उस (वैद्य) ने कहा: "तुम्हारी कौन-सी दवा है? (मुझे) दिखलाओ।" उसने समुद्रीफेन दिखलाया, तो (वह ब्राह्मण उसे) जमीन पर बिखेर कर अन्तर्धान हो गया। पुनः (उसने) शंकु से भेंट कर (यह) बात कही, तो (उसने) मिट्टी के साथ उठाकर लाने को कहा। वहां जाने पर नाग के चमत्कार से उस स्थल पर समुद्र फूट निकल आने के कारण (वह फेन को) ला न सका (और) शंकु भी कालातीत हो गया। उस जैसे ब्राह्मण शंकु ने दक्षिण भारत के खगेन्द्र देश में गरुड़ का एक पूजन-स्तम्भ खड़ा किया। इसकी पूजा करते ही विष-रोग का निवारण होता है और स्नान कराये गये जल पीकर स्नान करने से नाग-रोग दूर हो जाता है।

ब्राह्मण बृहस्पति—कुरुकुल्ली मंत्र में सिद्ध था। राजा ने नागराज तक्षक को दिखलाने को कहा तो पत्थर पर कुरुकुल्ली मंत्र जाप कर समुद्र में फेंकने पर उमड़ते हुए समुद्र के मध्य में से नाग-प्रासाद का गुम्बज प्रकट होते हुए राजा ने (अपने) परिकरों के साथ देखा। वहां नाग-विष से अनेक मनुष्यों (और) पशुओं की मृत्यु हुई। साक्षात् नाग को दिखला नहीं सका और फिर (नाग-प्रासाद को) गायब कर दिया। उस ब्राह्मण बृहस्पति ने ओडिविश के कटक नगर में अनेक बौद्ध मन्दिर बनवाये (और) अनेक संघों के लिये (धार्मिक) उत्सव का भी आयोजन किया। राजा बुद्धपक्ष और उसके पीछे धर्मचन्द्र का पोता कर्मचन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ। इन (राजाओं) के काल में आचार्य नन्दप्रिय, कनीय आचार्य अश्वघोष, राहुल भद्र के शिष्य राहुलमित्र और उनके शिष्य नागमित्र का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने महायान का विकास किया। लेकिन सम्प्रति

१—नोर-र्ग्यस्=वासुकी। नागराज का नाम।

२—ह्दोद्-योन-ल्ङ=पंचकामगुण। रूप, शब्द, गंध, रस और स्प्रष्टव्य।

३—अष्टधातु=आठ धातुएं—सोना, चांदी, तांबा, रांगा, जस्ता, सीसा, लोहा और पारा।

तिब्बत में वर्तमान शतपंचाशतक-स्तोत्र के टीकाकार आचार्य नन्दप्रिय का प्रादुर्भाव दिङ्-नाग (४२५ ई०) आदि के पीछे होने का पता उक्त टीका से चल जाता है। इसलिये तत्कालीन (नन्दप्रिय) से (इनका) नाममात्र का सम्बन्ध है। राजा बुद्धपक्ष की अंतिम कृति और राजा कर्मचन्द्र कालीन २१ वीं कथा (समाप्त)।

(२२) आर्य असंग (३५० ई०) और उनके अनुज वसुबन्धु (२८० ई० —३६०) कालीन कथाएं।

तत्पश्चात् राजा कर्मचन्द्र के राज्य करते समय राजा बुद्धपक्ष के बेटा गंभीरपक्ष का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका (राजकीय) प्रासाद पंचाल नगर[1] में था। (उसने) ४० वर्ष के लगभग राज्य किया। काश्मीर में राजा तुरुष्क के बेटा तुरुष्क महासम्मत का प्रादुर्भाव हुआ। (इसे) क्रोधामृतावर्त[2] के दर्शन मिले थे (और) १५० वर्ष की आयु (तक जीवित) रहा (तथा) राज्य भी लगभग १०० वर्ष किया। उसने काश्मीर तुखार, गजनी इत्यादि सभी देशों पर (अपना) आधिपत्य जमाया और (वह त्रि-)रत्न की आराधना करता था। विशेषत: (उसने) गजनी देश में बुद्ध के दांत प्रतिष्ठित (करने के लिये) एक विशाल चैत्य बनवाया और एक-एक हजार भिक्षु-भिक्षुणियों और उपासक-उपासिकाओं को स्तूप-पूजन के लिये नियुक्त किया। अनेक विभिन्न मूर्तियों का निर्माण कराया। भिक्षु जीवकर और धर्मवर्धन नामक उपासक प्रादुर्भूत हुए (जो) पांच-पांच हजार भिक्षुओं और उपासकों के अनुचरों से घिरे प्रज्ञापारमिता के अर्थ पर (ध्यान-) भावना करते (और) साधना द्वारा तथागत की आराधना करते थे। सैकड़ों ऋद्धिमान भिक्षु और उपासक भी प्रादुर्भूत हुए। दश धर्मचर्या[3] का विपुल प्रचार करते थे। राजा गंभीरपक्ष के राज्यारोहण हुए १२ वर्ष बीतने पर राजा कर्मचन्द्र का देहान्त हुआ। उसके पुत्र वृक्षचन्द्र (को) राजगद्दी पर बैठाया गया; पर (उसकी) प्रतापहीनता के कारण ओडिविश के जलेरुह नामक राजा ने प्राय: पूर्वी देशों पर (अपना) शासन चलाया। इन राजाओं के काल में महान् भिक्षु अर्हत् के जीवन का उत्तरार्द्ध काल और आर्य असंग के जगत हित करने का समय और आचार्य वसुबन्धु, बुद्धदास एवं संघदास के जीवन का पूर्वार्धकाल था। आचार्य नागमित्र दीर्घायु तक रहे, और संघरक्षित नामक इनके शिष्य भी हुए। इस समय तक अधिकारियों के लिये गुह्यमंत्र अनुत्तरयोग धर्म का विकास नहीं हुआ हो (ऐसी बात नहीं)। पहले महायान धर्म का विकास होने के अचिर में ही प्रादुर्भूत उन १००,००० विद्याधरों और उद्यानदेश[4] के सभी अगत विद्याधर-पद के (सिद्ध) लोगों ने भी प्राय: अनुत्तर मार्ग का ही अवलम्बन किया था। लेकिन, गुह्यपति आदि ने १०० या १,००० भाग्यवानों को एक साथ दर्शन दे, मंत्रयान का उपदेश दिया (और) वे सब प्रकाशमय शरीर को प्राप्त हुए। उसके बाद उपदेश भी नहीं रखा गया। प्राचीन (कालीन) लोग बड़े यत्न से (ध्यान-)भावना

१—तिब्बती में इसका नाम 'ग्रोङ-ख्येर-लुङ-लेन' है।

२—खो-वो-बुदुद्-चि-ह्रिख्यल-व=क्रोधामृतावर्त। त० ८६।

३—छोस्-स्प्योद-चु=दश धर्मचर्या। धर्मशास्त्र लेखन, पूजन, दान, श्रवण, वाचन, उद्ग्रहण, प्रकाशन, स्वाध्याय, चिन्तन और भावना।

४—उ-र्ग्येन=उद्यान। पेशावर के उत्तर में स्वात नदी पर अवस्थित।

करते थे और गोपनीय (शिक्षा) का पालन करते थे, इसलिये जब तक वे विद्याधर-पद को प्राप्त नहीं करते थे, तब तक कोई नहीं जानता था कि (वे) गुह्यमंत्र का आचरण करनेवाले हैं। जब (साधक) महान् चमत्कार के साथ आकाश मार्ग से गमन करते या अन्तर्धान हो जाते थे, तब (लोगों को) पता लगता था कि "ओ! ये तो मंत्राचारी हैं!" इसलिये आचार्य द्वारा शिष्य को परम्परागत उपदेश देने (की परिपाटी) भी कम ही थी। क्रिया और चर्या-तंत्र संबंधी मंत्र-तंत्र का अनुशीलन करनेवाले तो महायान के विकास से लेकर (अब तक) काफी (संख्या में) हुए; लेकिन अत्यन्त गुप्तरूप से (इसका) आचरण करने के कारण उसी गुह्यमंत्र का आचरण करनेवाले को छोड़ (और) कोई नहीं जानता था कि (वे) किस (धर्म) का अनुशीलन करते हैं? इसलिये (साधक) बिना रुकावट के (अपने) कार्य[1] (का सम्पादन) तथा सिद्धि[2] की प्राप्ति कर लेते थे। प्रसिद्धि के अनुसार (ऐसा) जान पड़ता है कि सरह, नागार्जुन आर्यदेव और सिद्ध शवरपा तक (गुरु-शिष्य के) परम्परागत रूप से अनुग्रह होता रहा। अन्यत्र (ऐसा उल्लेख भी) दृष्टिगत नहीं होता कि अब तक के आचार्यगण अधिक (संख्या में) अनुत्तर गुह्यमंत्र की परम्परा के (अनुयायी हुए) हों। चर्यासंग्रह प्रदीप[3] को आधार माननेवाले पद्मवज्र और कम्बल का प्रादुर्भाव हुआ; लेकिन पूर्ववर्ती (पद्मवज्र) द्वारा आर्यदेश में जगतहित करने (का उल्लेख मिलता हो ऐसा) नहीं जान पड़ता और न परवर्ती (-कम्बल) का वृत्तान्त ही दृष्टिगत होता। इसलिये, कहा जाता है कि महान् ब्राह्मण[4], नागार्जुन पिता-पुत्र (-नागार्जुन और उनके शिष्य आर्यदेव) इत्यादि द्वारा प्रणीत ये अनुत्तरशास्त्र (उन) अनुत्तर मंत्र (-यान) की टीकाएं हैं, (जो) इसके पहले अधिक (संख्या में) उपलब्ध नहीं थी। इन शास्त्रों का माध्यमिक-युक्ति-संग्रह[5] आदि ग्रंथों की तरह सार्वभौमिक रूप से प्रचार नहीं था। (ये शास्त्र) नागबोधि ही को सौंप दिये गये, जो विद्याधर-पदस्थ थे। पीछे राजा देवपाल (दोनों पिता-पुत्र के समय में (इनका) विकास हुआ। इसलिये आर्य (समाज)[6] और बुद्धकपाल[7] आदि में निकट परम्परा होने का कारण भी यही है। जैसे भोट के शुद्धाभास[8] (धर्म) और यथार्थ निधि (संबंधी) धर्म[9]

१—लस्=कर्म। चतुर्विध कर्म होते हैं—शान्ति, पुष्टि, वश और अभिचारकर्म।

२—द्ङोस-ग्रुब=सिद्धि। सिद्धि दो हैं—परम-सिद्धि और साधारण-सिद्धि।

३—स्प्योद-ब्स्दुस्-स्ग्रोन=मेमाचर्यासंग्रहप्रदीप। त० ६१।

४—ब्रम-से-छेन-पो=महाब्राह्मण। इनका दूसरा नाम सरहपाद है।

५—द्बु-म-रिगम्-छोगस्=माध्यमिक-युक्ति-संग्रह। आचार्य नागार्जुनकृत माध्यमिक कारिका, युक्तिषष्टिका, प्रमाणविध्वंसन इत्यादि को मध्यमकयुक्तिसंग्रह कहते हैं।

६—ह्फगग्-स्कोर=आर्य विग्रयक=आर्यगुह्यसमाज। नागार्जुनकृत गुह्यसमाज को आर्य-समाज कहते हैं।

७—सङस्-ग्र्यस्-थोद-प=बुद्धकपाल। त० ५८।

८—दग-स्नङ-गि-छोस्=शुद्धाभास धर्म। जब सिद्धपुरुष के विशुद्ध-चित्त में बुद्ध और बुद्ध-क्षेत्र के दर्शन होते हैं अथवा बाह्य तथा आभ्यन्तर सभी विषय शुद्धरूप में अवभासित होते हैं तब उनके मुंह से बुद्ध और बुद्ध-क्षेत्र का वर्णन अनायास उद्गार के रूप में होता है उसे शुद्धाभास धर्म कहते हैं।

९—गतेर-छोस=निधि-धर्म। आचार्य पद्मसम्भव द्वारा भूगर्भ, चट्टान, वृक्ष, इत्यादि में छिपाये गये पवित्र धर्म-ग्रंथ आदि को निधि-धर्म कहते हैं।

(-ग्रंथ हैं) वैसे (ही ये ग्रंथ) हैं। लगभग इस समय से लेकर क्रिया (-तंत्र[1] और) चर्यातंत्रों[2] का लगभग २०० वर्षों तक विपुल प्रचार हुआ और खुले आम (इन तंत्रों का) आचरण करनेवाले हुए। योग (-तंत्र)[3] और अनुत्तरयोग तंत्र[4] का आचरण तब तक खुले आम नहीं किया जाता था जब तक कि सिद्धि नहीं मिलती। फिर भी (इनका) विकास पूर्वापेक्षा अधिक हुआ और (इनकी) अनेक टीकाएं भी लिखी गईं तथा यशस्वी सिद्धों का भी आविर्भाव हुआ। इसी समय आचार्य परमाश्व, महाचार्य लूइपाद और सिद्ध चरपटीपा भी प्रादुर्भूत हुए जिनका वर्णन अन्यत्र उपलब्ध है।

आचार्य अर्हत्, राजा कर्मचन्द्र के समय में एक त्रिपिटकधर यति थे। उन्होंने महानिधिकलश की साधना की। क्रमेण सिद्धि पाकर, वाराणसी में भूगर्भ से लगभग एक योजन ऊंचा रत्नघट निकाला और कई लाख (भिक्षु) संघ के जीवननिर्वाह का प्रबंध किया। एक बार (उसकी) रक्षा करना भूल जाने (के कारण) उस रात्रि (में) यक्षगण (रत्नों को) चुराकर (ले गये)। प्रातः संघ-पूजा के लिये (कलश को) खोला तो खाली देखा। उन विद्यामंत्रज्ञ, महाऋद्धि (मान) भिक्षु ने ब्रह्म आदि सभी बड़े-बड़े देव (गण को) बुलाकर, उन्हे पीड़ित किया, तो उन्होंने (-देवों ने) यक्षों को बुलाकर फिर से निधिकुम्भ भरवा दिया। देवताओं के आगमन के (समय) भूकम्प, पुष्पवृष्टि और सुगंध के सात दिनों तक निरन्तर होने के लक्षण सब लोगों को दिखाई दिये। इस रीति से लगभग ४० वर्ष संघ का सत्कार किया। निधिकुम्भ उन्हीं (आचार्य अर्हत्) को दिखाई देता था; पर औरों को भूमि की खुदाई करते हुए दृष्टिगत होता था।

आर्य असंग (३५० ई०) (और उनके) भाई (वसुबन्धु, २८० ई०--३६०) का वृत्तान्त--पहले राजा गौड़वर्धन के समय में एक त्रिपिटकधर भिक्षु था (जो) आर्यावलोकित को इष्ट (देव) के रूप में पूजता था। एक बार किसी दूसरे भिक्षु के साथ प्रतिज्ञा, (-अपने पक्ष का परिग्रह) वाद-अधिष्ठान और अनुवाद (-धर्म के विषय में उठे सन्देहों का निराकरण) करते समय (उसने) अभिमानवश उस (भिक्षु) को 'नारी की बुद्धिवाला' कह, (उसकी) निन्दा की। उस समय आर्यावलोकितेश्वर ने कहा कि "तुम्हारे इस कर्म से अनेक जन्मों तक स्त्री के रूप में (तुम्हारा) जन्म होगा। तो भी बोधि-लाभ पर्यन्त तुम्हारा कल्याणमित्र[5] मैं हूँ।" लगभग राजा बुद्धपक्ष के समय में प्रकाशशील[6] नामक ब्राह्मणी के रूप में उसका जन्म हुआ। वह (पूर्व) जन्म का स्मरण करते हुए बचपन में ही सूत्रों और अभि (-धर्म के) ग्रंथों को देखने और श्रवण करने मात्र से स्वयं जानती थी, आर्यावलोकित (की) नित्य

१--ग्य-र्गुद्=क्रिया-तंत्र। इसके प्रमुख ग्रंथ का नाम गुह्यसामान्य-तंत्र है।

२--स्प्योद-र्ग्युद=चर्या-तंत्र। वैरोचन अभिसम्बोधि आदि इसके ग्रंथ हैं।

३--र्नल-ह्ब्योर-र्ग्युद=योग-तंत्र। तत्त्व-संग्रह आदि इसके ग्रंथ हैं।

४--र्नल-ह्ब्योर-ब्ल-मेद-र्ग्युद=अनुत्तरयोग-तंत्र। गुह्यसमाज आदि इसके ग्रंथ हैं।

५--द्गे-वहि-ब्शेस्-गञेन=कल्याणमित्र=आध्यात्मिक गुरु।

६--अन्यत्र इसका नाम प्रसन्नशील भी आया है।

पूजा करती थी, दशकुशलार्थ[1] पर स्वभावतः स्थित रहती थी और बोधिचित्त[2] (को) दृढ़ता (के साथ धारण करनेवाली) थी। इसको भिक्षुणी मानना भ्रम है। तरुणी होने पर किसी क्षत्रिय से उसका संसर्ग हो गया जिससे (एक सु) लक्षण-सम्पन्न शिशु उत्पन्न हुआ। (बालक की) तीव्रबुद्धि होने का संस्कार किया गया। कुछ बड़ा होने पर (उसको) लिपि, गणित, आठ परीक्षाएं, व्याकरण, तर्क, वैद्यक, शिल्प-स्थान, अष्टादश-विद्या इत्यादि (उसकी) मां ने स्वयं भलीभांति सिखायी और (वह इन विद्याओं में) निष्णात और व्यक्त हो गया। उसने अपने कुल-धर्म (के बारे में) पूछा, तो (मां ने) कहा: "(हे) पुत्र! (मैंने) तुम्हें कुल का कर्त्तव्य करने के लिये नहीं; सद्धर्म के प्रचारार्थ जन्म दिया, इसलिये प्रव्रजित बन, बहुश्रुत हो, समाधि की उपलब्धि करो।" (उसने) कथनानुसार प्रव्रजित हो, उपाध्याय, आचार्य और संघ की सेवा में एक वर्ष बिताया। उपसम्पन्न होने के बाद पांच वर्षों तक पढ़ाई में तल्लीन रहा। प्रतिवर्ष एक-एक लाख श्लोक के सब शब्दार्थ कण्ठस्थ कर लेता था। इस प्रकार (उन्होंने) विचारा: "सामान्य त्रिपिटक और महायान के अधिकांश सूत्रों का ज्ञान प्राप्त कर लेना सरल है, लेकिन प्रज्ञापारमिता-सूत्र के अभिप्राय का बिना पुनरुक्ति और उलझन के ज्ञान प्राप्त करना कठिन है, इसके लिये (मैं) अधिदेव के दर्शन प्राप्त करूंगा"। ऐसा कह एकान्त चिन्तन करने लगे। उपर्युक्त आचार्य अर्हत् से अभिषेक ग्रहण करने पर जिन अजित[3] पर (उनके अधिदेव होने के लिये) पुष्प गिरे। अभिषेक संबंधी तंत्र और मंडल का उल्लेख प्राप्त नहीं है, लेकिन जान पड़ता है कि मायाजाल-मंडल है, क्योंकि गुरु-पंडित का कहना है कि इन आचार्य ने मायाजाल तंत्र[4] के द्वारा मैत्रेय की साधना की थी। तब प्रवचन में (वर्णित) कुक्कुट-पाद-पर्वत की एक गुफा में आर्य मैत्रेय की साधना की और तीन वर्षों तक कोई शकुन प्रकट नहीं होने से खिन्न-चित्त हो, बाहर निकले। चट्टान पर बने (एक) घोंसले (में से एक चिड़िया) प्रातः (अपने बच्चों के लिये) आहार खोजने निकलती थी और संध्या (को) घोंसले में लौट आया करती थी। (आचार्य ने) देखा कि (चिड़िया के उड़ते समय) चट्टान पर पंखों के हल्के स्पर्श होने से ही लम्बे समय बीत जाने के कारण चट्टान घर्षित हो गई है और (उन्होंने) सोचा कि मेरा उद्योग अल्प है और पुनः लौटकर ३ वर्ष साधना की। उसी प्रकार फिर निकले, तो देखा कि जल की बूंद से चट्टान क्षीण हो गई है। और फिर तीन वर्ष साधना कर निकले, तो एक वृद्ध मनुष्य मुलायम रूई से लोहा पोंछ रहा था। (उसने) कहा "(मैं) यह सूई बना रहा हूं। पहले भी रूई से पोंछ कर लोहा क्षीण होने पर इतनी सूइयाँ तैयार हुईं।" कह एक बर्तन दिखाया जो सूइयों से भरा था। पुनः तीन वर्ष साधना की। इस प्रकार १२ वर्षों तक (सिद्धि का कोई) शकुन प्रकट न होने पर (वे) मन ही मन दुखी हो, (वहां से) निकल कर जा रहे थे, तो किसी नगर में एक कुतिया लोगों पर भूक-भूंक कर काट रही थी, (जिसके शरीर का) निम्न (भाग)

१——द्गे-व-ब्चु = दशकुशल। अहिंसा, अचौर्य, अव्यभिचार, अमृषावचन, अपिशुन-वचन, अकटुवचन, असंप्रलाप, अलोभ, अप्रतिहिंसा और अमिथ्यादृष्टि।

२——ब्यङ-छुब-क्यि-सेमस् = बोधिचित्त। प्राणियों के दुःख दूर करने की प्रवृत्ति को बोधिचित्त कहते हैं। इसके दो भेद हैं——बोधिप्रणिधानचित्त और बोधिप्रस्थानचित्त। द्र० बोधिचर्यावतार प्रथम परिच्छेद।

३——र्ग्यल-व-मि-फम-प = जिन अजित। भावी बुद्ध मैत्रेय को कहते हैं।

४——स्ग्यु-ह्फ्रुल-द्र-वहि-र्ग्युद = मायाजाल-तंत्र। त० ८३।

कीड़ों से पीड़ित था। यह देख, (उनका) हृदय द्रवीभूत हो गया और सोचा "(यदि) इन कीड़ों को न हटाया जाय, तो यह कुत्तिया मर जाएगी . और (यदि) हटाकर फेंक दिया जाए, तो कीड़े मर जायेंगे, इसलिये अपने शरीर का मांस काट कर उसमें कीड़ों को प्रवेश करा दूंगा।" (यह) सोच, अचिन्त नामक नगर से छुरा ला, भिक्षापात्र और खक्खर नीचे रख, छुरे से (अपनी) जंघा काट, आंखें मूंद कर कीड़े निकालने लगे, तो (अपने) हाथ हिलने के सिवा कुछ भी न पाकर आंखें खोलें तो कुतिया और कीड़े नहीं थे, (परन्तु) लक्षणानुव्यंजनों से देदीप्यमान भट्टारक मैत्रेय के दर्शन हुए और (कहा):

आह तात! मेरे शरण (दाता)।
सैकड़ों कष्टों से परिश्रम करने पर भी सफलता नहीं।
किसलिये (हे!) मेघवार्यी, समुद्र का पराक्रम।
संताप से जलाकर, सीमित मात्रा में बरसाते हो?

मैंने इतने (दिनों) तक साधना की, पर दर्शन नहीं दिये। (यह) कह (वह) आंसू बहाने लगे, तो (मैत्रेय ने) कहा:

(जैसे) देवराज के पानी बरसाने पर भी।
अयोग्य बीज नहीं उगता।
वैसे (ही) बुद्धों का आगमन होने पर भी।
अनाधिकारी को सुखानुभूति नहीं होती[1]।

(मैत्रेय ने कहा:) "अपने कर्मावरण[2] से अवगुण्ठित होने के कारण (मेरे) दर्शन नही हुए। मैं तो सदा तुम्हारे पास रहता हूं। पहले जप किये हुए मंत्रों के सब प्रभाव (और) इस समय के महाकरुणावश अपने शरीर का मांस काटने के कष्ट से (तुम्हारा) पापावरण धुलकर (मेरे) दर्शन हुए हैं। अभी (तुम अपने) कंधे पर (मुझे) लादकर नागरिकों को दिखलाओ।" दिखलाने पर और किसी ने कुछ भी नहीं देखा। एक कलवारिन ने एक पिल्ले को लादे हुए देखा, जिससे (वह) भी पीछे अक्षय भोगवाली बन गई। बोझ ढुलाई से जीविका चलानेवाले किसी गरीब को चरण का शीर्ष (भाग) दिखाई दिया जिसके फलस्वरूप (उसे) भी समाधि-लाभ और साधारण सिद्धि मिली। उसी समय आचार्य (असंग) ने धर्मस्रोत समाधि प्राप्त की। (मैत्रेय ने) पूछा: "तुम क्या चाहते हो?" (आचार्य ने) निवेदन किया: "(मैं) महायान का विकास करना (चाहता हूं)।" (मैत्रेय ने) कहा: "मेरे वस्त्र का अंचल पकड़ो।" पकड़ा तो तत्काल तुषित (देवलोक) में पहुंचे। (योगाचार) भूमि की प्राचीन उपवृत्ति में तुषित में छः मास वासकरने का उल्लेख और किसी-किसी में १५ वर्ष वास करने आदि के अनेक (उल्लेख) हैं। लेकिन भारत (और) तिब्बत में सार्वभौमिकरूप से प्रसिद्धि है कि ५० वर्ष वास किया था। भारतीय (विद्वानों) का कहना है कि अर्द्धवर्ष को (एक) वर्ष की गणना कर ५० वर्ष (हुए) हैं। (असंग ने) तुषित में अजितनाथ (=मैत्रेय) से सकल महायान-धर्मों का श्रवण किया और सब सूत्रों के अर्थ का ज्ञान

१—वर्षत्यपि हि पर्जन्ये नैवाबीजं प्ररोहति।
समुत्पादेपि बुद्धानां नाभव्योभद्रमश्नुते॥

अभिसमयालंकार VIII –10

२—लस्-किय-स्ग्रिब-प = कर्मावरण। द्र० कोष ४.९६।

प्राप्त किया। मैत्रेय के पांच-ग्रंथ[1] की श्रवण करते समय प्रत्येक परिच्छेद के श्रवण करने मात्र से भिन्न-भिन्न समाधि-द्वार के समान उपलब्धि हुई। पुनः मनुष्यलोक में अवरोहित हुए और जगत हित करते समय परचित्त ज्ञान में (उनकी) अबाध गति हो गई। अर्द्धमास या एक मास आदि का दूर (रास्ता आचार्य अपने) अनुयायियों के साथ एक याम या एक दिन में तय कर लेते थे। पहले मैत्रेय के दर्शन पाते समय जो युवावस्था में थे, ९० वर्ष से अधिक (तक) भी पूर्वावस्था में ही रहे। वैसे, (इनके) शरीर में (महापुरुष) के ३२ लक्षणों के अनुरूप आदि पहुंचे हुए आर्यों के गुण प्रत्यक्ष विद्यमान थे। विशेषकर स्वप्न तक में स्वार्थ-भाव (इनमें) नहीं था। अनन्त समाधि-द्वारों की चर्या करना, अत्यन्त मृदु, विनीत, दयालु, अपसिद्धांतों का दूषन करना, दुराचारियों का उन्मूलन करने आदि में अधिक तेज होना, श्रवण से न अघाना, द्रव्य के बदले धर्म-दान करना आदि परिशुद्धि की चर्या करते रहना इत्यादि (उक्त) अनेक कारणों से (परिलक्षित होता है कि आचार्य असंग ने) तृतीय भूमि[2] प्राप्त की थी। इन आचार्य ने पहले मगधदेश के एक भाग में वेलुवन नामक वन में (एक) विहार बनवाया (और) (उसमें) रह, आठ शीलवान् बहुश्रुत शिष्यों को महायान के गम्भीर धर्म का व्याख्यान किया। फलतः वे सभी क्षान्तिलब्ध हुए और लोगों (में) श्रद्धा (उत्पन्न) करने के लिये चमत्कार दिखलाते थे (तथा) सूत्र (रूपी) सागर में पारंगत थे। वह स्थान धर्माङ्कुरारण्य (के नाम) से प्रसिद्ध हुआ। (असंग ने) वहां मैत्रेय के पांचग्रंथ भी लिपिबद्ध किये। अभि (धर्म) समुच्चय,[3] महायानसंग्रह,[4] पांच (योगाचार-) भूमि,[5] अभिसमयालंकार की विभाषा[6] इत्यादि अधिकांश शास्त्रों का प्रणयन किया। तत्पश्चात् पश्चिम देश के पास सगरि नामक नगर में (स्थित) उष्मपुर विहार में राजा गम्भीरपक्ष के आश्रय में चारों दिशाओं के सब भिक्षु एकत्र हुए। वहां आर्य असंग ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुकूल धर्म की अनेक देशना की। श्रावक के त्रिपिटक और महायान के लगभग ५०० सूत्रों का व्याख्यान कर सभी (को) परमार्थ में स्थापित किया। फलतः महायान के प्रतिगोत्रजागृत और सूत्रों के तात्पर्य में विकसित बुद्धिवाले १,००० से अधिक हुए। पहले महायान का परम विकास हुआ था। पीछे समय के प्रभाव से (लोगों के) मन्दबुद्धिवाले हो जाने से और तीन बार (सद्धर्म पर) शत्रुओं के (ध्वंसकारी आक्रमण के) परिणामस्वरूप धीरे-धीरे (महायान का) ह्रास हुआ। इन आचार्य (असंग) के आगमन के आरम्भिककाल में महायान को अंगीकार करनेवाले बहुत से भिक्षु तो थे; पर (उनमें) महायान अभि (धर्म का) ज्ञान रखनेवाला सर्वथा नहीं

१—व्यमस्-छोस्-लङ=मैत्रेय के पांच ग्रंथ। पांच ग्रंथ ये हैं—(१) महायान-सूत्रालंकार, (२) धर्मधर्मता विभंग, (३) महायान-उत्तर-तंत्र, (४) मध्यान्त विभंग और (५) अभिसमयालंकार।

२—स-ग्सुम-प=तृतीया भूमि। इस भूमि को प्रभाकरी कहते हैं। द्र० मध्यमकावतार।

३—म्ङोन-प-कुन-ब्तुस्=अभि (धर्म) समुच्चय। त० ११२।

४—थेग-प-छेन-पो-ब्स्दुस्-प=महायानसंग्रह। त० ११२।

५—स-स्दे-ल्ङ=पांच (योगाचार-) भूमि। त० ११२।

६—म्ङोन-र्तोगस्-र्ग्यन-ग्यि-र्नम-ब्शद=अभिसमयालंकार विभाषा। त० ८२।

था। प्रत्येक सूत्र की आवृत्ति करने का प्रचलन था; लेकिन सूत्रों के **अर्थ को** ठीक-ठीक जाननेवाले का अभाव था। उस स्थान में आचार्य ने (अपने) आठ प्रमुख शिष्यों के साथ धर्मोपदेश दिये। फलतः सर्वत्र (यह खबर) फैल गई कि महायानशासन की कुछ समय तक अवनति होने पर भी पुनः (इसकी) उन्नति हो रही है। उस समय राजा गम्भीरपक्ष प्रज्ञापारमिता-सूत्र की आवृत्ति करता था। उसने सोचा: "ये आचार्य आर्य हैं, और कहा जाता है कि (ये) परचित्त (की बात) भी जानते हैं। (यदि) यह (बात) सत्य है, तो मैं भी इनके गुणों की सराहना करूंगा। यदि असत्य है, तो लोगों को धोखा देता है, इसलिये लोगों के बीच में (इनका) विरोध और अपमान करूंगा।" यह कह (उसने अपने) मन्त्रियों, ब्राह्मणों और पांच सौ विश्वसनीय लोगों से बातचीत कर राजधानी के दालान में बहुजन के मध्य में आचार्य को परिषद् के साथ आमंत्रित किया। (उन्हें) भिक्षा और उत्तम-उत्तम चीवर अर्पित किये गये। घर के भीतर धवल मिट्टी से (श्वेत) किये गये कृष्ण महिष को छिपाया गया। एक स्वर्ण-कलश में नाना प्रकार की गंदी (वस्तुएं) डाल, ऊपरी हिस्सा मधु से भर, कपड़े में आवेष्टित कर, हाथ में धारण किये (राजा ने आचार्य से) प्रश्न किया: "इस घर में क्या है? हाथ में धारण किये हुए यह क्या (चीज) है?" (आचार्य ने) ठीक-ठीक बताया। इतना तो अल्प परोक्ष-ज्ञान रखने वाला भी (बता सकता) है, परचित्त (की बात) जानता है या नहीं? यह सोच (राजा ने) मन ही मन में छः प्रश्न किये—प्रज्ञापारमिता-सूत्र के पद पर तीन प्रश्न (और) आशय पर तीन प्रश्न। (आचार्य ने) यथावत् प्रश्नोत्तर दिये और त्रिस्वभाव-निर्देश[1] आदि और उसके अनुरूप एक-एक छोटे-छोटे शास्त्र का भी प्रणयन किया। शब्द पर किये गये तीन प्रश्न हैं: (१) बोधिसत्त्व नामक संज्ञा किस शब्द की व्युत्पत्ति है? पूछने पर क्या यह प्रश्नोत्तर अव्याकृत दृष्टि नहीं है कि यथार्थ में बोधिसत्त्व का दर्शन नहीं होता। (२) एक अति विशालकायवाले पक्षी का उदाहरण दिया गया है, (जिसका परिमाण) पांच सौ योजन है, इस विशालकाय का क्या अर्थ लिया जाता है? और (३) (यदि) पर्वतों और वनों का निमित्त दिखाई नहीं देता तो (अमुक देश) समुद्र के निकट है कहा गया है, (यह) दिखाई न देनेवाले निमित्त की सीमा कौन-सी है? (आचार्य ने इन प्रश्नों के उत्तर में कहा कि प्रथम (प्रश्न का तात्पर्य) अध्यात्म-शून्यता[2] से है। द्वितीय (प्रश्न का अभिप्राय) शुभ कार्य की प्रबलता से है। (और) तृतीय (का अर्थ) है महान धर्मोत्तर। अर्थों पर किये गये तीन प्रश्न हैं—(१) आलयविज्ञान द्रव्यतः है या नहीं? (२) (बुद्ध ने) सर्वधर्म निःस्वभाव है कहा है, अतः जो निःस्वभाव है क्या वह भी अभाव है? (३) शून्यता के द्वारा सब धर्म शून्यता के रूप में नहीं करने को कहा गया है, नहीं करनेवाली (शून्यता कौन है) और नहीं करने योग्य शून्यता कौन है? प्रथम (प्रश्न का उत्तर) है—व्यावहारिक रूपेण (आलयविज्ञान) द्रव्यतः सत् है, पारमार्थिक रूपेण असत्। द्वितीय (प्रश्न का उत्तर) है—तीन निःस्वभाव की दृष्टि से कहा गया है, अतः अभाव को पुनः भावाभाव दो में विभक्त किया गया है। तृतीय (प्रश्न का उत्तर) है—शून्यता

१—रङ-व्शिन-ग्सुम-ब्स्तन-प=त्रिस्वभाव-निर्देश। त० ११३।

२—नङ-स्तोङ-प-ञिद=अध्यात्म-शून्यता। छः विज्ञानों की शून्यता को कहते हैं। विस्तार के लिये द्र० मध्यमकावतार, छठा परिच्छेद।

के रूप में माननेवाली शून्यता है ---शून्यता के आकार की बुद्धि और इस (बुद्धि) द्वारा पूर्व में (शून्यता का) अस्तित्व (मानना) और बाद में असत् (मानना) दोनों का निषेध करना है। (आचार्य के प्रश्नोत्तर से) वहां (एकत्र) राजा और सब जन-समूह आश्चर्य में पड़ गये। आचार्य ने राजा को पूर्णरूपेण विनीत कर (उससे) महायान की पचीस धार्मिक संस्थाओं की स्थापना कराई और प्रत्येक में एक-एक सौ भिक्षु, उपासक आदि असंख्य (व ब्रह्मसंन्यासी वास करते) थे। उस स्थान में विहार करते समय (असंग ने अपने) अनुज वसुबन्धु को भी विनीत किया (जिसकी) चर्चा आगे की जायगी।

उस समय दक्षिण प्रदेश कृष्ण राज में वसुनाग नामक ब्राह्मण का आविर्भाव हुआ। आर्य असंग के द्वारा जिन अजित से उपदेश ग्रहण कर महायान का पुनरुत्थान किये जाने (की खबर) सुनकर वह स्वयं (अपने) ५०० अनुचरों से घिरा मध्यदेश आया। (उसने) अष्टमहास्थानों के स्तूपों की पूजा की। दक्षिण के ब्राह्मणों और गृहपतियों से कुशलमूल का उत्पाद करने के लिये आचार्य को निमंत्रण दिया। जब आचार्य (अपने) पचीस सहवासियों और ब्राह्मण वसुनाग के परिकरों के साथ प्रस्थान करने को थे (तो एक) दूत ब्राह्मण (वसुनाग) की मां के रोगग्रस्त होने (का सन्देश लेकर) आया। ब्राह्मण (को अपनी मां के पास) शीघ्रता से पहुंचने की उत्कट इच्छा (से अधीर देख) आचार्य ने उसे (कहा---) "ब्राह्मण, (यदि तुम्हारी) इच्छा हो तो (हम) शीघ्र ही पहुंच जायेंगे।" उसने भी वैसा ही (करने का निवेदन किया)। तब (वे कृष्णराज के लिये) प्रस्थित हुए और उसी दिन सायंकाल आचार्य और ब्राह्मण सपरिवार कृष्णराज पहुंचे। कृष्णराज, त्रिलिंगदेश के अन्तर्गत है। (इसकी यात्रा करने में) तीन मास लगते हैं और कहा जाता है कि (आचार्य अपने चमत्कार द्वारा) दो प्रहरों में पहुंचे। पश्चिम उद्यान देश से धनरक्षित नामक सेठ ने निमंत्रण दिया तो उस समय भी आचार्य ने सेठ (और उसके) परिवार के साथ मगध एवं उद्यान देश के समस्त मार्ग की यात्रा एक ही दिन में की। (आचार्य द्वारा) कृष्णराज देश और उद्यान देश में दीर्घकाल तक विहार करते धर्मोपदेश दिये जाने के फलस्वरूप सब लोगों में महायान का प्रसार हुआ। उन दोनों देशों में एक-एक सौ स्तूप बनवाये (और) पचीस-पचीस देवालय बनवाये, जिन में महायान की एक-एक धार्मिक संस्था भी स्थापित की।। उसी प्रकार मगध में भी एक सौ स्तूपों और पचीस धार्मिक संस्थाओं की स्थापना की। एक बार भारत के प्रान्तीय नगर अयोध्या के पास किसी राज्य में धर्मोपदेश कर रहे थे। उसके निकट तुरुष्कों का एक ग्राम था। उपदेश करते हुए आचार्य पर तुरुष्कों ने हमला कर दिया। (आचार्य ने) धर्मश्रोताओं को सहनशीलता की शिक्षा दी और सब समाहित होकर बैठे रहे। फलतः (तुरुष्कों के द्वारा) छोड़े गये सभी बाण चकनाचूर हो गये। तुरुष्कों के सेनानी द्वारा आचार्य पर तलवार से वार किये जाने पर भी (कोई) आघात नहीं पहुंचा और तलवार ही सौ टुकड़ों में चूर हो गई। और भी (उनकी) निन्दा करना आदि कितना ही (उपद्रव मचाया;) पर (वे) अडिग रहे। फलतः उन (तुरुष्कों) ने भी (आचार्य के प्रति) विशेषरूप से श्रद्धा प्रकट की और प्रणाम कर चले गये। ये आचार्य परचित्त-ज्ञान रखते थे, इसलिये हर उपदेश (करते समय) शिष्य जिस (विषय) को नहीं जानता और जिस (विषय में) सन्देह रहता था उसे विशदरूप से समझाते थे। यही कारण है कि इन आचार्य से धर्म श्रवण करनेवालों में कोई अविज्ञ नहीं था। उन दिनों प्रायः सभी महायानियों ने किसी न किसी सूत्र का उपदेश सुना था। आचार्य ने अपने व्यय से एक सौ धार्मिक संस्थाओं की स्थापना की। प्रत्येक में कम-से-कम दो-दो सौ अनुशीलन करनेवाले वास करते थे। साधारणतः धर्मोपदेश

सुननेवाले शिष्यसमुदाय अपरिमित (संख्या में) थे और सभी सम्मानपूर्वक सिद्धांत का पालन करते थे। भूमि[1] प्राप्ति के ज्ञान पानेवाले और प्रयोगमार्ग[2] के ज्ञानपानेवाले आदि हजारों (की संख्या में) हुए। (आचार्य ने) सूत्रान्त और सिद्धांतों का उपदेश आंशिक नहीं विस्तारपूर्वक दिया। श्रावक भी उन दिनों (आचार्य का) विशेषरूप से आदर करते थे। श्रावकों में अपने अभि(-धर्म) और सूत्रों (का आचार्य से उपदेश) सुननेवाले भी अनेक हुए। गांधारी विद्या की सिद्धि मिलने से तुषितलोक का भ्रमण और दूर की भी यात्रा पल भर में कर लेते थे। कल्पविद्या की सिद्धि पाने के कारण परचित्त (की बात) जानते थे। कहा जाता है कि शील की सम्पन्नता, बहुश्रुति और विद्यामंत्र की सिद्धि पाना ही (इनकी) विलक्षणता है, अन्यथा मात्र महायान में दीक्षित होना ही दोष है। पहले (जब) महायानधर्म का विकास चरम (सीमा पर पहुंच गया) था (उस) समय भी महायानी भिक्षुओं (की संख्या) दस हजार तक नहीं थी। नागार्जुन के (जीवन) काल में भी अधिकांश भिक्षु श्रावक (-स्थविरवादी) थे। इन आचार्य (=असंग) के (जीवन) काल में लाखों महायानी भिक्षुओं का आविर्भाव हुआ। कहा जाता है कि इन हेतुओं से (प्रमाणित होता है कि) सम्पूर्ण महायान शासन के अधिपति (आचार्य असंग) थे। परन्तु स्वयं आचार्य (असंग) के साथ रहनेवाले शिष्यों (की संख्या) केवल २५ थी जो भिक्षु थे। वे सब शीलवान, पिटकधर, (अपने) अधिदेव से सन्देह का समाधान करानेवाले और लब्धक्षान्ति के थे। (आचार्य असंग अपने) जीवन के उत्तरार्धकाल में नालन्दा में १२ वर्ष रहे। शीतकाल में प्रतिदिन एक-एक तीर्थिकवादी (शास्त्रार्थ करने) आता था और (आचार्य उन तीर्थिकों के) सिद्धांतों का विविध युक्तियों के द्वारा खंडन करते और (उन्हें) धर्मोपदेश करते थे। फलतः लगभग (एक) हजार तीर्थिकों ने (उनसे) प्रव्रज्या ग्रहण की। विहारों में (निवास करने वाले) जो भिक्षु दृष्टि (-दर्शन), शील, आचार और विधि (से) भ्रष्ट होते थे (उन) सब (को) धर्मानुसार दंड देते थे। फलतः संघ में पूर्णशुद्धि आ गई। अंत में राजगृह नगर में (इनका) निधन हुआ और इनकी (पुनीत) स्मृति में शिष्यों ने चैत्य बनवाया।

वसुबन्धु (४०० ई०) (को) तिब्बत में कुछ (लोग) आर्य असंग के जुड़वां भाई मानते हैं और कुछ (लोग) गुरु भाई। लेकिन आर्यदेशीय विद्वानों में ऐसा (कथानक) प्रचलित नहीं है। इनके पिता तीन वेदों से सम्पन्न एक ब्राह्मण थे। आचार्य आर्य असंग के प्रव्रजित होने के एक वर्ष पश्चात् (वसुबन्धु) पैदा हुए। ये दोनों आचार्य सगे भाई हैं। इनके आरम्भिक जीवन चरित की कथा आर्य असंग की भांति चलती है। (इन्होंने) श्री नालन्दा में प्रव्रजित होने के बाद सम्पूर्ण श्रावक त्रिपिटक का अध्ययन किया। इसके अतिरिक्त अभिधर्म का चरमज्ञान पाने के लिये, अष्टादश निकायों के सिद्धांतों को समझने के लिये तथा समस्त विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिये

१—स-थोब-प = लब्धभूमि। बोधिसत्त्व की दस भूमियां—(१) मुदिता, (२) विमला, (३) प्रभाकरी, (४) अर्चिष्मती, (५) सुदुर्जया, (६) अभिमुक्ति, (७) दूरंगमा, (८) अचला, (९) साधुमती और (१०) धर्ममेघ।

२—स्ब्योर-लम = प्रयोगमार्ग। बौद्धसाधक को पाँच मार्गों का अभ्यास करना पड़ता है। ये हैं—संभारमार्ग, प्रयोगमार्ग, दर्शनमार्ग, भावनामार्ग और अशैक्ष्यमार्ग।

काश्मीर चले गये । (वहां) मुख्यतः आचार्य संघ भद्र[1] के चरणों में रह, विभाषा, अष्टादश निकायों के प्रत्येक शास्त्र, प्रत्येक निकाय के सूत्र एवं विनय के भेद, तैर्थिकों के षडदर्शनों[2] के समस्त ग्रंथों और समस्त तर्कमतों में निष्णात एवं पाण्डित्य-सम्पन्न हो गये । उस देश में भी वर्षों तक (रह) उचितानुचित का विश्लेषण करते श्रावक पिटकों का व्याख्यान किया । पुनः मध्यदेश की ओर प्रस्थित हुए । मार्ग में तस्करों, मार्ग के यक्ष आदि (आचार्य के) मार्ग का अवरोध न कर सके और (वे) मगध पहुंचे । वहां भी कुछ वर्षों तक अनेक श्रावक संघों को यथोचित धर्मोपदेश करते रहे । उस समय आर्य असंगकृत पांचवर्ग भूमि की पुस्तकों का अवलोकन किया तो (आचार्य वसुबन्धु) महायान (के गूढ़ार्थ को) समझ न सके । अधिदेव से श्रवण करने पर विश्वास न हुआ और बोले :

> "काश, असंग ने वन में १२ वर्षों तक समाधि की,
> समाधि के असफल रह (ने पर) हाथी के,
> बोझ के बराबर ग्रंथों का प्रणयन किया "। ऐसा बताया जाता है ।

जो हो, कुछ (वसुबन्धु ने) व्याजोक्ति की थी। यह (बात) अग्रज आर्य असंग ने सुनी और जाना कि (अनुज को) विनीत करने का समय आ गया है । (असंग ने) एक भिक्षु से अक्षयमतिनिर्देश[3] सूत्र को कण्टस्थ कराया (और) दूसरे से दशभूमिक सूत्र[4]। कण्ठाग्र होने पर (उन दोनों को यह) कह कर (अपने) अनुज के यहां भेजा कि पहले अक्षयमति का पाठ करें (और) बाद में दशभूमि । उन दोनों ने भी (जब) सायंकाल अक्षयमति का पाठ किया, तो (वसुबन्धु ने) सोचा : "यह महायान कारण (-अवस्था = हेतु) में अच्छा है, कार्य (-अवस्था = फल) में शिथिल होगा ।" प्रातःकाल दशभूमि का पाठ किये जाने पर हेतु (और) फल दोनों श्रेष्ठ (मालूम हुआ और महायान) पर लगाये गये आक्षेप से महापाप किया सोच अपनी जीभ काटने के लिये उस्तरा खोजने लगे, तो वे दोनों भिक्षु बोले : "इसके लिये जिह्वा काटने की क्या आवश्यकता है ? पापशुद्धि का उपाय (अपने) अग्रज के पास है, इसलिये (आप) आर्य (असंग) के पास जावें।" (वह) आर्य के पास गये । तिब्बती इतिहास के अनुसार (वसुबन्धु ने) समस्त महायान ग्रंथों का अध्ययन किया । जब (दोनों) भाई धम-संलाप करते थे, तो अनुज की प्रतिभा तीव्र और अग्रज की प्रतिभा मंद होती थी । लेकिन (असंग ने भाई के प्रश्नों के) उत्तर सुन्दर (ढंग से) दिये तो (इसका) कारण पूछा गया । (असंग ने) कहा : " (मैं) अपने इष्टदेव से पूछकर प्रश्नोत्तर देता हूं ।" अनुज ने (इष्टदेव) के दर्शन कराने के लिये अनुरोध किया तो (असंग ने) कहा : "इस बार (तुम्हें उनके दर्शन का) सौभाग्य नहीं है ।" (यह) कह पापशुद्धि का उपाय बताया । लेकिन

१—ये वैभाषिक थे । मालूम होता है कि जन्मतिथि का निर्धारण किसी इतिहासकार ने नहीं किया ।

२—मु-स्तेगस्-चन-ग्यि-ल्त-व-द्रुग = तैर्थिक के षडदर्शन । हिन्दुओं के छः दर्शन यथा—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त ।

३—ब्लो-ग्रोस्-मि-सद-पस्-ब्स्तन-पहि-मदो = अक्षयमतिनिर्देश सूत्र । क० ३४ ।

४—स-ब्चु-पहि-म्दो = दशभूमिकसूत्र । क० ११ ।

(यह कथानक) भारतीय कथनानुसार नहीं प्रतीत होता, और युक्तियुक्त भी नहीं है। आर्य असंग से महायान सूत्रों का अध्ययन कर (अपने) गुरु (असंग) से शास्त्रार्थ करने तथा गुरु से बिना पूछे पुस्तक का अवलोकन कर (उसकी) व्याख्या करने की परिपाटि प्राचीन कालीन सत्पुरुषों में नहीं थी। संघ भद्र से भी कहते थे कि आचार्य के साथ विवाद नहीं करना चाहिए। (लेखक के इस बात को) मानते हुए फिर भला (यह) कैसे युक्तियुक्त हो सकता है कि (वसुबन्धु ने) आर्य असंग के साथ वाद-विवाद किया। जैसा कि (यह बात) सर्वविदित है असंग ने मैत्रेय से उपदेश ग्रहण किये थे। (फिर) वसुबन्धु के बेखबर होकर (असंग से) पूछने और असंग के इष्टदेव से पूछूंगा कह (अपने) अनुज से (इस बात को) गुप्त रखने की ये सब (बातें) युक्तिसंगत भी प्रतीत नहीं होती। अतः भारत के इतिहास में ऐसा वर्णन प्राप्त होता है कि पापमोचन का उपाय पूछे जाने पर आर्य (असंग) ने जिनाजित (-मैत्रेय) से पूछ कर (अपने अनुज से) कहा: कि "तुम महायान के ग्रंथों का विस्तारपूर्वक व्याख्यान करो, अनेक सूत्रों पर टीकाएं लिखो (और) उष्णीष विजयविद्या[1] का लाख बार पाठ करो।" यह कहने पर (वसुबन्धु को अपने) अग्रज से समस्त महायान सूत्रों को एक बार पढ़ने मात्र से (उनका) ज्ञान हो गया। एक मन्त्रज्ञ आचार्य से मन्त्रोपदेश ग्रहण कर ५०० धारणी-सूत्रों का पाठ किया। गुह्यपति के विद्यामंत्र जपने से सिद्धि मिली। परमार्थ का ज्ञान प्राप्त हुआ। विशिष्ट समाधि की उपलब्धि हुई। उस समय मनुष्यलोक में विद्यमान समस्त बुद्धवचनों का ज्ञान प्राप्त हो जाने से (उनकी यह) कीर्ति फैली कि शास्ता के निर्वाण के पश्चात् आचार्य वसुबन्धु के समान कोई बहुश्रुत नहीं है। श्रावकों के त्रिपिटक में से पांच सौ सूत्र (जो) ३००, ००० श्लोकों में हैं, आर्य रत्नकूट संनिपात[2] ४९ को एक साथ जोड़, अवतंसक[3] और महासंनिपातरत्न[4] को भी एक (ही पुस्तक) में गिनकर (और) शेष शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता इत्यादि कुल पांच सौ छोटे-बड़े महायान सूत्रों और पांच सौ धारणी मंत्रों (को) अर्थ सहित हृदयंगम कर लिया। प्रतिवर्ष एकबार उनका पाठ करते थे। तेलहंडे में प्रविष्ट हो, निरन्तर १५ अहोरात्र में (उपर्युक्त सब सूत्रों का) पाठ समाप्त करते थे। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता[5] का पाठ प्रतिदिन दो-एक घंटे में समाप्त कर लेते थे। जिस समय यह आचार्य महायान में दीक्षित हुए, श्रावक पिटकधर आदि लगभग पांच सौ विद्वान महायान में दीक्षित हो गये। आर्य असंग के निधन के पश्चात् (वसुबन्धु ने) श्री नालन्दा के संघनायक (का पद) ग्रहण किया और अनेक धर्मपर्याय की आवृत्ति करते थे। प्रतिदिन (शिष्यों की) रुचि के अनुकूल (किसी-किसी को) दूसरे (भिक्षुओं से) प्रव्रजित (और) उपसम्पन्न कराते थे और (किसी-किसी को) स्वयं प्रव्रजित करते थे। भिक्षुओं के प्रशास्ता एवं आचार्य के रूप में (कार्य) करते थे। अपने-अपने दोष का प्रतिकार कराते, स्वयं दशधर्माचरण का नियमित रूप से पालन

१—ग्चुग-तोर-र्नम-पर-र्ग्यल-महि-रिग-स्ङगस् = उष्णीष विजय विद्या। त० ८०।

२—ह्फगस्-प-द्कोन-म्छोक-ब्र्चेगस्-प-ह्दुस्-प = आर्य रत्नकूट संनिपात। क० २२।

३—फल-पो-छे = अवतंसक। क० ७।

४—ह्दुस्-प-रिन-पो-छे = महासंनिपातरत्न।

५—शेर-फियन-ब्र्ग्यद-स्तोङ-प = अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता। क० २१।

करते और अन्य एक हजार (भिक्षुओं) से प्रतिदिन दशधर्माचरण का पूर्णरूप से अभ्यास कराते थे। विशेषतया महायान के विभिन्न सूत्रों पर नियमित रूप से तीन अलग-अलग बार व्याख्यान करते थे। संध्या समय धर्मों का सार संगृहीत कर (उसपर) वाद-विवाद करते थे और मध्यरात्रि में किंचित् निद्रावस्था में आर्यदेव से धर्म श्रवण करते थे। प्रातःकाल सम्यक् समाधि में लीन हो जाते थे। कभी-कभी शास्त्र की रचना करते और तीर्थिकवादियों का समाधान करते थे। पंचविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता,[1] अक्षयमतिनिर्देश, दशभूमक, रत्नानुस्मृति,[2] पंचमुद्रासूत्र,[3] प्रतीत्यसमुत्पाद-सूत्र[4] सूत्रालंकार, दो विभंग इत्यादि महायान (और) हीनयान के छोटे-बड़े सूत्रों, टीकाओं इत्यादि पर परटीका के रूप में लगभग पचास (पुस्तकों) और स्वतन्त्ररूप से अष्टप्रकरण की रचना की। उष्णीषविजय का शतसहस्र बार उच्चारण करने पर उसकी विद्या की सिद्धि मिली। तब गुह्यपति के साक्षात् दर्शन पाने पर-अपरिमित समाधि का लाभ हुआ। इस प्रदेश में ('यह बात) सामान्यरूप से प्रसिद्ध है कि इन आचार्य के द्वारा विरचित प्रतीत्य समुत्पाद-सूत्र की टीका आदि तीन पर टीकाओं की गणना अष्टप्रकरणों में की जाती है, लेकिन टीका को प्रकरण की संज्ञा नहीं दी जाती, और साथ ही न व्याख्यायुक्ति के लिये भी प्रकरण की संज्ञा प्रयुक्त की जाती है। प्रकरण, उस प्रकीर्णशास्त्र का नाम है जो एक-एक-प्रमुख विषय का निर्देश करता है। अतः सूत्रालंकार जैसे प्रौढ़ ग्रंथ को भी (प्रकरण) नहीं कहा जाता, फिर भला उसकी टीका की बात तो कहना ही क्या। यह भी उचित नहीं है कि आठ प्रकरणों में से किसी का प्रकरण नाम हो और किसी का नहीं हो। इन आचार्य ने दूर प्रत्यन्त देशों का भ्रमण नहीं किया। (वे) अधिकतर (समय) मगध में ही रहे, जहां पुरातन धार्मिक संस्थाओं का कुछ जीर्णोद्धार किया और महायान की एक सौ आठ धार्मिक संस्थाओं की स्थापना कर मगध के सर्वत्र धार्मिक संस्थाओं से व्याप्त किया। एक बार पूर्व गौरी देश का भ्रमण किया। वहां भारी (संख्या में) एकत्र नागरिकों को (आचार्य द्वारा) अनेक सूत्रों का उपदेश दिये जाने पर देवताओं ने स्वर्णमय पुष्प बरसाये। प्रत्येक भिखारी को एक-एक द्रोण स्वर्ण-पुष्प मिला। उस देश में भी १०८ धार्मिक संस्थाएं स्थापित की। ओडिविश में ब्राह्मण मक्षिक ने (आचार्य को) आमंत्रित किया और वहां १२ हजार महायानी भिक्षुओं के लिये तीन माह तक (धार्मिक) उत्सव मनाया गया। फलतः ब्राह्मण के घर में बहुमूल्य (पदार्थों की) पांच खानें प्रस्फुटित हुईं। उस देश में भी ब्राह्मण, गृहपति और राजाओं ने (आचार्य के प्रति) श्रद्धा प्रकट की और १०८ धार्मिक संस्थाएं स्थापित कीं। और भी दक्षिण प्रदेश आदि अनेक (प्रदेशों) में भी स्वयं आचार्य द्वारा आज्ञा देकर स्थापित की गईं धर्म संस्थाओं की संख्या कुल-जमा उपर्युक्त के बराबर है। अतः, कहा जाता है कि (आचार्य द्वारा) ६५४ धार्मिक संस्थाओं की स्थापना हुई। आचार्य आर्य असंग के समय की अपेक्षा (आचार्य वसुबन्धु के) समय में महायानी (भिक्षु-) संघ (की संख्या) अधिक थी। कहा जाता है कि सभी प्रदेशों के जोड़ने से महायानी भिक्षुओं (की संख्या) लगभग ६०,००० पहुंच जाती है। स्वयं आचार्य के साथ चलनेवाले और सहवासी

१--शेर-फ्यिन-त्रि-खि-लङ-स्तोङ्प=पंचविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता। क० १८-१९।

२--द्कोन-म्छोग-र्जेस्-द्रन=रत्नानुस्मृति।

३--फ्यग-र्ग्य-ल्ङहि-म्दो=पंचमुद्रासूत्र।

४--र्तेन-ह्ब्रेल-ग्यि-म्दो=प्रतीत्यसमुत्पाद-सूत्र।

भिक्षुओं की भी (संख्या) लगभग १,००० थी, और वे सब-के-सब शीलवान और बहुश्रुत थे। जिन (स्थानों) में आचार्य वास करते थे (उन) सब में अमनुष्यों द्वारा पूजोपकरण उपस्थित किया जाना और बहुमूल्य खानों का प्रस्फुटित होना आदि अवसर अलौकिक घटनाएँ हुआ करती थी। (जो कोई) मन ही मन शुभाशुभ प्रश्न करता, (आचार्य अपनी) अभिज्ञा द्वारा (उसका) प्रश्नोत्तर सही-सही देते थे। राजगृह नगर में आग लगने पर (आचार्य के) सत्यवाक् से अग्नि शांत हुई। जनान्तपुर में संक्रामक रोग फैलने पर भी सत्यवाद से शान्त हुआ। विद्यामंत्र के प्रभाव द्वारा (अपनी) आयु पर वश पाना आदि अनेक आश्चर्यजनक कथाएं प्रचलित हैं। पहले और पीछे लगभग पांच सौ तीर्थिकवादियों का खण्डन किया। साधारणतः लगभग पांच हजार ब्राह्मणों और तीर्थिकों को बुद्धशासन में दीक्षित किया। अंत में एक हजार आचार्यों से घिरे नेपाल की ओर प्रस्थित हुए। वहां भी धर्मसंस्थाएं स्थापित कर अनेक भिक्षुसंघों की वृद्धि की। (किसी) गृहस्थ को चीवर धारण किये खेत जोतते हुए देख (आचार्य) अब बुद्धशासन का पतन हो चला है कह उद्विग्न हुए। और संघ के बीच में धर्मोपदेश कर उष्णीषविजय धारणी का तीन बार आद्योपान्त पठन कर वहीं अपना शरीर छोड़ दिया। कहा जाता है कि कुछ समय के लिये धर्म (रूपी) सूर्य अस्त हो गया। वहाँ (उनकी स्मृति में) शिष्यों ने स्तूप भी बनवाया। तिब्बती इतिहास के अनुसार (वसुबन्धु द्वारा) अभि (-धर्म) कोश का मूल रत्नाकर काश्मीर में संघभद्र के यहां भेजा गया, तो (वह) प्रसन्न हुए, (पर कोश की) टीका दिखाये जाने पर अप्रसन्न हुए। (संघभद्र के) शास्त्रार्थ करने के लिये मगध आने पर वसुबन्धु ने कहा: "(मैं) नेपाल जा रहा हूं।" (वसुबन्धु द्वारा) कोश (और उसकी) टीका रत्नाकर संघभद्र को प्रस्तुत करने पर (उनके) प्रसन्न और अप्रसन्न होना आदि (बात) सही ठहरे, (पर) संघभद्र के मगध आने की कथा भारतीय (इतिहास) में उपलब्ध नहीं है। (यदि) आये भी तो पूर्व काल में (आये होंगे)। (क्योंकि) प्रतीत होता है कि वसुबन्धु के नेपाल जाते समय संघभद्र का निधन हुए अनेक वर्ष बीत गये थे। आचार्य आर्य असंग द्वारा प्रव्रजित होकर लगभग ७५ वर्ष धार्मिककार्य किये जाने (और) १५० वर्ष (की आयु) तक जीवित रहने का (जो) कथन किया गया है (वह) अर्धवर्ष (को एक वर्ष गिना गया) है, और (यह कथन) धार्मिक जीवन की दृष्टि से युक्ति युक्त है। तीस वर्ष से अधिक जगत् का उपकार अवश्य ही किया था। कुछ भारतीयों का मत है कि चालीस वर्ष से अधिक (लोक कल्याण) सम्पन्न किया। आचार्य वसुबन्धु लगभग १०० वर्ष (की आयु) तक वर्तमान रहे। आर्य असंग के जीवन काल में ही (वसुबन्धु ने) अनेक वर्ष तक जगत का हित सम्पादित किया था, (और) आर्य (असंग) के बाद लगभग २० वर्ष जगत् हित किया। यह कहना न्याय संगत है कि भोट नरेश ल्ह-थो-रि-ग्ञन-बृचन इन आचार्य के समसामयिक था। आर्य असंग (और उनके) भाई (वसुबन्धु) कालीन कथाएं (समाप्त)।

(२३) आचार्य दिङ्नाग (४२५ ई०) आदिकालीन कथाएँ।

महान् आचार्य वसुबन्धु के लगभग उत्तरार्ध जीवनकाल में, राजा गम्भीर पक्ष की मृत्यु के पश्चात्, पश्चिम मरुदेश में उत्पन्न राजा श्रीहर्ष का आविर्भाव हुआ। (वह) अत्यन्त शक्तिशाली था और (उसने) समस्त पश्चिम राष्ट्रों पर शासन किया। पीछे बुद्ध शासन के प्रति आस्था हो, (वह) आचार्य गुणप्रभ (को) अपने गुरु के रूप में मानने लगा। उस समय के लगभग पूर्व दिशा में राजा वृक्षचन्द्र का वंशज राजा विगम चन्द्र और उसका पुत्र कामचन्द्र राज्य कर रहे थे। वे दोनों राजा शक्तिशाली, महाभोग

वाले, दानप्रिय (और) धर्मानुकूल राज्य करनेवाले थे, लेकिन त्रिरत्न की शरण में अनागत थे। बौद्ध (और) अबौद्ध दोनों का सत्कार करते थे, विशेषकर निर्ग्रन्थों पर श्रद्धा रखते थे। कहा जाता है कि काश्मीर में उस समय भी राजा महासम्मत[1] विद्यमान था। उस समय पूर्वदिशा में आचार्य स्थिरमति और दिङ्नाग जनहित का कार्य करते थे। पश्चिमदिशा में आर्य असंग के शिष्य बुद्धदास के उत्तराध जीवन काल में उनके द्वारा जगतहित और गुणप्रभ के जगत्हित में प्रगति होने का समय था। काश्मीर में भदन्त संघदास ने विपुल जन-कल्याण किया। आचार्य धर्मदास सब देशों का भ्रमण करते हुए धर्मोपदेश करते थे। दक्षिण प्रदेश में आचार्य बुद्धपालित का प्रादुर्भाव हुआ। भव्य और विमुक्तसेन का लगभग पूर्वार्ध जीवनकाल था। ओडिविश में राजा जलेरुह का बेटा नागेश और नाकेश नामक ब्राह्मण मंत्री का प्रादुर्भाव हुआ। सात वर्ष के लगभग राज्य करने पर (वे) अत्यन्त शक्तिशाली बन गये। (यहां तक कि) विगमचन्द्र भी (उन्हें) प्रणाम करता था। आचार्य लूईपाद द्वारा विनीत किये जाने पर (राजा ने) राज्य का परित्याग किया। सिद्धि पाने वाले राजा दारिकपा और मंत्री डेंगिपा थे। आचार्य त्रिरत्न दास भी भव्य के समकालीन थे। ओडिविश में भद्रपालित नामक ब्राह्मण ने भी (बुद्ध) शासन की बड़ी सेवा की। इन (राजाओं) में से जब राजा श्री हर्ष (एक) अतुल्य राजा बना, (उसने) म्लेच्छ सम्प्रदाय (को) नष्ट करना चाहा। इसलिये (उसने) मौलस्थान के पास एक छोटे प्रदेश में केवल लकड़ियों की (एक) विशाल मसजिद बनवायी और सारे म्लेच्छ (धर्म के) उपदेशकों को बुलवाया। महीनों तक सभी साधनों का प्रबन्ध किया। उनके सिद्धान्त की सभी पुस्तकें इकट्ठी कराके आग में जला दीं। फलस्वरूप १२,००० म्लेच्छ सिद्धान्तवादी जल (कर मर) गये। उस समय खोरसन देश में एक म्लेच्छ-धर्म का ज्ञाता था जो बिनाई का काम करता था। उससे धीरे-धीरे (जो सन्तान) फैलती गयी (वे) बाद के सभी म्लेच्छ (जाति के) लोग हैं। उस राजा द्वारा इस तरह (म्लेच्छ जाति का) विनाश किये जाने के कारण लगभग १०० वर्षों तक फारसी मत के अनुयायियों (की संख्या) बहुत कम हो गई। तब (राजा श्रीहर्ष ने) पाप-मोचन के लिये मरु, मालवा, मेवर, पितुव और चितवर नामक देशों में एक-एक महाविहार बनवाया, एक-एक हजार भिक्षुओं की जीविका का प्रबन्ध किया और (बौद्ध) धर्म का विपुल प्रचार किया।

महान् आचार्य गुणप्रभ का जन्म मथुरा में एक ब्राह्मण कुल में हुआ। (वह) समस्त वेदों और शास्त्रों में निष्णात हो गये। पीछे उसी (देश) में एक विहार में प्रव्रजित और उपसम्पन्न हो, महान आचार्य वसुबन्धु के पास श्रावक के त्रिपिटक और अनेक महायान सूत्रों का भी विद्वता के साथ अध्ययन किया। विभिन्न निकायों के समस्त विनयों (और) शास्त्रों में पाण्डित्य-सम्पन्न हुए। एक लाख (श्लोकात्मक) विनय का नित्य प्रति पाठ करते थे। मथुरा के अग्रपुरी नामक विहार में वास करते थे। (इनके साथ) पांच हजार सहचारी भिक्षु रहते थे जो सब-के-सब सूक्ष्म से सूक्ष्म नियमों का उल्लंघन होने पर तत्काल दोष का प्रतिकार करते थे। अतः (वे सब) वैसे ही विशुद्ध शीलवान् थे, जैसे पूर्व में अर्हतों द्वारा (बुद्ध) शासन का संरक्षण किये जाने के समय में थे। सूत्रधर और मातृकाधर भी अनेक थे। एक लाख (श्लोक वाले) विनय को कण्ठस्थ रखनेवाले भी पांच सौ के लगभग थे। शील की विशुद्धि के बल द्वारा राजा श्री हर्ष

१—मङ-पोस्-ब्कुर=महासम्मत।

के मनंगराज नामक मंत्री (की) एक बार राज-दण्ड से आंखें निकाल दिये जाने पर भी आचार्य के शील के विशुद्धि के प्रताप (तथा) प्रणिधान के बल से (उसकी आंखें) पूर्ववत् हो गईं। राजगुरु होने के नाते प्रतिदिन (उन्हें) प्रचुर सामान भेंट स्वरूप प्राप्त होते थे, लेकिन (वे) तत्काल सभी (वस्तुएं) शुभ (कार्यों) में उपयुक्त करते और स्वयं धुतांगों से भ्रष्ट नहीं होते थे।

आचार्य स्थिरमति। जब आचार्य वसुबन्धु ९९ लाख (श्लोकात्मक) प्रवचनों का पाठ करते थे, (तो) एक आजानेय कबूतर भित्ति के बीच में बैठ आदरपूर्वक सुना करता था। मरने के बाद वह दण्डकारण्य नामक प्रदेश में एक सेठ के पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होते ही (उसने) आचार्य का पता पूछा। "कौन आचार्य हैं?" (यह) पूछे जाने पर (उसने कहा:) "वसुबन्धु हैं।" (उन्होंने) बताया: "मगध में रहते हैं।" उस देश (मगध) के व्यापारी से पूछने पर भी (मगध में) होने (की खबर मिली)। सात वर्ष (की अवस्था) में (वह) आचार्य वसुबन्धु के पास ले जाया गया और विद्या सिखाये जाने पर बिना कठिनाई के सीख ली। उस समय मुट्ठी भर चना मिला और (वह उसे) खाने के विचार से किसी तारा-मन्दिर में था। आर्या (तारा) को बिना चढ़ाये (मेरा) खाना उचित नहीं है सोच कुछ चने चढ़ाये, तो लुढ़कते आये। आर्या के खाये बिना स्वयं नहीं खाना चाहिए सोच (चने के) समाप्त होने तक चढ़ाये; पर वे चने लुढ़कते ही गए। इस पर बालक होने के कारण (वह) रो पड़ा। आर्या ने साक्षात् दर्शन देकर कहा: "तू रो मत, मैं आशीर्वाद देती हूँ।" तत्क्षण (वह) अनन्तमति हो गया, और वह मूर्ति माष-तारा के नाम से प्रसिद्ध हुई। पीछे (वह) त्रिपिटकधर स्थविर बन गये। विशेषकर महायान (और) हीनयान के समस्त अभि (धर्मों) में निपुण हो गये। (वह) आर्य रत्नकूट की आवृत्ति करते (और) सब कार्य आर्यातारा के निर्देशन में (करते थे)। ४९ रत्नकूट संग्रह और मध्यमक मूल की वृत्ति भी लिखी। आचार्य वसुबन्धु के निधन के कुछ ही (समय) बाद (उन्होंने) तैर्थिक वेष्टपाल आदि अनेक (तैर्थिक) वादियों का खण्डन किया और (वह) वागीश्वर के (नाम से) विख्यात हुए। आचार्य वसुबन्धु-कृत अधिकांश वृत्तियों पर भाष्य लिखा और (मूल) ग्रंथों की अनेक टीकाएं भी लिखी। कहा जाता है कि अभि(-धर्म-) कोश पर भी वृत्ति लिखी है, (पर) यही आचार्य हैं या नहीं इसका पता नहीं। पिछले आचार्यों के समय में स्थापित की गईं धर्म संस्थाएं उस समय अधिक न थीं। अतः, कहा जाता है कि इन आचार्य ने भी १०० धार्मिक संस्थाएं स्थापित कीं।

आचार्य दिङ्नाग (३४५ ई०) का जन्म दक्षिण कांची के पास सिंहवक्त्र नामक नगर में (एक) ब्राह्मण कुल में हुआ था। (उन्होंने) सब तैर्थिक सिद्धान्तों में प्रगाढ़ विद्वत्ता प्राप्त की। वात्सीपुत्रीय सम्प्रदाय के प्रशास्ता नागदत्त से प्रव्रज्या ग्रहण कर, श्रावक के त्रिपिटक में पाण्डित्य प्राप्त किया। उन्हीं प्रशास्ता से उपदेश ग्रहण करने पर (प्रशास्ता ने) अवर्णनीय आत्मा की खोज करने का उपदेश दिया। सावधानी से (आत्मा की) गवेषणा करने पर (उसका) अस्तित्व (कहीं) दृष्टिगत नहीं हुआ। दिन (में) सब खिड़कियां खोल, रात (को) चारों ओर दीप जला, (अपने) शरीर (को) नग्न कर बाहर (और) भीतर सर्वत्र देखा। (इन्हें) ऐसा करते हुए साथियों ने देखा और (यह बात) प्रशास्ता से कही। प्रशास्ता के पूछने पर (उन्होंने) कहा "मैं मन्दबुद्धि होने के कारण प्रशास्ता द्वारा उपदिष्ट तत्त्व के दर्शन करने में असमर्थ हूँ, इसलिये आवरण से अवगुण्ठित हुआ हूँगा सोच ऐसा करके देखता हूँ।" (दिङ्नाग द्वारा) उस (आत्मवाद) का खण्डन करने की युक्तियां प्रस्तुत किये जाने पर वह क्रुद्ध होकर बोला: "मेरे सिद्धान्त

पर व्यङ्ग्य करनेवाला तू (यहां से) हट जा।" (और उसने आचार्य को) अस्थान में बहिष्कृत कर दिया। यद्यपि (दिङ्नाग अपनी) प्रतिभा से वहीं (उसका) खण्डन कर सकते थे; (पर गुरु के साथ ऐसा करना) उचित नहीं है, इसलिये प्रणाम कर चल दिये। क्रमशः आचार्य वसुबन्धु के यहां पहुँचे। महायान (और) हीनयान के समस्त पिटकों का श्रवण किया। कहा जाता है कि अंत में (उन्होंने) ५०० सूत्रों को कंठस्थ कर लिया जो महायान, हीनयान और मंत्रधारणी को मिला-जुला कर है। विशेषकर किसी मंत्रज्ञ आचार्य से विद्यामंत्र ग्रहण कर साधना करने पर आर्य मंजुश्री ने साक्षात् दर्शन दिये। फलतः (वह) जब चाहते (मंजुश्री से) धर्मोपदेश सुनते थे। ओडिविश में किसी जन-विहीन अरण्य के एक भाग (में) भोरशैल नामक गुफा में रह, एकाग्र (चित्त) से ध्यानाभ्यास करने लगे। कुछ वर्ष के बीतने पर श्री नालन्दा में तीर्थिकों का भारी विवाद उपस्थित हुआ। वहां सुदुर्जय नामक एक ब्राह्मण भी सम्मिलित हुआ जो अपने इष्टदेव के साक्षात् दर्शन पा, तर्क में निष्णात (और शास्त्रार्थ में) अपराजित था। वहां बौद्धों ने (उसके साथ) शास्त्रार्थ करने में असमर्थ हो, पूर्वदिशा से आचार्य दिङ्नाग को आमंत्रित किया। (आचार्य ने) उस तैर्थिक को तीन बार परास्त किया और वहां एकत्रित सभी तीर्थिकवादियों का एक-एक करके खण्डन किया (तथा उन्हें) बुद्ध शासन में प्रतिष्ठित किया। वहां (भिक्षु) संघ को अनेक सूत्रों का व्याख्यान किया, अभिधर्म का विकास किया (और) विविध न्याय और तर्क शास्त्रों का भी प्रणयन किया। कहा जाता है कि कुल जमा १०० पुस्तकों की रचना की। पुनः ओडिविश जा, ध्यानाभ्यास करने लगे। वहां अपनी असाधारण प्रतिभा के बल से निसृत तर्क सिद्धान्त पर पहले रचे गये शास्त्रों के तितर-बितर हो जाने से (उन्हें) एक (पुस्तकाकार) में लिखने का विचार किया और प्रमाण-समुच्चय[1] के मंगलाचरण (और) प्रतिज्ञा (में लिखा है)--

"प्रमाणभूत, जगत् के हितैषी,
शास्ता, सुगत (और) त्राता को प्रणाम कर,
प्रमाण सिद्धि के लिये अपने सब ग्रंथों को,
संगृहीत कर बिखरी हुई (कृतियों का) एकीकरण करता हूँ।।

(आचार्य द्वारा यह श्लोक) खड़िया मिट्टी से लिखे जाने पर भूकम्प हुआ, सब दिशाएं आलोक से व्याप्त हुई और महाशब्द गूंज उठा। कृष्ण नामक ब्राह्मण ने यह शकुन जान, आचार्य के भिक्षाटन करने के लिए चले जाने के बाद जाकर उसे मिटा दिया। इस प्रकार दो बार मिटाये जाने पर तीसरी बार (आचार्य ने) लिखा: "(यदि तुम) इसे परिहास और क्रीड़ा के लिये (मिटाते हो), तो (इसकी) बड़ी आवश्यकता है, अतः मत मिटाओ। यदि अर्थ में गलतियां पाकर शास्त्रार्थ करना चाहते हो, तो (अपना) रूप प्रकट करो।" फिर भिक्षाटन के लिए चले जाने के पश्चात् मिटाने आया, तो (वह) पत्र देख, (आचार्य

१--छद-म-कुन-लस्-ब्तुस् = प्रमाणसमुच्चय। त० १३०। आचार्य दिङ्नाग का यह ग्रंथ मूल संस्कृत में उपलब्ध नहीं है। संस्कृत श्लोक के प्रथम दो पाद यशोमित्र की अभिधर्म-कोश-व्याख्या में सुरक्षित है--

प्रमाण-भूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने।

इस श्लोक की पूर्ति निम्नलिखित दो पादों से की जाती है:--

प्रमाणसिद्ध्यै स्वकृतिप्रकीर्णनात् निबध्यते विप्रसृतं समुच्चितम्।।

की) प्रतीक्षा करने लगा। लौट कर आचार्य ने (बुद्ध) शासन की साक्षी देकर, शास्त्रार्थ किया और अनेक बार तीर्थिक को हराया। (जब आचार्य ने) कहा: "अब तुम बुद्ध शासन में प्रवेश करो" तो उसने अभिमंत्रित-धूल फेंकी, जिसके फलस्वरूप आचार्य का सामान जल गया। आचार्य भी जलते-जलते बच गये। वह तीर्थिक बाहर चला गया। (आचार्य ने) सोचा: "मैं इसी एक के हित करने में भी असमर्थ हूँ, भला दूसरे का हित कैसे कर पाऊँ।" (यह विचार कर जब वे) चित्तोत्पाद (-बोधिचित्त का उत्पाद) त्यागने लगे, तो साक्षात् आर्य मंजुश्री पधार कर बोले: "पुत्र, मत, मत (तू ऐसा) कर! जघन्य जन के संग में कुबुद्धि उत्पन्न होती है। (मैं) जानता हूँ कि तेरे इस शास्त्र का तीर्थिक समुदाय (कुछ) बिगाड़ नहीं सकेगा। तेरे बुद्धत्व की प्राप्ति तक मैं कल्याण मित्र के रूप में रहूँगा। भविष्यत् काल में यह सभी शास्त्रों का एक मात्र चक्षु बनेगा।" यह कहने पर आचार्य ने निवेदन किया: "(यह जीवन) अनेक असह्य दुःखों से युक्त (है जिसे) सहन करना कठिन है; (मेरा) मन भी दुराचार में आसक्त रहता है; सत्पुरुष से भेंट होना दुष्कर है; यदि आपके दर्शन मिले भी, मुझे आशीर्वाद नहीं मिला है, इस पर (मैं) करूँ क्या।" "पुत्र, तू मत अप्रसन्न हो। सभी आतंकों से मैं (तुझे) बचाऊंगा।" यह कह (आर्य मंजुश्री) अन्तर्धान हो गये। तब (आचार्य ने) उस शास्त्र की भी अच्छी तरह रचना की। एक बार कुछ अस्वस्थ हो गये और नगर से भिक्षाटन कर किसी वन में बैठे थे, तो (उन्हें) नींद आ गई। स्वप्न में अनेक बुद्धों के दर्शन मिले और अनेक समाधि की उपलब्धि हुई। बाहर देवताओं ने पुष्प बरसाये, वन्य पुष्प भी (आचार्य की ओर) झुक गये (और) गजयूथ शीतल छाया कर रहा था। उस समय देश का राजा (अपने) अनुचरों के साथ मनोरंजन के लिये (उसी वन की ओर) गया तो (आचार्य को) देखा, और आश्चर्यचकित हो, वाद्य ध्वनि करने लगे, जिससे (उनकी) नींद टूट गई। "क्या आप दिङ्नाग हैं?" पूछने पर (उन्होंने) कहा: "लोग मुझे) ऐसा ही कहते हैं।" राजा ने (उनके) चरणों में प्रणाम किया। उसके बाद (आचार्य) दक्षिण-प्रदेश चले गये। भिन्न-भिन्न देशों के अधिकांश तीर्थिक वादियों का खण्डन किया। पूर्ववर्त्ती आचार्यों द्वारा स्थापित अधिकांश धार्मिक संस्थाओं का जीर्णोद्धार किया। फिर ओडिविश के राजा के भद्रपालित नामक मंत्री को, जो राजा का कोषाध्यक्ष था, बुद्ध शासन में दीक्षित किया। उस ब्राह्मण ने १६ महाविहार बनवाये। प्रत्येक (विहार) में महाभिक्षु संघ का गठन किया। प्रत्येक विहार में अनेक धार्मिक संस्थाएं स्थापित कीं। (संघ के) शील की विशुद्धि के द्योतक स्वरूप उस ब्राह्मण के उद्यान में सब रोगों को दूर करनेवाला मुष्टिहरीतकी का (एक) वृक्ष था जो एक बार बिलकुल सूख गया था। आचार्य के प्रणिधान करने पर सात दिनों में हरा भरा हो गया। इस प्रकार अधिकांश तीर्थिकवादियों का खण्डन करने पर वे तर्कपुंगव के (नाम) से प्रसिद्ध हुए। सब दिशाओं में (उनकी) शिष्यमण्डली थी, लेकिन एक भी अनुयायी श्रमण को अपने पास नहीं रखते थे। अल्पेच्छुक और सन्तोषी थे और आजीवन १२ धुतगुणों में प्रतिष्ठित रहते हुए (वे) ओडिविश के किसी एकान्त वन में निर्वाण को प्राप्त हुए।

भदन्त संघदास। आचार्य वसुबन्धु के शिष्य थे। (ये) दक्षिण प्रदेश के रहनेवाले थे, जाति के ब्राह्मण थे (और) सर्वास्तिवादी थे। उन्होंने वज्रासन (-बुद्ध गया) में दीर्घकाल तक रह, विनय और अभि (-धर्म) के चौबीस स्कूल स्थापित किये। तुरुष्क राजा महासम्मत के निमंत्रण पर काश्मीर चले गये। रत्नगुप्त और कुम्भकुण्डली विहारों का निर्माण किया। महायान धर्म का विपुल प्रचार करने के बाद उसी देश में (इनका) निधन हुआ। काश्मीर में पहले महायान शासन का अधिक प्रचार नहीं था। असंग (और

उनके) भाई (वसुबन्धु) के समय थोड़ा-बहुत प्रसार हुआ। इन आचार्य के समय से (महायान का) उत्तरोत्तर विकास होने लगा।

आचार्य धर्मदास का जन्म पूर्वी भंगल में हुआ था। (ये) असंग (और उनके) भाई (वसुबन्धु) दोनों के शिष्य थे। चारों दिशाओं के सब देशों का भ्रमण कर आय मंजुश्री का एक-एक मन्दिर बनवाया। कहा जाता है कि (इन्होंने) सम्पूर्ण योगाचार "भूमि" पर टीका लिखी।

आचार्य बुद्धपालित (पांचवीं शताब्दी के आरम्भ में) का जन्म दक्षिण तम्बल देश के अन्तगत हंसक्रीड़ा[1] नामक (ग्राम) में हुआ था। (इन्होंने) उसी देश में प्रव्रज्या ग्रहण कर (महायान का) बहुत अध्ययन किया और आचार्य नागमित्र के शिष्य आचार्य संघरक्षित के साथ आचार्य नागार्जुन के ग्रंथों को पढ़ा। (अध्ययन समाप्त कर) एकाग्र (चित्त) से ध्यान-भावना करने पर परमज्ञान को प्राप्त हुए। उन्हें आर्य मंजुश्री के दर्शन मिले। दक्षिण के दण्डपुरी नामक विहार में रह, अनेक धर्मोपदेश दिये। आर्य पिता-पुत्र (-नागार्जुन और आर्यदेव), आचार्य शूर इत्यादि द्वारा रचित अनेक शास्त्रों की व्याख्याएं लिखीं। अंत में गुटिकासिद्धि की साधना करने पर सिद्धि मिली।

आचार्य भव्य (भावविवेक) का जन्म दक्षिण मल्य में एक श्रेष्ठ क्षत्रिय कुल में हुआ था। (इन्होंने) उसी देश में प्रव्रज्या ग्रहण कर, त्रिपिटक में विद्वत्ता प्राप्त की। मध्य देश में आ, आचार्य संघरक्षित से महायान के अनेक सूत्र और नागार्जुन के उपदेश ग्रहण किये। फिर दक्षिण प्रदेश को चले गये, और वज्रपाणि के दर्शन प्राप्त कर, विशिष्ट समाधि की सिद्धि की। दक्षिण के लगभग पचास विहारों का अधिपतित्व किया और अनेक धर्मोपदेश किये। आचार्य बुद्धपालित के निधन के पश्चात् उनके रचित शास्त्रों का अध्ययन किया। मध्यमकमूल ग्रंथ पर लिखे गये पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का खण्डन किया और (मध्यमकमूल पर) टीका लिखकर, नागार्जुन के उपदेश का अवलम्बन करने की प्रतिज्ञा की और कुछ सूत्रों की वृत्तियां लिखीं। अन्त में इन्होंने भी गुटिका-सिद्धि की साधना कर सिद्धि प्राप्त की। पर ये दोनों आचार्य विपाकरूपी शरीर (को) छोड़कर, विद्याधर के स्थान को चले गये। इन दो आचार्यों ने माध्यमिक अभाववाद की स्थापना की। आचार्य बुद्धपालित के अधिक शिष्य नहीं थे। परन्तु आचार्य भव्य के शिष्य भारी संख्या में थे। हजारों की संख्या में अनुचर भिक्षुओं के रहने के कारण (इनके) मत का व्यापक रूप में प्रचार हुआ। इन दो आचार्यों के आगमन से पूर्व समस्त महायानी एक ही शासन में रहते थे। इन दो आचार्यों ने (एक दूसरे का यह) खण्डन किया कि आर्य नागार्जुन और आर्य असंग के मत में बड़ा अन्तर है—असंग का मत मध्यम मार्ग का प्रदर्शक न होकर विज्ञानमात्र है (जबकि) आर्य नागार्जुन का मत (माध्यमिक पंथ है, अतः) हम इस (मत) को छोड़ अन्य सिद्धान्त (को स्वीकार) नहीं (करते) हैं। फलतः भव्य की मृत्यु के पश्चात् महायान भी दो निकायों में बँटा और वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ। आचार्य स्थिरमति ने मध्यमकमूल की एक व्याख्या लिखी। यह पुस्तक दक्षिण प्रदेश पहुँची तो भव्य के शिष्यों ने (इसे) अयुक्तिसंगत बताया। उन्होंने नालन्दा आ, स्थिरमति के शिष्यों से शास्त्रार्थ किया तो भव्य के शिष्यों ने विजय प्राप्त की, ऐसा अभाववादियों का कहना है। इसका पता चन्द्रगोमि और चन्द्रकीर्ति के

१—ङङ-पस्-चें = हंसक्रीड़ा।

शास्त्रार्थ की घटना से चलता है। बुद्धपालित का आर्य नागार्जुन के पूर्वार्ध जीवन (काल) का शिष्य होना, भव्य का उनके उत्तरार्ध जीवन (काल) का शिष्य होना, वाद-विवाद का होना, बुद्धपालित का चन्द्रकीर्ति के रूप में पैदा होना इत्यादि बातें भोटवासियों की कपोल-कल्पना ही प्रतीत होती हैं। कुछ (लोग) इसका विरोध कर कहते हैं कि वे (-बुद्धपालित और भव्य) आचार्य नागार्जुन के पट्टशिष्य हैं, भव्य को उपसम्पन्न करने वाले उपाध्याय भी नागार्जुन हैं और चन्द्रकीर्ति आर्यदेव के साक्षात् शिष्य हैं। आर्यदेव जैसे दोनों का प्रमाण रहते हुए उन दोनों के अलग-अलग सिद्धान्तों में बंटने की क्या आवश्यकता है। (यदि) विवेकशील हो, तो ऐसे (कथानक का) कौन विश्वास करे।

आर्य विमुक्त सेन का जन्म मध्यदेश और दक्षिणदिशा के बीच में ज्वालागुहा[1] के पास हुआ। (ये) आचार्य बुद्धदास के भतीजा थे और आर्य कुरुकुल्लक संप्रदाय में प्रव्रजित हुए। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त में पाण्डित्यसम्पन्न होने (के बाद वे) महायान की ओर झुके और आचार्य वसुबन्धु के पास चले गये। प्रज्ञापारमिता का अध्ययन कर, उसके सम्पूर्ण सूत्रों को कण्ठस्थ कर लिया, (परन्तु उसके) उपदेश नहीं सुने। आचार्य संघरक्षित के अन्तिम शिष्य बन, प्रज्ञापारमिता का उपदेश उनसे ग्रहण किया। यह आचार्य, तिब्बती जनश्रुति के अनुसार आचार्य वसुबन्धु के शिष्य (हैं और) प्रज्ञापारमिता के विशेषज्ञ हैं। कुछ भारतियों का कहना है कि (ये) दिङ्नाग के शिष्य हैं; वसुबन्धु से भेंट भी नहीं हुई, प्रज्ञापारमिताभिसमय का अध्ययन आचार्य धर्मदास के साथ किया और (इसका) उपदेश भव्य से ग्रहण किया। आर्यदेशीय जनश्रुति के अनुसार (ये) वसुबन्धु के अन्तिम शिष्य हैं। ऐसा कहा जाता है कि नानाविध मतों से इनका जी ऊब गया था (और) विश्राम करने के लिये जब प्रज्ञापारमिता पर मनन (और) चिन्तन कर रहे थे, (उनके) मन में विशिष्ट अनुभूति उत्पन्न हुई। (शास्त्रों के) अर्थ में सन्देह नहीं था, पर जब एक सूत्र और अभिसमयालंकार के पदों में कुछ असंगत होने से बेचैनी हो रही थी, स्वप्न में आर्य मैत्रेय ने व्याकरण किया कि: "तुम वाराणसी के विहार में जाओ, महान् सफलता मिलेगी।" प्रातःकाल वहां पहुँचे तो उपासक शान्तिवर्मन अयसजंघ से भेंट हुई (जो) दक्षिण पोतल से पंचविंशतिसाहस्रिका (प्रज्ञापारमिता की) पुस्तक लाये थे। सूत्र के पदों (को अभिसमय) अलंकार के सदृश पाने पर आश्वासन मिला। (ये) अष्टाध्यायी सूत्र, अभिसमयालंकार के अभाववादी मध्यमक के अर्थ में व्याख्या करनेवाले और समस्त सूत्रालंकार के तुलनात्मक शास्त्र के रचयिता थे। इन आचार्य के प्रादुर्भाव से पूर्व ऐसे (शास्त्र का) अभाव था। इसलिये, कहा जाता है कि विंशति-आलोक[2] में पहले अन्य द्वारा अनुभव न किये जाने का कथन करने का यह कारण है। अंत में पूर्व दिशा में किसी छोटे-मोटे शासक के (राज) गुरु बने। लगभग २५ विहारों के मठाधीश रहे और प्रज्ञापारमिता का मुख्यरूप से व्याख्यान किया। फलतः प्रज्ञा (पारमिता) सूत्र का अध्ययन करनेवाले ही कम-से-कम एक-एक हजार भिक्षु तीस वर्षों तक एकत्र होते रहे। भारत (और) तिब्बत में इन आचार्य (के संबंध में) अनेक दंत-कथाएं हैं (जैसे कि यह आचार्य) प्रथम भूमिक हैं, प्रयोगमार्गिक होने से साक्षात् आर्य नहीं हैं; पर आर्य के निकट होने से उसके अन्तर्गत हैं, यद्यपि पृथग्जन हैं, आर्य विमुक्त सेन नाम के 'आर्य' तो उपनाम हैं जैसे राजा बुद्धपक्ष कहने से बुद्ध नहीं होता और हीनमार्गारूढ़ बोधिसत्त्व हैं इत्यादि। पर (इनके) सत्पुरुष होने में विवाद ही नहीं, (क्योंकि) इनका हृदय कौन जाने कि साधारण पुरुष का है या आर्य का। (ये) जनसाधारण की रुचि के अनुकूल आचरण करनेवाले प्रतीत होते हैं।

१—हबर-वहि-फुग = ज्वालागुहा।
२—ञि-शि-स्नङ-व = विंशति-आलोक। त० ८८।

आचार्य विरत्नदास ने आचार्य वसुबन्धु के पास अभि(-धर्म-) पिटक का अध्ययन किया (और) विभिन्न देशों के पिटकधरों के सम्पर्क में रहे। आचार्यदिङ्नाग (४२५ ई०) से (इनकी) गहरी मित्रता हो गई (और) दिङ्नाग से प्रज्ञापारमिता का अध्ययन किया। कहा जाता है कि (इनकी) प्रतिभा दिङ्नाग के समान थी। (इन्होंने) अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता पिण्डार्थ पर टीका भी लिखी। इनके द्वारा रचित गुणापर्यन्त स्तोत्र[1] पर दिङ्नाग ने भी (एक) उपसंहार लिखा। आचार्य विरत्नदास, आचार्य शूर का (ही दूसरा) नाम माना जाता है। जो (इतिहासकार) शतपञ्चशतक-स्तोत्र पर दिङ्नाग द्वारा मिश्रक-स्तोत्र[2] का परिशिष्ट लिखे जाने के आधार पर शूर और दिङ्नाग ने आपस में (विद्या का) आदान-प्रदान किया है कह, (बौद्ध) धर्म का उद्भव (-बौधधर्म का इतिहास) लिखता है, (उसने) या तो गलत सूचना सुनी है या सुनने पर भी अनिश्चित मनगढ़ंत है। मिश्रक-स्तोत्र में दिङ्नाग के जो शब्द हैं वे शतपंचशतक-स्तोत्र के पद और उनके प्रतिसंधि या भाव-व्यंजक ही हैं, इसलिये समझना चाहिये (कि दिङ्नाग ने) टीका के रूप में लिखा है न कि इन दो आचार्यों ने (स्तोत्र) लिखने की होड़ लगाई थी। अंत में इन आचार्य ने दक्षिण प्रदेश जा, अनेक विहारों के मठाधीश बन, बहुत से लोगों को धर्मोपदेश दिये। द्रविड़ देश जा, ५० धर्म संस्थाओं की स्थापना कर, दीर्घकाल तक (बुद्ध) शासन का संरक्षण किया। अंत में यक्षणी की साधना कर, शतपुष्प[3] नाम पर्वतराज को चले गये। उपासक शान्तिवर्मन् की पोतल यात्रा भी इनके समकालीन थी। पुण्डवर्धन देश के अरण्य में (उक्त) उपासक ने आर्यावलोकित की साधना की और सिद्धि (प्राप्ति) के प्रायः लक्षण भी प्रकट हुए। राजा शुभसार ने स्वप्न में (देखा कि:) "आर्यावलोकित (को) आमंत्रित करने से (वे) इस देश को पधारेंगे जिससे कि जम्बूद्वीप में दुर्भिक्ष और महामारी का अंत होगा और (सभी) सुखी होंगे। इसके लिये वन में रहनेवाले उपासक (को) पोतल पर्वत भेज दिया जाय।" राजा ने उपासक (को) बुलवाया और (उसे) मुक्ताकलाप, निमंत्रण-पत्र (और) पाथेय के लिये पण भी दिये। उपासक ने सोचा: "(इस) दुर्गम मार्ग और दूर(की यात्रा) में प्राण संकट की भी सम्भावना है। फिर भी (मैं अपने) इष्टदेव के निवास-स्थान पर जाने के लिये प्रेरित किया गया हूँ, अतः इस (-राजा) की आज्ञा भंग करना उचित नहीं।" यह सोच पोतल का यात्रावृत्तान्त लेकर चल पड़ा। अंत में धन श्री द्वीप श्री धानकटक के चैत्य के पास पहुँचा। वहां से पोतल जाने का रास्ता जमीन के नीचे से कुछ दूर जाने पर फिर पृथ्वी पर से जाने का रास्ता मिला। कहा जाता है कि आज (यह मार्ग) समुद्र के उमड़ने से ढँक गया है और मनुष्य जा नहीं सकता। पूर्वकाल में (वहाँ से) मार्ग होने से (वह उस मार्ग से) गया था। वहां एक बड़ी नदी को पार न कर सका, तो (उसने) यात्रावृत्तान्त के अनुसार तारा का स्मरण किया, और किसी वृद्धा ने नाव से पार कर दिया। फिर एक समुद्र को पार न कर सकने पर (उसने) भृकुटी से प्रार्थना की, तो एक कन्या ने जलयान से पार कर दिया। फिर (एक) जंगल के अन्त में आग लगने से नहीं जा सका, तो (उसने) हयग्रीव से प्रार्थना की और पानी बरसाकर (आग का) शमन किया गया (और) मेघगर्जन ने (उसका) पथदर्शन किया। फिर (एक) बहुत गहरे दरार द्वारा मार्ग रोकने से नहीं जा सका और (उसने)

१--योन-तन-म्थह-यस्-पर-ब्स्तोद-प=गुणापर्यन्त स्तोत्र। त० ४६।

२--स्पेल-मर-ब्स्तोद-प-मिश्रकस्तोत्र। त० ४६।

३--रिहि-र्ग्यल-पो-मे-तोग-ब्र्ग्य-प=पर्वतराज शतपुष्प।

एक जटी से प्रार्थना की, तो (एक) विशाल नाग ने पुल बनाया, जिस पर (से वह पार) चल गया। उसके बाद हाथी के शरीर के बराबर अनेक वानरों ने मार्ग रोका, तो (उसने) अमोघपाश से प्रार्थना की और उन विशाल वानरों ने रास्ता खोल दिया तथा उत्तम भोजन खिलाया। तत्पश्चात् पोतलगिरि के चरण में पहुँचने पर चट्टानी पहाड़ को पार नहीं कर सका तो (उसने) आर्यावलोकित से प्रार्थना की और बेंत की सीढ़ी प्रकट होने पर (वह) उस पर (से) चढ़ (कर चला गया) उसके बाद सब दिशाएं कुहरे से आच्छादित होने के कारण रास्ता नहीं मिला देर तक प्रार्थना करने पर कुहरा हट गया। उस पहाड़ के तीन भागों में तारा की मूर्तियां, पहाड़ के मध्य (भाग) में भृकुटी की मूर्ति इत्यादि के दर्शन हुए। पहाड़ के शिखर पर पहुँचने पर (एक) रिक्त विमान[१] में थोड़े से फूल के सिवा और कोई नहीं था। वहां एक ओर प्रार्थना करते हुए एक माह तक रहा। किसी समय एक स्त्री ने आकर कहा: "यहां आओ, आर्य (अवलोकितेश्वर) पधारे हैं।" कह (उसे) ले गई और प्रासाद के क्रमशः हजार द्वारों का उद्घाटन किया। प्रत्येक द्वार के खुलने पर एक-एक समाधि उत्पन्न हुई। पंच आर्य देवताओं के साक्षात् दर्शन हुए। (उसने उनके) शरीर पर फूल छिड़काये। राजा का (सन्देश-)पत्र और उपहार भेंट किये। जम्बूद्वीप आने की प्रार्थना करने पर (आर्य ने) स्वीकार किया और उपासक को पाथेय के लिये बहुत से पण दिये। (आर्य ने) कहा: "इतने (पण) की सहायता से तुम (अपने) देश पहुँचोगे (और) जब पण समाप्त हो जायेगा (मैं) आऊंगा।" कह (उसे) मार्ग दिखलाया। पहाड़ के मध्य (भाग में) और पहाड़ के चरण के तीसरे भाग में प्रतिष्ठित मूर्तियों के भी सजीव रूप में दर्शन हुए। (वहां से स्वदेश) आने में पन्द्रह दिन लगते हैं और चौदह दिन बीतने पर पुण्ड्रवर्धन पर्वत दिखाई पड़ा। मारे खुशी के बचे-खुचे पणों से और अधिक खाने-पीने (का सामान) खरीद कर खाया। जब राजनगर (-राजधानी) पहुँचे बिना अपने सिद्धि-स्थान के समीप पहुँचा, तो पण समाप्त हो गया। उस स्थान पर बैठे दिन भर आर्य की बाट जोहते रहा; पर वे नहीं आये। अर्ध रात्रि में जब सो गया वाद्यसंगीत की शब्द गूंज से (उसकी) निद्रा भंग हुई आकाश में देवगण पूजा कर रहे थे। "किसकी पूजा कर रहे हैं?" पूछने पर (देवताओं ने) कहा: "जम्बूद्वीप के रहनेवाले मूर्ख बालक, तुम्हारी ही पीठ के पीछे वाले वृक्ष पर आर्य सपरिवार पधारे हैं।" देखा तो वृक्ष पर साक्षात पंचदेवता आये हुए हैं और (उसने) उनकी वन्दना कर प्रार्थना की। (उसने) राजा के देश पधारने का निवेदन किया, पर (आर्य ने) कहा कि: "पहले पण समाप्त न होता तो वैसा (ही विचार) था पर अब (मैं) यहीं रहूँगा।" कहा जाता है कि तब राजा को सूचना दिये जाने पर (राजा ने) असन्तोष प्रकट किया और उपासक को कोई पारितोषिक नहीं दिया। तत्पश्चात् (उपासक ने) उस वन में (एक) मन्दिर बनवाया जो खसर्पण-विहार (के नाम) से प्रसिद्ध हुआ। (कुछ लोगों का) कहना है कि खसर्पण (का अर्थ) है—आकाश से गमन करने के कारण 'खचर' अथवा पण समाप्ति के समय में पधारने के कारण 'पण समाप्त' है। लेकिन (इसका) रूपान्तर खचर के रूप में करना अतिसुन्दर है। दूसरे (मत के) अनुसार रूपान्तर करने पर 'खरस' भोजन के मूल्य का अर्थ होता है और पण' है सोना-चांदी का सिक्का, जो आज 'टंख' (-सिक्का) के नाम से प्रसिद्ध है। अतः (इसका) अर्थ है आहार का मूल्य सिक्का। ऐसी (कथा) भारत में सामान्य रूप से प्रसिद्ध है। पंचविंशतिप्रज्ञापारमिता अष्टाध्याय के वर्णनानुसार (उपासक ने) पोतल की यात्रा तीन बार की थी, (जिसमें) राजा के द्वारा प्रेरित किये जाने का उल्लेख नहीं है।

१– ग्शल-मेद-खङ=विमान। देवताओं का घर।

पहली (बार) स्वयं दर्शन करने (गये थे)। दूसरी (बार) अभिसमयालंकार और सूत्रों के अर्थ में असमानता होने वाले सन्देह के निवारणार्थ वाराणसी के (भिक्षु-) संघ के द्वारा भेजे गये। पर (उपासक ने) वह (सन्देश) न कह कर स्वयं आर्य खसर्पण को निमंत्रण दिया। (आर्य) खसर्पण से पूछे जाने पर (उन्होंने) कहा: "मैं निर्मित (-अवतीर्ण) होने के कारण (इसका अर्थ) नहीं जानता।" कहा जाता है कि तीसरी बार (उपासक) उसके समाधान के लिये पोतल की यात्रा कर, अष्टाध्याय भी लाये। उस उपासक को आर्य खसर्पण पंचदेवताओं के साक्षात् दर्शन होते थे और उस समय पूजा भी प्रत्यक्षतः ग्रहण करते थे। उपासक के धन को देख, जब चोर-डकैत ने (उनकी) हत्या करने का प्रयास किया, तो (उन्होंने अपने द्वारा) अवश्य भोगे जानेवाले कर्म का प्रभाव जान (डकैत से) कहा: "(मेरा) मस्तक आर्य को समर्पित कर दे.ा।" डकैत ने भी वैसा ही किया। आर्य के बहाये हुए अश्रु उसके मस्तिष्क छिद्र में चले जाने से वे सब (पवित्र) धातु के रूप में परिणत हो गये। कहा जाता है कि उसके बाद से (आर्य खसर्पण) प्रत्यक्ष रूप से पूजा ग्रहण नहीं करते हैं। आचार्य दिङ्नाग आदि कालीन २३वीं कथा (समाप्त)।

(२४) राजा शील कालीन कथाएं।

तत्पश्चात् राजा श्री हर्ष का पुत्र राजा शील का प्रादुर्भाव हुआ। पूर्व (काल) में, एक त्रिपिटक (धर) भिक्षु राजप्रासाद में एक महोत्सव (के अवसर) पर भिक्षाटन करने गया था, पर (उसे) भिक्षा न देकर, द्वारपाल ने भगा दिया। जब वह भूख से मरा जा रहा था, (उसने) प्रणिधान किया कि: "(मैं) त्रिरत्न की पूजा करनेवाले राजा के रूप में पैदा होकर प्रव्रजितों को भोजन (दान) से तृप्त करूं।" इस (प्रणिधान) के प्रभाव से (वह) महा भोगवाले राजा के रूप में (पैदा) हुआ और चातुर्दिश सब संघ की उत्तम-उत्तम खाद्य (पदार्थों) से पूजा करनेवाला हुआ। (उसने अपना) राजमहल लत नामक नगरी में बनवाया (और) १४० वर्ष (की आयु) तक रहा। राज्य भी लगभग १०० वर्ष चलाया। गुणप्रभ के लगभग उत्तरार्ध जीवन (काल) में वह सिंहासनारूढ़ हुआ। पूर्व (दिशा) में लिच्छवी जाति का सिंह नामक राजा हुआ (जो) महान् शक्तिशाली था। उस समय आचार्य चन्द्रगोमिन पैदा हुए। (राजा) सिंह के बेटा भर्ष नामक राजा ने भी दीर्घ (काल) तक राज्य किया। चन्द्रवंशीय सिंहचन्द्र नामक राजा राज्यस्थ हुआ, (पर अपनी) दुर्बलता के कारण (उसको) राजा सिंह और भर्ष के आदेश ग्रहण करने पड़े। यह भव्य और आर्य विमुक्तसेन के उत्तरार्द्ध जीवनकाल (का समय) था। आचार्य रविगुप्त[1], विमुक्तसेन के शिष्य वरसेन[2], बुद्धपालित के शिष्य कमलबुद्धि के उत्तरार्ध जीवन (काल), गुणप्रभ के शिष्य आर्य चन्द्रमणि[3] और नालन्दा के संघनायक जयदेव[4] समकाल में प्रादुर्भूत हुए। दक्षिण दिशा में आचार्य

१—ञि-म-स्बस् = रविगुप्त।

२—म्छोग-स्दे = वरसेन।

३—स्ल-वहि-नोर-बु = चन्द्रमणि।

४—ग्यंल-वहि-ल्ह = जयदेव।

चन्द्रकीर्त्ति भी प्रादुर्भूत हुए। आचार्य धर्मपाल, आचार्य शान्तिदेव और सिद्धविरूप का लगभग पूर्वार्ध जीवनकाल है। प्रतीत होता है कि आचार्य विशाखदेव[1] भी इस समय प्रादुर्भूत हुए, क्योंकि दुभाषिया स्ग्रे ल-चोर-प्रज्ञाकीर्त्ति द्वारा अनूदित पुष्पमाला में 'आर्य संघदास के शिष्य आर्य विशाखदेवकृत' कहकर उल्लेख किया गया है। अतः (यह) विचारणीय है कि (यह) श्रावक अर्हत् है या नहीं।

उनमें से वरसेन और कमलबुद्धि की कथा सुनने को नहीं मिली। चन्द्रमणि, राजा शील के गुरु थे, पर (इनकी) विस्तृत जीवनी उपलब्ध नहीं है।

रविगुप्त, आर्य नागार्जुन और असंग के मत को एक समान मानते थे और कश्मीर और मगध में बारह-बारह महान् धार्मिक संस्थाओं की स्थापना कर, (संघ को) सब साधनों का सुविधा यक्षों से प्राप्त कराते थे। सब बौद्धों की अष्टभय[2] से रक्षा करने वाले एक तारासिद्ध मंत्रज्ञ भिक्षु थे, (जिनका) वर्णन अन्यत्र मिलता है।

जयदेव भी अनेक प्रवचनों में विद्वता-प्राप्त एक महान आचार्य थे। (ये) नालन्दा में दीर्घकाल तक रहे। (इनकी) विस्तृत जीवनी सुनने को नहीं मिली। उस समय उत्तर दिशा (के) हसम में बुद्ध का एक बड़ा दाँत लाया गया। आचार्य संघदास के शिष्य कविगुह्यदत्त, धर्मदास के शिष्य रत्नमति इत्यादि सैकड़ों-हजारों चतुर्विध परिषद धर्मचारियों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने उस दाँत की पूजा की। उसकी परम्परा आज पुखंग में विद्यमान है।

श्रीमत् चन्द्रकीर्त्ति[3] दक्षिण (भारत के) समन्त में उत्पन्न हुए। बचपन में ही समस्त विद्याओं का अध्ययन कर लिया। उसी दक्षिण देश में प्रव्रजित हो, समस्त पिटकों में विद्वता प्राप्त की। भव्य के बहुत से शिष्यों और बुद्धपालित के शिष्य कमलबुद्धि से नागार्जुन के सब सिद्धान्त और उपदेश ग्रहण किये। विद्वानों में महान् विद्वान बनने के बाद श्री नालन्दा के संघनायक हुए। (मध्यमक) मूल[4], ((मध्यमक) अवतार[5], चतुः (शतक)[6] और युक्तिषष्टिका[7] की टीका इत्यादि लिखकर, बुद्धपालित के मत ही

१—स-ग-ल्ह = विशाखदेव।

२—ह्जिगस्-प-ब्र्गद = अष्टभय। हाथी, सिंह, सर्प, इत्यादि के भय को कहते हैं।

३—द्पल-ल्दन-स्ल-व-ग्रगस्-प = श्रीमत्चन्द्रकीर्त्ति। यह छठी शताब्दी में माध्यमिक सम्प्रदाय के प्रतिनिधि थे।

४—द्बु-म-र्च-व। नागार्जुनकृत माध्यमिककारिका।

५—द्बु-म-ल-ह्जुग-प = मध्यमकावतार। यह चन्द्रकीर्त्ति की स्वतंत्र कृति है। मूल संस्कृत लुप्त है, पर तिब्बती अनुवाद तंग्युर में सुरक्षित है। त० ६८।

६—ब्शि-ब्र्ग्य-प = चतुःशतक। इसके लेखक आर्यदेव हैं। चन्द्रकीर्त्ति ने इसकी एक व्याख्या लिखी। मूल और व्याख्या तंग्युर में सुरक्षित हैं। त०

७—रिगस्-प-द्रुग-चु = युक्तिषष्टिका। मूल के लेखक नागार्जुन हैं। त० ६५।

का विपुल प्रचार किया। वहां (नालन्दा में) चित्रांकित दुधारू गाय का दूध दुहकर, सब (भिक्षु-)संघों (को) खीर से तृप्त किया। पाषाण-स्तम्भ और दीवाल में बेरोकटोक पार हो जाना आदि अनेक आश्चर्यजनक चमत्कार (दिखाये)। अनेक तीर्थिकवादियों का खण्डन किया। अन्त में दक्षिण प्रदेश जा कोंकन देश में अनेक तीर्थकवादियों का खंडन किया। अधिकांश ब्राह्मणों और गृहपतियों (को बुद्ध) शासन में दीक्षित कर, अनेक बड़ी-बड़ी धार्मिक संस्थाओं की स्थापना की। मंत्र(-यानी) आचार्यों का मत है कि पीछे मनुभंग नामक पर्वत पर मंत्रमार्ग के अवलम्बन से (उन्हें) परमसिद्धि प्राप्त हुई (और) दीर्घकाल तक रहने के बाद (वे) जोतिमय शरीर को प्राप्त हुए। तिब्बती इतिहास के अनुसार ३०० वर्ष (की आयुतक) वर्त्तमान रहे और पाषाण-सिंह पर आरूढ़ हो, तुरुष्क सैनिकों (को) खदेड़ देने का चमत्कारपूर्ण कार्य किया। अन्तिम (मत के अनुसार) संभव है कि ऐसी घटना घटी हो। पहले (मतानुसार यदि) ज्योति-पूर्ण शरीर को प्राप्त हुए होते, तो अमर (जीवन के) होने के कारण ३०० वर्ष (की अवधि अमरत्व के) कला-भाग को भी पा नहीं सकती। (यदि) विपाक रूपी स्थूल शरीर के द्वारा मनुष्यलोक में इस प्रकार (३०० वर्षों तक) रहना माना जाय, तो (यह तथ्य) अयुक्तिसंगत प्रतीत होता है।

आचार्य चन्द्रगोमिन् (सातवीं शती)। पूर्व दिशा के वरेन्द्र में आर्यावलोकित के दर्शन पानेवाले किसी पंडित ने एक चार्वाक (मत) के उपदेष्टा से शास्त्रार्थ किया, और उसके मत का खंडन किया। पर बुद्धि का तो बुद्धि द्वारा परीक्षण किया जाता है, इसलिये जो पटु होता है उसकी विजय होती है। (चार्वाक उपदेष्टा ने) कहा "पूर्वजन्म (और) पुनर्जन्म के होने के प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव में हम उसे नहीं मानते हैं।" (बौद्धपंडित ने) राजा आदि (को) साक्षी के रूप में रख, (अपने प्रतिद्वन्द्वी से) कहा : "मैं स्वंय (पुनः) जन्म ग्रहण करता हूं, (मेरे) माथे पर चिह्न अंकित करो।" यह कह उन्होंने माथे पर सिन्दूर का एक गहरा टीका लगा दिया (और) मुंह में एक मोती डालकर वहीं शरीर छोड़ दिया। उनके शरीर (को) ताम्र-सम्पुट में रखा गया और राजा ने मुहरबन्द करा दिया। उन्होंने विशेषक नामक क्षत्रिय पण्डित के पुत्र रूप में पैदा होने की प्रतिज्ञा की थी और तदनुसार उस (क्षत्रिय) को एक लक्षण-सम्पन्न शिशु उत्पन्न हुआ, जिसके माथे पर सिन्दूर की रेखा (और) मुंह में मोती विद्यमान था। राजा आदि ने पहले के शव को देखा, तो माथे का सिन्दूर चिह्न भी मिट गया था (तथा) मोती का चिह्न मौजूद था। कहा जाता है कि इससे वह तैर्थिक भी पूर्वापर-जन्म के अस्तित्व पर विश्वास करने लगा। उस शिशु ने पैदा होते ही मां को प्रणाम कर कहा: "१० माह तक कष्ट तो नहीं हुआ?" बच्चा का पैदा होते ही बोलना अपशकुन है, सोच (उसने) चुप किया। उसके बाद सात वर्षों तक कुछ नहीं बोलने पर (उसे) गूंगा समझा। वहां एक तीर्थिकवादी ने एक अतिदुर्बोध कवितामय श्लोक रचाकर राजा और विद्वत्समाज को वितरित किया, जिसका भावार्थ बौद्ध सिद्धान्तों का खंडनात्मक था। (वह रचना) विशेषक के घर पहुंची, तो उसने देर तक निरूपण किया, पर शब्दार्थ ही समझ न सका भला (प्रश्न) उत्तर कैसे दे सकता। (वह) उसके भाव पर चिन्तन करता हुआ घर के बाहर किसी कार्य पर चला गया। सात वर्षीय चन्द्रगोमिन् ने (उस कविता का) अवलोकन किया, तो भावार्थ जान, (प्रश्न) उत्तर देना सरल पाया। (उसने) उसकी व्याख्यात्मक टिप्पणी लिखी (और) उत्तरस्वरूप पद्य भी रचा। पिता ने घर आकर, इस प्रकार लिखा हुआ देख, चन्द्रगोमिन की मां से पूछा कि "घर में कौन आया था?"

(उसने कहा कि:)" और तो कोई नहीं आया, पर गूंगा बेटा देख-देखकर लिख रहा था।" पिता ने पुत्र से पूछा, तो (वह) मां का चेहरा देखता रहा। मां के कहने पर (उसने कहा): "यह मैंने लिखा है, इस वादिन का समाधान करना कठिन नहीं है।" तब प्रातः (काल) चन्द्रगोमिन् और तीर्थिक उपदेशक द्वारा शास्त्रार्थ किये जाने पर चन्द्र गोमिन् की विजय हुई और (उन्हें) भारी पुरस्कार मिला। यही कारण है कि (चन्द्र-गोमिन् को) व्याकरण, तर्क आदि सभी सामान्य विद्याओं का ज्ञान बिना सीखे स्वतः हो गया और सब दिशाओं में (उनकी) ख्याति फैली। उसके बाद (उन्होंने) किसी महायानी आचार्य से शरणगमन और पंच शिक्षापद ग्रहण किये। महान् आचार्य स्थिरमति से सूत्र और अभि(-धर्म) पिटक का प्रायः एक वार श्रवण करने से ज्ञान प्राप्त हुआ। अशोक नामक विद्याधर के आचार्य से उपदेश ग्रहण कर, विद्यामंत्र की साधना की तो आर्यावलोकित और तारा के साक्षात् दर्शन मिले। प्रकाण्ड विद्वान् बन गये। तत्पश्चात् पूर्वदिशा में राजा भर्ष के देश में वैद्यक, छन्द और शिल्पविद्याओं पर अनेक शास्त्र रचे। विशेषकर शब्दविद्या का व्याख्यान करते रहे। उस समय तारा नामक राज-कन्या से विवाह किया और राजा ने एक जनपद भी दे दिया। एक बार (जब) उस (राजकन्या) की दासी (राजकन्या को) 'तारा' कहकर बुला रही थी, तो (चन्द्रगोमिन् के) मन में हुआ: "इष्टदेव के नाम के समान (की लड़की से) विवाह करना उचित नहीं।" सोच आचार्य देशान्तर जाने की तैयारी करने लगे। राजा ने यह जानकर आदेश दिया: "(यदि) वह मेरी कन्या के साथ नहीं रहेगा तो सन्दूक में बन्द कर गंगा में फेंक दिया जाय।" वैसा किये जाने पर आचार्य ने भट्टारिका आर्या तारा से प्रार्थना की। फलतः (वह) गंगा और समुद्र के संगम एक समुद्री टापू पर पहुंचे। कहा जाता है कि वह द्वीप आर्या (तारा) ने निर्मित किया है और चन्द्रगोमिन् के वहां निवास करने के कारण उसका चन्द्रद्वीप नाम पड़ा। कहा जाता है कि (यह द्वीप) अब भी विद्यमान है, (जिसका क्षेत्रफल) लगभग ७,००० गांवों के बसने योग्य है। वहाँ रह, आचार्य ने आर्यावलोकित और तारा की पाषाण-मूर्त्तियां बनायीं। पहले यह बात मछुओं ने सुनी। उसके बाद धीरे-धीरे और लोग भी आने लगे और नगर बस गया। आर्यावलोकित के प्रेरित करने पर (वह) गोमिन के उपासक बने। (उनका) नाम चन्द्र है। तबसे चन्द्रगोमिन नाम से विख्यात हुए। तदनन्तर व्यापारियों के साथ सिंहलद्वीप चले गये। उस देश में नागरोग (का प्रकोप) अकसर होता था। (आचार्य द्वारा) आर्यसिंहनाद का (एक) मन्दिर बनवाये जाने के फलस्वरूप (नागरोग) स्वतः शांत हुआ। उस देश में भी शिल्प, वैद्यक आदि अनेक विद्याओं का प्रचार किया और (उस) द्वीप के मूर्ख लोगों का विशेष रूप से उपकार किया। महायान धर्म का भी अनेक प्रकार से उपदेश दिया। (किसी) स्थानीय यक्षपति से धन प्राप्त कर, अनेक धार्मिक संस्थाएं स्थापित कीं। फिर जम्बूद्वीप के दक्षिण प्रदेश की ओर चले गये। वररुचि (नामक) ब्राह्मण के मन्दिर में नाग व्याकरण की रचना और नागशेष द्वारा रचित पाणिनि की टीका को देखा और कहा: "टीका ऐसी होनी चाहिए जो अल्प शब्द, बहुअर्थ, अपुनरावृत्त तथा सम्पूर्ण हो। नाग तो अतिमूर्ख होता है। (उनकी यह रचना) बहुशब्द, अल्पार्थ, पुनरावृत्त और अपूर्ण है।" यह कह (नाग की) निन्दा की और पाणिनि की टीका के रूप में चन्द्र-व्याकरण की सांगोपांग रचना की। इस ग्रंथ में संक्षिप्त, विशद, प्रामाणिक (और) पूर्ण कहने का (तात्पर्य) भी नाग पर (आचार्य की) व्यंगोक्ति है। तदनन्तर विद्याकेन्द्र श्री नालन्दा में पहुंचे। नालन्दा में तीर्थिकों से शास्त्रार्थ करने में समर्थ पंडितगण चहारदीवारी के बाहर धर्म व्याख्यान करते थे (और) असमर्थ (लोग) भीतर ही व्याख्यान करते थे। उस समय जब (नालन्दा के) संघनायक

चन्द्रकीर्त्ति बाहर धर्मोपदेश कर रहे थे, चन्द्रगोमिन् उनके पास खड़े-खड़े उपस्थित थे। (जो) शास्त्रार्थ करना चाहता था (वह) इस ढंग से रहता था। नहीं तो या तो (उपदेश) नहीं सुनता या आदरपूर्वक सुनता था। चन्द्रकीर्ति ने प्रतिवादी समझकर कहा :

"आप कहां से आये हैं ?"

"(मैं) दक्षिण दिशा से आया हूं।"

"कौन-सा धर्म का ज्ञान रखते हैं ?"

"(मैं) पाणिनि व्याकरण, शतपंचाशतक-स्तोत्र और नामसंगीति[1] का ज्ञान रखता हूं।" "यह केवल तीन ग्रंथों की जानकारी रखने की विनम्रता प्रकट करता है; पर वास्तव में, सब व्याकरण, सूत्र और मंत्र (यान) का ज्ञान रखने का दावा करता है, अतः चन्द्रगोमिन् होगा।" सोच (चन्द्रकीर्त्ति ने) पूछा :

"(क्या आप चन्द्रगोमिन् तो नहीं हैं ?)"

"लोक में (मैं) ऐसा ही अभिहित किया जाता हूं।"

"अच्छा तो महापण्डित का अचानक आगमन होना अच्छा नहीं; संघ द्वारा (आपका) स्वागत होना चाहिए, अतः कुछ समय के लिये नगर को चले जायें।"

"मैं उपासक हूं, (मेरा) स्वागत संघ द्वारा किया जाना उचित नहीं।"

"इसका एक उपाय है, आर्य मंजुश्री की एक प्रतिमा का स्वागत किया जायगा, (आप) उस (प्रतिमा) को चामर डुलाते हुए आएं, संघ मंजुश्री की प्रतिमा का स्वागत करेगा।"

फिर ऐसी (व्यवस्था) की गई (जिसके अनुसार) तीन अश्वरथ (सजे गये)। मध्यम (रथ) पर आर्य मंजुश्री (की प्रतिमा) विराजमान हुई, दाहिनी ओर (के रथ पर) चन्द्रकीर्त्ति चामर डोल रहे थे (और) बायीं ओर (के रथ पर) चन्द्रगोमिन् चामर डोल रहे थे। आगे से (भिक्षु-) संघ स्वागत कर रहे थे। अपार जन (साधारण) दर्शनार्थ आ पहुँचे। आचार्य चन्द्रगोमिन् को वह प्रतिमा साक्षात मंजु (श्री) घोष के रूप में दिखाई दी और (चन्द्रगोमिन् द्वारा) "(हे) मंजुघोष! यद्यपि (आपकी) स्तुति दश दिशाओं के तथागतों द्वारा की जाती है, तथापि ... इत्यादि।" कह (मंजुश्री की) स्तुति किये जाने पर मंजुश्री की प्रतिमा पीछे की ओर मुड़कर (चन्द्रगोमिन् की स्तुति) सुनने लगी। लोगों द्वारा 'वह मूर्त्ति इस प्रकार कर रही है! कहे जाने पर (वह मूर्त्ति) उसी (मुद्रा) में स्थित रह गई और आर्य वक्र-कण्ठ के नाम से प्रसिद्ध हुई। चन्द्रगोमिन् (अपनी) श्रद्धा की प्रबलता से रथ की लगाम थामना भूल गये और (रथ) आगे निकल गया। चन्द्रकीर्त्ति ने सोचा : "यह बड़ा अभिमानी है, मैं इसके साथ शास्त्रार्थ करूंगा। चन्द्रगोमिन् ने असंग का मत विज्ञान (वाद) का पक्ष लिया (और) चन्द्रकीर्त्ति ने बुद्धपालित आदि द्वारा लिखी गई टीका के सहारे नागार्जुन के सिद्धान्त अस्वभाववाद का पक्ष लिया। सात वर्षों तक शास्त्रार्थ चला। वाद-विवाद देखने के लिये बहुत लोग

१—म्छन-यङ-दग-पर-ब्र्जोद-प=नामसंगीति। त० ७५।

नित्य एकत्र होते थे। ग्रामीण बालक और बालिका तक को इसका आंशिक पता लग गया और (वे) गीत के रूप में कहने लगे :

"अहो! आर्य नागार्जुन का सिद्धान्त,
"किसी के लिये औषध है और किसी के लिये विष,
"अजित आर्य असंग का सिद्धान्त,
"सब लोगों के लिये अमृत है!"

तत्पश्चात् जब विवाद के शान्त होने का समय निकट आया, चन्द्रगोमिन् आर्यावलोकित के एक मन्दिर में ठहरे हुए थे। (वे) आज (दिन में) चन्द्रकीर्ति के द्वारा उपस्थित किये गये विवाद का रात्रि में आर्यावलोकित से पूछकर प्रातःकाल उत्तर देते थे। चन्द्रकीर्ति उनका उत्तर दे नहीं सकते थे। इस प्रकार महीनों बीत जाने पर चन्द्रकीर्ति ने सोचा—"इसको शास्त्रार्थ सिखानेवाला कोई है।" और (वे) चन्द्रगोमिन् के पीछे-पीछे जा रहे थे, तो वे मन्दिर में चले गये। द्वार के बाहर से सुना, तो आर्यावलोकित की वह पाषाण-मूर्ति चन्द्रगोमिन् को धर्मोपदेश कर रही थी, मानो आचार्य शिष्य को विद्या पढ़ा रहा हो। चन्द्रकीर्ति ने द्वार खोल दिया और कहा : "आर्य! क्या (आप) पक्षपात तो नहीं कर रहे हैं?" फलतः (वह मूर्ति) वहीं पाषाण-मूर्ति में बदल गई। धर्मोपदेश करती हुई तर्जनी खड़ी ही रह जाने से आर्य उत्थित तर्जनी (के नाम) से प्रसिद्ध हुई। उसी समय से विवाद स्वतः शान्त हो गया। चन्द्रकीर्ति ने अवलोकित से प्रार्थना की, तो स्वप्न में (आर्य ने) कहा : "तुम्हें मंजुश्री ने आशीर्वाद दिया है, अतः मेरे आशीर्वाद देने की आवश्यकता नहीं। चन्द्रगोमिन् को (मैंने) थोड़ा-सा आशीर्वाद दिया है।" साधारणतः इतना कहा जाता है। आर्य-गुह्य समाज[1] का कहना है कि (चन्द्रगोमिन् द्वारा अवलोकित से) पुनः दर्शन देने की प्रार्थना किये जाने पर (अवलोकित) ने गुह्यसमाज की भावना करने की आज्ञा दी। सात दिन भावना करने पर मण्डल के पश्चिमी द्वार के भीतर (एक) लोहितवर्ण और मूंगे राशि के सदृश आर्यावलोकित के दर्शन मिले। तत्पश्चात् नालन्दा में रह, (लोगों को) धर्माचरण करने के लिये उत्साहित किया। चन्द्रकीर्ति द्वारा रचित समन्त भद्र नामक सुन्दर श्लोकात्मक शास्त्र को देखा और अपने द्वारा रचित व्याकरण सूत्र की रचना अच्छी जान नहीं पड़ी और जगत् कल्याण नहीं होगा सोच (अपनी) पुस्तक कुएं में फेंक दी। भट्टारिका आर्यातारा ने व्याकरण किया :: "तुम्हारी यह (पुस्तक) परहित की सद्भावना से रची गई है, अतः भविष्य में प्राणियों के लिये अत्यन्त उपयोगी होगी। चन्द्रकीर्ति ने पाण्डित्य-मान से (इसकी रचना की है) अतः (यह पुस्तक) परकल्याण में कम उपयोगी होगी। अतः (अपनी) पुस्तक कुएं से निकालो।" तदनुसार (आचार्य ने पुस्तक) निकाल ली। उस कुएं का जल पीने से (लोग) प्रतिभासम्पन्न हो जाते थे। चन्द्र (व्याकरण का) तब से आजतक व्यापक प्रचार होता आ रहा है और बौद्ध तथा अबौद्ध सब (इसका) अध्ययन करते हैं। समन्तभद्र (व्याकरण) तो अचिर में ही नष्ट हो चला और आज इसकी) प्रतिलिपि भी उपलब्ध नहीं है। (चन्द्रगोमिन् ने) वहां (नालन्दा) १०० शिल्पविद्या, व्याकरण, तर्क, वैद्यक, छन्द, नाटक, अभिधान, काव्य,

१—ह्दुस-तफगास्-स्कोर-व=आर्यगुह्यसमाज। नागार्जुनकृत गुह्यसमाज को कहते हैं।

ज्योतिष इत्यादि के अनेक शास्त्र रचे। जब शिष्यों को मुख्यतः इन (शास्त्रों) की शिक्षा दे रहे थे, तो आर्यातारा ने कहा : "हे! (तुम) दशभूमक[1], चन्द्रप्रदीप[2], गण्डालङ्कार[3], लंकावतार[4] (और) जिनमातृ (=प्रज्ञापारमिता) को पढ़ो, कपटपूर्ण छन्द के प्रयोग से तुम्हें क्या प्रयोजन।" ऐसा कहने पर (वह) लौकिक विद्यास्थानों की शिक्षा कम देते, उन पांच श्रेष्ठ सूत्रों का नित्य नियमितरूप से दूसरों को उपदेश देते और स्वंय भी प्रतिदिन (इनका) पाठ करते थे। उन सूत्रों पर एक-एक विषय-सूची भी लिखी। साधारणतः कहा जाता है कि पहले (और) पीछे के मिलाकर १०८ स्तोत्र, १०८ आध्यात्मिक शास्त्र, १०८ लौकिक शास्त्र, १०८ शिल्पशास्त्र (और) विविध छोटे-मोटे (शास्त्र मिलाकर) ४३२ (पुस्तकों) की रचना की। प्रदीपमाला नामक एक शास्त्र की भी रचना की (जिसमें) बोधिसत्त्व के समस्त पथक्रम की देशना की गई है। (किन्तु इसका) प्रचार अधिक नहीं हुआ। कहा जाता है कि द्रविड़ और सिंहलद्वीप में उनकी पढ़ाई की परम्परा आज भी विद्यमान है। सम्वरविंशक[5] और कायत्रयावतार[6] बाद के सभी महायानी पण्डित सीखते थे। इन आचार्य के द्वारा रचित तारासाधनाशतक और अवलोकित साधनाशतक नामके तिब्बती अनुवाद उपलब्ध हैं, अतः साधारणतः (इन्होंने) अनेक शास्त्रों का प्रणयन किया ऐसा प्रतीत होता है। फिर किसी गरीब वृद्धा के एक रूपवती कन्या थी। (उसका) विवाह करने के लिये साधन का अभाव था, (अतः वह वृद्धा) विभिन्न देशों में भिक्षा मांगने चली गई। नालन्दा पहुंचकर, चन्द्रकीर्ति से भिक्षा मांगी, जिनके पास प्रचुर धन होने की ख्याति थी। इस पर (चन्द्रकीर्ति बोले:) "मैं भिक्षु होने के नाते (अपने पास) अधिक सामान नहीं रखता। थोड़ा बहुत है भी, तो मन्दिर और संघ के लिये चाहिए। उस मकान में चन्द्रगोमिन् (रहते) हैं, वहां (जाकर) याचना करो।" ऐसा कहने पर वृद्धा चन्द्रगोमिन् के यहां मांगने गई, तो (उनके पास) केवल पहनने को एक पट वस्त्र और एक आर्याष्टसाहस्रिका की पुस्तक के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। वहां एक भित्तिखचिततारा का चित्र था। (आचार्य का) हृदय (वृद्धा के) दारिद्र्य पर पिघल गया और उन्होंने उस (चित्र) से प्रार्थना कर आंसू बहाये। वह (चित्र) साक्षात् तारा के रूप में परिणत हो गया और (अपनी) देह से विविध रत्नों से निर्मित अमूल्य आभूषणों को उतारकर आचार्य को प्रदान किया। पुनः उन्होंने भी उस (वृद्धा) को प्रदान किया जिससे (वह) संतुष्ट हुई। चित्रांकित (तारा) के भूषणरहित हो जाने से वह अलंकारहीन तारा के नाम से प्रसिद्ध हुई। उतारे गये आभूषणों के चिह्न स्पष्ट विद्यमान हैं। ऐसा माना जाता है कि इस प्रकार चिरकाल तक प्राणिमात्र का हित संपादित कर, अन्त में चन्द्रगोमिन् पोतल को चले गये। जम्बूद्वीप से (जब) धान्य श्री द्वीप आ रहे थे, तो पहले (आचार्य द्वारा) शेषनाग का अपमान किये जाने के कारण (उसने) वैर रखकर, समुद्री लहरों से जलयान नष्ट कर देने का प्रयास किया। समुद्र के बीच से आवाज आई कि चन्द्रगोमिन् को निकाल

१—स-बृचु-प=दशभूमक। त०१०४।

२—स्ल-व-स्ग्रोन-म=चन्द्रप्रदीप।

३—स्दोङ्-पोस्-ब्र्ग्यन-प=गण्डालङ्कार। क०११।

४—लङ्-कर-ह्जुग=लंकावतार। क० २९।

५—स्दोम-प-ञि-शु-प=सम्वरविंशक। त० ११४।

६—स्कु-गसुम-ल- जुग-प=कायत्रयावतार। त० १०१।

दो। तारा से प्रार्थना करने पर आर्या (तारा अपने) पाँच परिवार सहित गरुड़ पर आरुढ़ हो, सामने आकाश में प्रकट हुई और नागगण भयभीत हो, भाग खड़े हुए। जलयान क्षेमपूर्वक श्री धान्यकटक पहुंचा। वहां श्री धान्यकटक चैत्य की पूजा की और १०० तारामन्दिर तथा १०० आर्यविलोकित के मन्दिर बनवाये। (उसके बाद) पोतल पर्वत को चले गये, (जहां) बिना शरीरपात किये आज भी विराजमान हैं। (उन्होंने एक) शिष्यलेख[1] पोतल से व्यापारियों के द्वारा राजकुमार रत्नकीर्ति के पास भेजा (जो) प्रव्रज्या से पतित हो गया था। कहा जाता है कि वह भी शिष्यलेख देखकर, धर्मानुकूल आचरण करने लगा। श्रीमत् चन्द्रकीर्ति और चन्द्रगोमिन् के पूर्वार्ध जीवनकाल में राजा सिंह और भर्ष राज्य करते थे। धर्मपाल (ईसा की सातवीं शती) का भी पूर्वार्ध जीवन (काल) समझा जाता है। चन्द्रकीर्त्ति (और) चन्द्रगोमिन् की नालन्दा में भेंट होना आदि (घटनायें) उनके उत्तरार्ध जीवनकाल (में हुई)। आचार्य धर्मपाल के जगतहित करने का समय राजा पंचमसिंह के (शासन) काल में है। राजा शील कालीन २४वीं कथा (समाप्त)।

(२५) राजा चल, पंचम सिंह आदि कालीन कथाएं।

राजा भर्ष और (राजा) सिंह चन्द्र के मरने के बाद पश्चिम मालवा में राजा चल नामक (एक) शक्तिशाली (राजा) हुआ। (इसकी शक्ति) लगभग राजा शील के (बराबर) थी। उसने ३० वर्ष राज्य किया और राजा शील और (उसकी) एक समय मृत्यु हुई। पूर्व दिशा में भर्ष का बेटा पंचम सिंह नामक (एक) अत्यन्त शक्तिशाली राजा हुआ। (उसने) सिंहचन्द्र के बेटा राजा बालचन्द्र को भंगल से देश निष्कासित कर दिया और तिरहुत में राज्य किया। राजा पंचम सिंह ने उत्तर (में) तिब्बत, दक्षिण (में) त्रिलिंग, पश्चिम (में) वाराणसी, पूर्व दिशा (में) समुद्र पर्यन्त शासन किया। उस समय प्रसेन के शिष्य विनीतसेन, मगध में भदन्त विमुक्तसेन, गुणप्रभ के शिष्य आभिधार्मिक गुणमति, आचार्य धर्मपाल, ईश्वरसेन[2], काश्मीर में सर्वज्ञमित्र और मगध में राजा भर्ष के कनिष्क बेटा राजा प्रसन्न का प्रादुर्भाव हुआ। (इसका) राज्य छोटा होने पर भी अत्यन्त भोगसम्पन्न था और दक्षिण विन्ध्याचल पर्वत के पास के सभी देशों पर शासन करनेवाला पुष्प नामक राजा हुआ।

राजा चल ने (अपने) प्रासाद के चारों ओर एक-एक विहार बनवाया और १२ वर्षों तक चार परिषदों (में से) किसी के भी आने पर सभी को वस्त्र-भोजन-लाभ (तथा) उत्तम साधनों से तृप्त किया। (इनकी संख्या) पहले (और) पीछे के मिलाकर २,००,००० है। राजा पंचम सिंह ने बौद्ध (और) अबौद्ध दोनों का सत्कार किया और बौद्धों की भी २० धर्मसंस्थाओं की स्थापना की (तथा) अनेक स्तूप बनवाये।

राजा प्रसन्न ने चन्द्रकीर्त्ति, चन्द्रगोमिन् आदि श्री नालन्दा के सभी विद्वानों का सत्कार किया और मोतियों से भरे १०८ स्वर्ण-कलश धार्मिक-संस्था को अनुदानस्वरूप दिये। मगध में अवस्थित सभी मन्दिर एवं स्तूपों की विशेषरूप से पूजा की।

१—स्लोब-स्प्रिङ्स्=शिष्यलेख। त० १०३, १२९।

२—द्बङ-फ्युग-स्दे=ईश्वरसेन। तिब्बती परम्परा ने ईश्वरसेन को न्याय में धर्मकीर्त्ति (६००ई०) का गुरु माना है।

विनीतसेन और भदन्त विमुक्तसेन का विस्तृत जीवन-वृत्त देखने को नहीं मिला। कहा जाता है कि एक मन्दिर में विनीतसेन ने अजितनाथ[1] की मूर्ति बनवाई और उस (=मूर्ति) ने वाणी की : "जगतहित साधने के लिये सहायक स्वरूप आर्यातारा की भी (मूर्ति) बनाओ।" (तदनुसार विनीतसेन ने) चन्द्रगोमिन् को आमंत्रित कर, (तारा की मूर्ति) बनवाई। पीछे वे दोनों मूर्तियां तुरुष्कों के भय से देवगिरि पर लिवाई गई और बाद तक विद्यमान थीं। इसी प्रकार भदन्त विमुक्तसेन द्वारा अजितनाथ की साधना करते, दस वर्ष बीतने पर भी कोई शकुन नहीं प्रकट हुआ। आचार्य चन्द्रकीर्त्ति से उपाय पूछे जाने पर (उन्होंने) पाप-मोचन के लिये होम करने का परामर्श दिया। कहा जाता है कि १,२००,००० आहुतियां किये जाने पर होमकुण्ड में दर्शन मिले।

आचार्य गुणमति सब विद्याओं के पण्डित थे। (उन्होंने) अभि (धर्म)-कोश के भाष्य और मध्यमकमूल पर स्थिरमति का अनुसरण कर भव्य के खण्डनस्वरूप वृत्ति लिखी। भव्य के शिष्य सम्प्रदुत भी इनका समकालीन था। कहा जाता है कि पूर्व दिशा के बलपुरी में दीर्घकाल तक शास्त्रार्थ होने पर गुणमति की विजय हुई।

आचार्य धर्मपाल दक्षिण प्रदेश में पैदा हुए। (ये) कविकुल से प्रादुर्भूत हुए। (जब ये) उपासक के रूप में थे तभी से महाकवि (होने के साथ) बौद्ध (और) ब्राह्मणों के प्रायः सिद्धान्तों के जानकार हो गये थे। आचार्य धर्मदास से प्रव्रज्या ग्रहण कर विनय का अध्ययन किया। महापण्डित बनने पर मध्यदेश चले गये। आचार्य दिङ्नाग से पुनः सम्पूर्ण (त्रि-)पिटक का सांगोपांग अध्ययन कर, पण्डितेश्वर बन गये। सौ वृहत् सूत्रों की आवृत्ति करते थे। वज्रासन जा, (अपने) अधिदेवों के अनेक स्तोत्र लिखे। बोधिसत्त्व आकाशगर्भ की साधना करने पर बोधिवृक्ष के शिखर पर दर्शन मिले। तब से आर्याकाशगर्भ से नित्य धर्म श्रवण करते थे। वज्रासन ही में ३० वर्ष से अधिक धर्म की देशना करते रहे। श्रीमत् चन्द्रकीर्त्ति के बाद श्री नालन्दा के संघनायक रहे। कहा जाता है कि वहां बोधिसत्त्व की मूलापत्ति के भागी बननेवाले सभी शिष्यों से या तो जागृतावस्था में या स्वप्न में आर्याकाश गर्भ के समक्ष प्रायश्चित कराते और आर्य गगणगञ्ज से धन प्राप्त कर सकते थे। अपना (तथा) संघ का जीवितोपकरण दानपति से न ग्रहण कर आकाश कोष से मांगते थे। तैर्थिकवादियों को क्रोधनीलदण्ड[2] के द्वारा फटकारते और (उनकी) वाणी को अवाक कर देते थे। विज्ञान (वाद) की टीका के रूप में चतुःशतकमध्यमक[3] पर वृत्ति लिखी। यह वृत्ति चन्द्रकीर्त्ति (के द्वारा रचित) चतुःशतक की टीका के पहले लिखी गई प्रतीत होती है, अतः (यह टीका) वज्रासन में लिखी गई। आचार्य धर्मदास की टीका पर चन्द्रकीर्त्ति और धर्मपाल दोनों (की टीकाएं) आधारित हैं। कहा जाता है कि जीवन के उत्तरार्द्ध (काल) में पूर्व दिशा के सुवर्ण द्वीप चले गये और रासायनिक सिद्धि की साधना कर, अन्त में देवलोक को चले गये।

१--मि-फम-म्गोन-पो=अजितनाथ। अनागत बुद्ध मैत्रेय।

२--स्त्रो-वो-द्व्युग-प-स्ङोन-पो=क्रोधनीलदण्ड। त० ८७।

३--द्बु-म-ब्शि-ब्र्ग्य-प=चतुःशतकमध्यमक। त०

ये (=आचार्यधर्मपाल) थोड़े समय के लिये नालन्दा के संघनायक रहे। तत्पश्चात् जयदेव ने संघनायक (का कार्य) किया। उनके शिष्य शान्तिदेव और विरूप हैं। परवर्ती (=विरूप) का वृत्तान्त—जब (ये) नालन्दा विहार में अध्ययन करते थे एक बार देवीकोट चले गये। (वहां) एक स्त्री द्वारा दिये गये एक उत्पल और एक कौड़ी ग्रहण कर चले गये। लोगों ने कहा : "बेचारे को डाकिनी ने मुहर-बन्द कर दिया है।" "क्या कारण है?" (यह) पूछने पर (लोगों ने) कहा : "वे (=उत्पल और कौड़ी) फेंक दो।" फेंकने पर हाथ में सटे रहने से नहीं फेंक सके। तत्पश्चात् बौद्ध डाकिनी से भेंट कर, रक्षा के लिये अनुरोध किया। उन (=डाकिनियों) ने कहा: "हम बौद्ध (और) अबौद्ध डाकिनियों ने (यह) शर्त रखी है कि जो पहले फूल देगी (उसीका) अधिकार रहेगा।" दूसरा उपाय पूछने पर कहा : "पांच योजन (दूर) चले जाने से मुक्ति मिलेगी।" लेकिन सन्ध्या का समय होने से नहीं पहुंच (सका) और एक धर्मशाला में (एक) अधोमुखघट के नीचे बैठे शून्यता की भावना करते रहे। रात्रि में उस (धर्मशाला) में (ठहरे) हुए लोगों को एक-एक करके डाकिनियों ने बुलाया। मुहरबंदवाला नहीं है (यह) जानकर (लोगों को) बार-बार (वापस) पहुंचाया। विरूप दिखाई नहीं दे रहे थे कि पौ फट गई और वे डाकिनियां विदा हो गईं। (विरूप) वहां से भागकर फिर नालन्दा पहुंचे। पण्डित बनने पर : "अब डाकिनियों का दमन करना चाहिये" सोच दक्षिणापथ श्री पर्वत पर चले गये। आचार्य नागबोधि से यमान्तक (-साधना[1]) ग्रहण कर भावना की। फलतः किसी समय साक्षात् दर्शन मिले। कहा जाता है कि और दीर्घकाल तक भावना करने पर (वे) श्री महाक्रोध के तुल्य बन गये। उसके बाद फिर देवीकोट गये, तो पहले की अबौद्ध डाकिनियों ने कहा : "पहले मुहर-बंद किया गया (व्यक्ति) आ गया है।" रात्रि में (जब डाकिनियां) भयानक रूप में (उनको) भक्षण करने आईं, तो (विरूप ने) यमान्तक का रूप धारण किया जिसके फलस्वरूप वे (=डाकिनियां) मूर्छित हो, मरणासन्न हो गईं। उन (=डाकिनियों) (का दमन कर उन) से प्रतिज्ञा कराके नालन्दा आये। तत्पश्चात् (योग) अभ्यास के लिये चले गये। (इनका) अवशेष वृत्तान्त अन्यत्र मिलता है।

(आचार्य शान्तिदेव का जीवन-वृत्त,

शान्तिदेव को अपने अधिदेव के दर्शन)

शान्तिदेव का जन्म (७वीं शताब्दी) सौराष्ट्र के राजा के पुत्र रूप में हुआ था। पूर्व संस्कार के प्रभाव से बचपन (ही) में स्वप्न में मंजुश्री के दर्शन प्राप्त हुए। सयाना होने पर (जब इन्हें) सिंहासन पर बैठाया गया, स्वप्न में (उनके) सिंहासन पर मंजुश्री आसीन थे और बोले : "(हे) पुत्र, यह मेरा आसन है; मैं तुम्हारा कल्याणमित्र हूँ, तुम्हारा और हमारा एक आसन पर बैठना, यह सर्वथा उचित नहीं।" आर्यातारा ने अपनी माता के रूप में उष्ण जल (उनके) शीष पर डाला। "(कारण) क्या है?" पूछने पर (आर्या ने) कहा : "राज्य तो घोर नारकीय गरम जल (के सदृश) है, अतएव (मैं) तुम्हें अभिषिक्त कर रही हूं।" ऐसा कहने पर (उन्होंने) राज्य का चलाना उचित नहीं समझा और दूसरे दिन राज्याभिषेक होने की रात्रि में भाग गये। २१ दिन की यात्रा करने के बाद (जब) किसी जंगल के पास के जलाक्ष में से (पानी)

१—ग्शिन-र्जे-ग्शेद=यमान्तक। त० ६७।

पीने लगे, तो किसी स्त्री ने मनाही कर दूसरा मधुर जल पिलाया (और) जंगल की गुफा में रहनेवाले किसी योगी के पास ले गयी। इन (=योगी) से सम्यक् शिक्षा प्राप्त कर, भावना करने पर अचिन्त्य समाधि और ज्ञान प्राप्त हुए। वह योगी मंजुश्री थे और स्त्री थी तारा (देवी)। तब से उन्हें सर्वदा मंजुश्री के दर्शन मिलते थे।

(शान्तिदेव द्वारा राजा की सहायता)

तत्पश्चात् (आचार्य शान्तिदेव) पूर्व दिशा को चले गये। राजा पंचम सिंह के अनुचरों के बीच में रहने से वे सब कलाओं में सुनिपुण हो गये। (इनकी) असाधारण प्रतिभा (को देख, राजा ने) मंत्री बनने को कहा और (इन्होंने) कुछ समय के लिये स्वीकार कर लिया। (अपने पास) इष्टदेव के चिह्नस्वरूप एक काष्ठ (निर्मित) खड्ग रखते थे। वहां अभूतपूर्व सब शिल्प स्थानों का परिचय कराया। (राजा से) धर्मानुकूल राज्य कराने के कारण अन्य मंत्रियों ने ईर्ष्या की और राजा से कहा : "यह धूर्त है, खड्ग भी लकड़ी का है।" फलतः सब मंत्रियों को राजा के समक्ष अपने खड्ग दिखलाने पड़े। आचार्य ने कहा : "(यदि मैं) यह (खड्ग) निकाल दूं, तो स्वयं राजा का अहित होगा।" यह कहने पर और भी संशय पैदा हुआ। (राजा ने) कहा : "अहित होने पर भी परवाह नहीं, अवश्य निकालो।" (आचार्य ने) कहा कि : "अच्छा, दाहीं आंख बन्दकर बायीं से देखें।" ऐसा कराके दिखलाये जाने पर तलवार की चमक से राजा की बायीं आंख निकल गई। तब (शान्तिदेव की) सिद्धि प्राप्ति का पता लगा (और) अनेक लाभ-सत्कार कर, (राजा के यहां) रहने का निवेदन किया। (पर शान्तिदेव राजा को) धर्मानुसार राज्य चलाने (और) बौद्ध धर्म की बीस संस्थाएं स्थापित करने की आज्ञा देकर मध्यदेश चले गये।

(नालन्दा में आचार्य शान्तिदेव की गतिविधि)

(आचार्य शान्तिदेव ने) पंडित जयदेव से प्रव्रजित कराकर (अपना) नाम शान्तिदेव रखा। वहां पण्डितों के साथ रहने और पांच-पांच द्रोण (की मात्रा में) भोजन करते थे। भीतर समाधि (लगाते) और आर्य मंजुश्री से धर्म श्रवण कर शिक्षासमुच्चय[1] और सूत्रसमुच्चय[2] का भली-भांति प्रणयन किया। समस्त धर्मों का ज्ञान प्राप्त कर लिया, किन्तु बाहर के अन्य (लोगों) की दृष्टि में दिन-रात सोते रहे और श्रवण, मनन (और) भावना कुछ भी नहीं करने का बहाना करते थे। फलतः संघ ने परामर्श किया : "इस श्रद्धि के बरबाद करनेवाले (को) बहिष्कृत कर देना चाहिए और बारी-बारी से सूत्र का पाठ किया जाय तो यह अपने आप भाग जायगा।" ऐसा ही किया गया। अन्त में शान्तिदेव से भी सूत्र का पाठ करने को कहा गया। पहले तो स्वीकार नहीं किया। साग्रह अनुरोध किये जाने पर (उन्होंने) कहा : "अच्छा, आसन बिछाओ (मैं) पाठ करूंगा।" कुछ (लोगों को) सन्देह उत्पन्न हुआ। अधिकांश (लोग उनका) अपमान करने के लिये एकत्र हुए। आचार्य ने सिंहासनारूढ हो, (श्रोताओं से) पूछा : "(मैं) पूर्वपठित (सूत्र) का पाठ करूँ अथवा अपूर्वपठित का?" सबने (उनका) परीक्षण

१—ब्स्लब-प-कुन-लस्-ब्तुस् = शिक्षासमुच्चय त० १०२।

२—म्दो-कुन-लस्-ब्तुस् = सूत्रसमुच्चय। त० १०२।

करने के लिये अभूत (पूर्व सूत्र) का पाठ करने को कहा। (आचार्य ने) बोधिसत्त्व-चर्यावतार[1] का पाठ किया :

"यदा न भावो नाभावो मते: संतिष्ठते पुर:" जब (इस) पद पर पहुँचे, (वे) आकाश में उड़ते हुए गमन करने लगे। शरीर के अदृष्ट होने पर भी (उनकी) वाणी निरन्तर सुनाई पड़ती थी और (उन्होंने) (बोधि) चर्यावतार का पूर्णरूप से पाठ किया। वहां धारणीप्रतिलब्ध पण्डितों ने हृदयंगम कर लिया जिनमें से काश्मीरी (पण्डितों) के एक सहस्र श्लोकों से अधिक हुए। मंगलाचरण (पण्डितों ने) अपनी ओर से जोड़ दिया। पूर्वीय (पण्डितों) के केवल ७०० श्लोक हुए (और) मंगलाचरण मध्यमकमूल से उद्धृत किया, जिसमें देशना-परिच्छेद और प्रज्ञा (पारमिता)-परिच्छेद छूट गये। मध्यदेशीय (पण्डितों) के मंगलाचरण और आरम्भ प्रतिज्ञा छूट गई (और) अन्त्यावर्ण के मिलाकर १,००० श्लोक हुए। इस पर (पण्डितों को) सन्देह हुआ। तिब्बत के पूर्व (कालीन) इतिहास के अनुसार (शान्तिदेव) श्री गुणवाननगर[2] में वास कर रहे थे। किन्तु यह (सूचना) सुनकर कि त्रिलिंग के अन्तर्गत कलिंगपुर में जा, वहां निवास कर रहे हैं, तीन पण्डितों ने वहां जाकर, नालन्दा आने का अनुरोध किया, पर (आचार्य ने) स्वीकार नहीं किया। (पण्डितों ने) पूछा : "अच्छा, तो (आपने हमें) शिक्षा समुच्चय और सूत्रसमुच्चय का अवलोकन करने को कहा था, वे तीनों पुस्तकें (बोधिसत्त्व-चर्यावतार के साथ) कहां हैं ?" (शान्तिदेव ने) कहा : "शिक्षा (समुच्चय और) सूत्र (समुच्चय मेरी) कोठरी की खिड़की पर हैं जो वल्कल पर पंडितों की सूक्ष्मलिपि में लिखित हैं, (और बोधि) चर्यावतार मध्यदेशीय (पंडितों) द्वारा माना जानेवाला (ही अधिक प्रामाणिक) है।" वहां (वे) किसी अरण्य के विहार में ५०० भिक्षुओं के साथ रहते थे। उस वन में बहुत से मृग थे। जो मृग (उनके) आश्रम में जाते थे (आचार्य अपने) चमत्कार के द्वारा (उन मृगों का) मांस भक्षण करते थे। भिक्षुओं ने मृगों (को) आचार्य के आश्रम में जाते हुए देखा, (पर) बाहर निकलते नहीं देखा। साथ ही (इस बात का) पता चल गया कि मृगों का झुण्ड भी कम हो गया है। (जब) किसी ने खिड़की से झांका, तो (उन्हें) मांस खाते हुए देखा। इसपर (जब) संघ ने (उनका) विरोध करना शुरू कर दिया, तो (सभी) मृग पुनर्जीवित हो उठे और पहले से भी अधिक मोटे-ताजे हो, बाहर निकलकर चले गये। उन लोगों ने लाभ-सत्कार के साथ (आचार्य से वहां) रहने का निवेदन किया (पर) उन्होंने स्वीकार नहीं किया। (आचार्य ने) प्रव्रजित-चिह्न का परित्याग किया (और) उच्छुष्मनचर्या (का अभ्यास करते) विचरण करने लगे।

१—ब्यङ-छुब-सेमस्-द्पहि-स्प्योद-प-ल-ह्जुग-प=बोधिसत्त्वचर्यावतार । त० ९६ ।
यदा नाभावो नाभावो मते: संतिष्ठते पुर:।

"तदान्यगत्यभावेन निरालंबा प्रशाम्यति।। ३५। अर्थात् जब बुद्धि के समक्ष भाव और अभाव (दोनो ही) नहीं रहते तब (उसके सामने) और कोई गति नहीं होती (कि वह स्वयं ठहर सके। इसलिये अन्त में) आलंबन न होने के कारण (वह भी) शांत हो जाती है। (प्रज्ञापारमिता-परिच्छेद पृ० १०३)

२—ग्रोङ-ख्येर-द्पल-योन-चन=श्रीगुणवाननगर? श्री दक्षिणनगर?

(तैर्थिकों पर आचार्य शान्तिदेव की विजय)

दक्षिणापथ के किसी प्रदेश में बौद्ध (और) अबौद्ध (में) शास्त्रार्थ हुआ। (जब) शक्ति की प्रतियोगिता हुई, तो बौद्ध असमर्थ हुए। आचार्य उस स्थान पर पहुंचे। फेंकी गयी धोवन (आचार्य की) देह पर लगने, पर खौलती हुई देख, (बौद्धों ने आचार्य को) शक्ति (सिद्धि)-प्राप्त है जानकर (उनसे) तीर्थिकों की शक्ति का मुकाबला करने का अनुरोध किया। (आचार्य ने इसे) स्वीकार कर लिया। वहां (जब) तीर्थिकों ने आकाश में धूलरंग से महामंडल (का चित्र) अंकित किया, तो तत्क्षण (आचार्य ने ऋद्धिबल से) प्रचण्ड वायु को भेजा, जिससे मण्डल और तीर्थिकों को उड़ाकर एक नदी के पार फेंक दिया गया। तैर्थिकों के सब प्रिय (लोग) भी उड़ते-उड़ते बच गये। राजा आदि बौद्ध (धर्म) के भक्तों को आंधी से कोई क्षति नहीं हुई और तैर्थिकों का विनाश कर, (बौद्ध) धर्म का प्रचार किया। वह देश भी जिततीर्थिक देश[1] (के नाम से) प्रसिद्ध हुआ। यह (कथा) सभी प्रामाणिक इतिहासों में उपलब्ध होने से विश्वसनीय है। किन्तु, हो सकता है, समय के प्रभाव से देश का नाम बदल गया हो। आज (इस) देश का पता नहीं चलता।

(पाषण्डिकदर्शन के अनुयायियों तथा भिखारियों को शान्तिदेव द्वारा भोजन दान)

और भी तिब्बती इतिहास के अनुसार कहा जाता है कि ५०० पाषण्डिकदर्शन के माननेवाले (जब) भूखमरी के शिकार बने, तो (आचार्य ने) ऋद्धि द्वारा खान-पान दिलाकर (उन्हें) धर्म में स्थापित किया। लगभग १,००० भिखारियों का भी इसी प्रकार (उपकार) किया। किसी भारी संघर्ष में प्रतिद्वन्द्वी के रूप में प्रवेशकर, चमत्कार द्वारा विवाद का समझौता किया। (इनके विषय में) सात आश्चर्यजनक कथाएं मानी जाती हैं—(१) अधिदेव के दर्शन पाना, (२) नालन्दा (में महत्वपूर्ण कार्य की) संपन्नता, (३) विवाद का समाधान, (४) पाषण्डिकों और (५) भिखारियों (की भुखमरी का निवारण करना), (६) राजा (और) (७) तीर्थिकों को विनीत करना।

सर्वज्ञमित्र, (८वीं शताब्दी) कश्मीर के किसी राजा का एक सौतेला पुत्र था। बचपन में (उसे) छत पर सुलाकर (उसकी मां) फूल चुनने चली गई थी। (एक) गृद्ध ने शिशु (को) ले जाकर, मध्यदेश (के) श्री नालन्दा के एक गन्धौल के शिखर पर रख छोड़ा। पण्डितों ने उसे उठा लाकर पोसा। वह बड़ा होने पर प्रखर बुद्धि का निकला। (आगे चलकर त्रि-)पिटकधर भिक्षु तक बना। भट्टारिका आर्यातारा की साधना करने पर उनके साक्षात दर्शन मिले और अक्षय भोग प्राप्त हुआ। सब दान कर देने के कारण किसी समय (उनके पास) दान करने का कुछ भी साधन नहीं रहा। "इस स्थान पर रहने से अनेक भिखारियों (को) खाली हाथ लौटाना पड़ेगा।" सोच दूर दक्षिण प्रदेश को चले गये। मार्ग में एक वृद्ध अंधा ब्राह्मण (अपने) बेटे के पथप्रदर्शन में आ रहा था। (आचार्य ने) पूछा : "कहां जा रहे हो?" (उसने) कहा : "नालन्दा में सर्वज्ञमित्र (रहते हैं जो) सभी भिखारियो (को) संतुष्ट

१—मु-स्तेगस्-फम-पहि-युल=जिततीर्थिक देश।

करते हैं, उनके पास मांगने जा रहा हूं।" (आचार्य ने) कहा : "वही (व्यक्ति) मैं हूं, सब साधन समाप्त होने के बाद यहां आया हूं।" (यह) कहने पर वह अत्यन्त दुःखी हुआ और (इसपर आचार्य को) बड़ी दया आयी। (आचार्य ने) सुना था कि सरण नामक एक राजा ने (जो) मिथ्यादृष्टि में अभिनिविष्ट और क्रूर आचार्य का अनुयायी (था) (यह) कल्पना की थी कि : "१०८ मनुष्य खरीदकर अग्निहोम करने से उन (मनुष्यों) की आयु और भाग्य अपने को प्राप्त होगा तथा मोक्ष का कारण भी बनेगा।" १०७ मनुष्य तो हाथ लगे, बाकी एक नहीं मिला। आचार्य ने स्वयं (को) बेचकर इस ब्राह्मण का उपकार करने की सोच (उसे आश्वासन देते हुए) कहा : "तुम दुःखी मत हो, मैं द्रव्य प्राप्तकर आता हूं।" (यह कह उन्होंने) नगर में : "मनुष्य खरीदनेवाला कौन है ?" पूछा तो राजा ने खरीदा। मूल्य में आचार्य के शरीर के वजन के बराबर स्वर्ण चुकाया गया। आचार्य ने स्वर्ण ब्राह्मण को प्रदान किया, तो (वह) संतुष्ट होकर चला गया। तत्पश्चात् आचार्य राजा के बन्दीघर में चले गये। उन व्यक्तियों ने कहा : "यदि तुम नहीं आते, तो हमारी रिहाई होने की संभावना थी। अब (हमें) इसी घड़ी जला दिया जायगा।" यह कह (वे) अत्यन्त दुःखी हुए। उस रात को किसी चौड़े स्थान में पहाड़ के समान लकड़ियों का ढेर लगवाया गया (जिसके) मध्य में १०८ व्यक्तियों को बांधकर रखा गया। उस मिथ्यादृष्टिवाले आचार्य ने अनुष्ठान किया। जब सब लकड़ियों में आग जल उठी, १०७ व्यक्ति क्रन्दन करने लगे। इससे आचार्य का हृदय करुणा से पिघल उठा और आर्यातारा से प्रार्थना करने पर भट्टारिका (तारा) सामने प्रकट हुई (जिनके) हाथ से अमृत की धारा बहने लगी। लोगों की दृष्टि में और किसी स्थान पर न बरसकर, जलती हुई आग पर ही मूसलाधार पानी बरस रहा था। आग बुझ गई और (एक) तालाब प्रादुर्भूत हुआ। तब राजा ने विस्मित होकर आचार्य का आदरपूर्वक सत्कार किया। उन व्यक्तियों को भी पुरस्कार देकर विदा कर दिया। वृहत् पूजा करने पर भी राजा सम्यक् दृष्टि में दीक्षित नहीं हुआ और सद्धर्म का प्रचार न होते दीर्घकाल बीतने पर (आचार्य ने) खिन्न हो, भट्टारिका आर्यातारा से प्रार्थना की : "(मुझे) अपनी जन्म-भूमि में पहुँचा दें। (आर्यातारा ने) कहा : "(मेरे) वस्त्र पकड़कर आंखें मूंद लो।" आंखें मूंदने पर झट (आंखें) खोलने (को) कहा। आंखें खोलने पर देखा कि एक विशाल राजप्रासाद से सजे-धजे किसी अदृष्टपूर्व देश में पहुँच गये हैं। (आचार्य ने) कहा : "मुझे नालन्दा न पहुँचाकर यहां क्यों पहुंचा दिया।" (तारा ने) कहा : "तुम्हारी जन्म-भूमि यही है।" तब वहां रहकर, तारा का (एक) विशाल मन्दिर भी बनवाया। अनेक धर्मोपदेश कर, सब लोगों को सुख पहुंचाया। ये रविगुप्त (७२५ ई०) के शिष्य हैं। लगभग इस समय महासिद्ध डोम्भिहेरुक और महासिद्ध वज्रघण्टापा भी आविर्भूत हुए। ये समसामयिक थे। आगे पीछे के (काल-) क्रम (में) थोड़ा (अन्तर यह) है कि विरूपा के सिद्धि प्राप्त करने के लगभग दस वर्ष बाद डोम्भिहेरुक ने सिद्धि प्राप्त की। उसके दस (वर्ष) बाद घण्टापा ने (सिद्धि) प्राप्त की। आचार्य चन्द्रगोमिन् का शिष्य सेठ पुत्र सुखदेव भी इस समय हुआ। जब वह व्यापार करता था, किसी तीर्थिक से गोशीर्ष-चन्दन[1] की बनी हुई बुद्ध की एक खंडित मूर्ति खरीदी। शङ्खजानि नामक राजकन्या के गंभीर रोग से ग्रस्त होने पर वैद्यों ने बताया कि : "इस (रोग) की औषध गोशीर्ष-चन्दन है, लेकिन यह अप्राप्य है। "यह कह (उसका) परित्याग कर दिया। वहाँ उस व्यापारी ने कहा: "यदि यह चंगी हो जाए, तो मुझे प्रदान करें।" राजा ने भी स्वीकार कर लिया।

१---चन्दन-स-म्छोग=गोशीर्षचन्दन।

उसने गोशीर्ष-चन्दन (को) रगड़कर उसके बदन में लगाया। औषध का सेवन कराये जाने पर (वह) स्वस्थ हो गई। वह सुखदेव को सौंप दी गई, तो उसने (राजकन्या) कहा: "आरोग्य होना तो अच्छी (बात) है, पर पाप-मोचन करना दुष्कर है।" पाप-मोचन का उपाय आचार्य चन्द्रगोमिन् से पूछा गया तो उन्होंने अवलोकित की शिक्षा प्रदान कर साधना कराई। किसी समय आर्य (अवलोकितेश्वर) के साक्षात् दर्शन मिले। श्रेष्ठीपुत्र सुखदेव ने (अपनी) पत्नी के साथ सिद्धि प्राप्त की। राजा चल, पंचम सिंह आदि कालीन २५वीं कथा (समाप्त)।

(२६) श्रीमद् धर्मकीर्ति (६०० ई०) कालीन कथाएं।

राजा चल की मृत्यु के पश्चात् उसके अनुज राजा चलध्रुव ने २० वर्ष राज्य किया। (इसने) अधिकांश पश्चिम (प्रदेशों) पर शासन किया। विष्णुराज नामक इसके पुत्र ने भी बहुत साल तक राज्य किया। जब (वह) पश्चिम दिशा (के) हलदेश के अन्तर्गत पाल नगर (स्थान) में रहता था, (वहां) प्राचीन महर्षि के तुल्य ५०० वनाश्रमी तपस्वी ब्राह्मण रहते थे। (उसने) उनके तपोवन में (रहनेवाले) सभी मृगों और पक्षियों (को) मार डाला। बड़ी नदी (को) पहुँचाकर ऋषियों के आश्रमों (को) नष्ट कर डाला। उन (ऋषियों) ने अभिशाप दिया। परिणामस्वरूप राजमहल के नीचे से पानी फूट पड़ा और (वह) डूब गया। उस समय प्रायः मध्यदेश और पूर्व दिशा पर शासन करने वाले राजा प्रसन्न का पुत्र प्रादित्य और पुनः पुत्र महास्यणि हुए। उत्तर दिशा में राजा प्रादित्य का भाई महाशाक्यबल हुआ (जो) हरिद्वार में रहता (और) काश्मीर तक पर शासन चलाता था। भंगल, कामरूप और तिरहुत, (इन) तीनों पर राजा बालचन्द्र के पुत्र विमलचन्द्र ने शासन किया। राजा चल ध्रुव और विष्णुराज ने (अपने) देशों का सुखपूर्वक संरक्षण किया और यथाधर्म शासन किया; पर (बुद्ध) शासन में (इनके द्वारा किये गये) कार्यों की स्पष्ट (कथा) उपलब्ध नहीं है। अन्य (राजाओं) ने (बुद्ध) शासन का सम्यक् रूप से सत्कार किया। प्रादित्य और महास्यणि ने मुख्यतः श्रीमद् धर्मकीर्ति का सत्कार किया। राजा महाशाक्यबल ने महान् आभिधार्मिक वसुमित्र का सत्कार किया। राजा विमलचन्द्र ने पंडित अमरसिंह, रत्नकीर्ति (१०००ई०) और सम्प्रदुत के शिष्य माध्यमिक श्रीगुप्त का सत्कार किया। साधारणतः उस समय बुद्ध शासन का प्रचार जोर पकड़ रहा था; लेकिन असंग, वसुबन्धु और दिङ्नाग के समय अपेक्षाकृत पूर्व दिशा और दक्षिण प्रदेश में सर्वत्र तीर्थिकों का उत्थान हो रहा था और बौद्धों का पतन।

राजा पंचम सिंह के समय दो तीर्थिक भाई आचार्यों का प्रादुर्भाव हुआ। एक का नाम दत्तत्रै (था जो) समाधि में अभिरत रहता था। दूसरे का नाम शंकराचार्य था। (इसने) महादेव की सिद्धि प्राप्त की। कुम्भ बनाकर पर्दे के घेरे में रख, मंत्रोच्चारण करता और महादेव घट के मध्य में से सिर तक (बाहर) निकाल, (उसे) शास्त्रार्थ सिखाया करता था। उसने भंगल देश में शास्त्रार्थ किया। स्थविर भिक्षुओं ने कहा "यह दुर्जय है ; यदि आचार्य धर्मपाल या चन्द्रगोमिन् या चन्द्रकीर्ति (को) शास्त्रार्थ के लिये आमंत्रित किया जाय (तो अच्छा हो)। पर तरुण पंडितों ने (स्थविरों की) अवज्ञा की और कहा : 'शास्त्रार्थ करनेवाला देशान्तर से बुलाया जायगा, तो इस देश के पंडितों का अपयश होगा। उनसे हम अधिक विद्वान हैं।" ऐसा कह अभिमानवश शंकराचार्य से शास्त्रार्थ किया। फलतः बौद्ध पराजित हुए, और लगभग २५ धर्मसंस्थाओं की सम्पत्ति तीर्थिकों के हाथ में चले जाने के कारण वे उजड़ गये। लगभग ५०० (बौद्ध)

उपासकों (को) तीर्थिक (मत) में प्रविष्ट होना पड़ा। उसी प्रकार ओडिविश देश में भी शंकराचार्य का शिष्य भट्टाचार्य नामक ब्राह्मण पूर्व (शंकराचार्य) के तुल्य का था, (जिसे) ब्रह्मपुत्री[1] विद्या सिखाया करती थी। वहाँ बौद्ध (और) अबौद्ध (में) काफी शास्त्रार्थ हुआ और व्याकरण और तर्क (शास्त्र) में सुदक्ष कुलिश श्रेष्ठ नामक बौद्ध पण्डित ने (जब) पिछले (पंडितों) की भांति अभिमान से (बुद्ध) शासन (का) साक्षी देकर शास्त्रार्थ किया, तो तीर्थिकों की विजय हुई। अनेक बौद्ध विहारों (को) नष्ट किया गया। विशेषकर (विहार के) देवदासों[2] और धर्मसंस्थाओं का अपहरण किया गया। पिछले (कुलिश श्रेष्ठ) के समय धर्मपाल, भदन्तचन्द्र आदि नहीं जीवित थे। उस समय दक्षिण प्रदेश में तीर्थिकों में वादीवृषभ (के नाम) से प्रसिद्ध कुमारलीला और महादेव का अनुचर गोवर्ती कणादरोरु नामक दो ब्राह्मण (रहते थे)। उन्होंने भी दक्षिण प्रदेशों में अनेक शास्त्रार्थ किये। बुद्धपालित, भव्य, धर्मदास, दिङ्नाग इत्यादि के शिष्य-गण और श्रावक संघ उनके शास्त्रार्थ का समाधान नहीं कर पाये। बौद्धों की सम्पत्ति (और) प्रजा का तीथिक ब्राह्मणों द्वारा अपहरण किये जाने की अनेक घटनाएँ हुईं। यह (घटना) उपर्युक्त से भी पीछे की है। उस समय देवश्रम नामक आचार्य धर्मपाल के (एक) शिष्य ने चन्द्रकीर्ति का खण्डन करने की सोचकर माध्यमिकवृत्ति सीताभ्युदय[3] की रचना की। दक्षिण प्रदेश में कुछ तैर्थिकों से शास्त्रार्थ करने पर आचार्य विजयी हुए और राजा शालिवाहन[4] को बुद्धशासन में दीक्षित किया। उसने अनेक मन्दिरों और स्तूपों का निर्माण कराया (तथा) धार्मिक-संस्था भी स्थापित करायी। इस राजा के समय सिद्ध गोरक्ष का प्रादुर्भाव हुआ। आचार्य अमरसिंह की विस्तृत कथा सुनने में नहीं आई। थोड़ी बहुत अन्यत्र उपलब्ध है। कहा जाता है कि रत्नकीर्त्ति[5] (१००० ई०) ने मध्यमकावतार पर टीका लिखी थी। वसुमित्र ने भी अभि(-धर्म-) कोष की टीका लिखी थी। ये अष्टादश निकायों का समयभेदोपरचनचक्र[6] नामक ग्रंथ के रचयिता हैं। महान् आचार्य वसुबन्धु के समय तक पूरे अष्टादश निकाय विद्यमान थे। पहले जब शासन पर शत्रुओं का आक्रमण हुआ (निकायों) का) ह्रास हुआ और कुछ निकाय अल्प (संख्या) में शेष रहे। बीच के समय में उनमें वाद-विवाद होने के कारण तथा कुछ भाग्यवश नष्ट हो गये। महासांघिक (ई०पू० तृतीय शताब्दी) के पूर्व शैलीय,[7] अपरशैलीय और हैमावत लुप्त हो गये। सर्वास्तिवाद के काश्यपीय और विभाज्यवादी लुप्त हो गये। स्थविर (वाद) के (अन्तर्गत) महाविहारवासी तथा साम्मितीय के प्रावन्तक विलुप्त हो गये।

१—छङ्स्-पहि-बु-मो=ब्रह्मपुत्री। सरस्वती जी को कहते हैं।

२—ल्ह-ह्बङस्=देवदास। विहारों के भृत्य को कहते हैं।

३—द्कर-पो-र्नम-पर-ह्छर-व=सीताभ्युदय

४—इन्हें शातवाहन या शातकर्णी भी कहते हैं। ये नागार्जुन के मित्र थे।

५—रिन-छेन-ग्रगस-प=रत्नकीर्त्ति। ये १०वीं शताब्दी के चतुर्थपाद में विक्रमशिला के प्रधान आचार्य थे। (पु० पृ० २०४)

६—ग्शुङ-लुगस्-क्ये-ब्रग-ब्रोद-पहि-ह्खोर-लो=समयभेद्योपरचनचक्र। त० १२७।

७—शर-ग्यि-रि-वो-प=पूर्वशैलीय। कथावत्थु की अट्ठकथा (१।१) में इसे तृतीय संगीति के बाद के अन्धक-निकायों में गिना गया है।

बाकी निकाय प्रचार पर थे। श्रावकों का साधना-शासन ५०० वर्ष बाद लुप्त-सा हो गया, (लेकिन) श्रावक मतावलम्बी आजतक बड़ी संख्या में हैं। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि महायान के विकास के अचिर में ही श्रावकनिकाय का ह्रास हो गया। यह सोचना अज्ञतापूर्ण है कि महायान की स्थापना के बाद श्रावकों की शक्ति क्षीण होती गई और वर्तमानकाल में श्रावक मतावलम्बी अधिक (संख्या में) नहीं हैं। आश्चर्य तो इस बात का है कि स्वयं (इस विषय की) आंशिक जानकारी तक न रखते हुए दूसरे को बताते और लिपिबद्ध करते हैं।

श्रीमद् धर्मकीर्ति का जन्म दक्षिण के जिनेन्द्र चूड़ामणि[1] नामक (स्थान) में हुआ था, ऐसा प्राचीन (कालीन) सब विद्वानों का कहना है। वर्तमान काल में ऐसा नामवाला देश नहीं प्रतीत होता। परन्तु सभी बौद्धों (और) हिन्दुओं में (यह बात) प्रचलित है कि श्रीमद् धर्मकीर्ति की जन्म-भूमि तिरुमलै है, इसलिये निश्चय ही प्राचीनकाल (में) वह जिनेन्द्र चूड़ामणि कहलाता होगा। प्रतीत होता है कि (इनका) जन्म-काल, राजा पंचमसिंह, राजा आदित्य आदि के राज्यारोहण के कुछ समय बाद का है। (वे) कोरुनन्द नामक (किसी) ब्राह्मण कुल के तीर्थिक परिव्राजक के पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। बचपन से (ही) अत्यन्त प्रतिभाशाली होने से (इन्होंने) शिल्पविद्या, वेद-वेदांग, चिकित्सा, व्याकरण और तीर्थिक के अशेष सिद्धान्तों में सुदक्षता प्राप्त की। फलतः १६ या १८ वर्ष (की अवस्था) में ही (वे) सभी तीर्थिक सिद्धान्तों में सुनिपुण हो गये। जब ब्राह्मणगण (इनकी) भूरी-भूरी प्रशंसा करने लगे, (उन्होंने) बुद्ध के कुछ प्रवचनों को देखा, और अपने शास्ता (का) सदोष और शास्त्रों (को) अयुक्तियुक्त पाया। बुद्ध और सद्धर्म (को) इसके विपरीत देख, (इनके प्रति) अतिशय श्रद्धा उत्पन्न कर, (उन्होंने अपने को) बौद्ध उपासक के वेश में परिणत किया। ब्राह्मणों ने कारण पूछा, तो (उन्होंने) बुद्ध का गुणगान किया। परिणामतः उन (=ब्राह्मणों) ने (उन्हें) बहिष्कृत कर दिया। तदुपरान्त (वे) मध्यदेश को चले गये और आचार्य धर्मपाल[2] से प्रव्रज्या ग्रहण कर, (उन्होंने) सम्पूर्ण त्रिपिटकों (में) विद्वता प्राप्त की। सूत्र और धारणीमंत्र को मिलाकर लगभग ५०० (पुस्तकों को) हृदयंगम कर लिया। दूसरे अनेक तर्कशास्त्रों का अध्ययन करने पर भी (उन्हें) संतोष नहीं हुआ। श्रीमद् दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन से प्रमाणसमुच्चय पहली बार पढ़ा, तो स्वयं ईश्वरसेन के तुल्य बन गये। दूसरी बार सुनने पर दिङ्नाग के समकक्ष हो गये। तीसरी (बार) श्रवण करने पर (उन्होंने) आचार्य ईश्वरसेन तक (को) दुर्बोध जान पड़नेवाले दिङ्नाग के भावों को जान लिया और आचार्य (ईश्वरसेन) को (इसकी) आवृत्ति की, तो (वे) अति प्रसन्न हुए और (बोले :) "तुम तो दिङ्नाग के तुल्य हो, (अतः) सभी गलत सिद्धान्तों का खण्डन कर, प्रमाणसमुच्चय की टीका भी लिखो।" (इस प्रकार अपने) आचार्य से उन्हें अनुमति प्राप्त हुई। वहां (उन्होंने) मंत्र (-यानी) वज्राचार्य से अभिषेक भली-भांति ग्रहण कर अधिदेव की साधना की और हेरुक ने साक्षात् दर्शन देकर पूछा : "क्या चाहते हो?" (उन्होंने) निवेदन किया : "(मैं) सर्वदिग्विजयी होना चाहता हूँ।" (यह प्रार्थना करने पर) "ह, ह, हूँ!" कह वह वहीं अन्तर्धान हो गये। वहाँ (आचार्य धर्मकीर्ति ने) स्तवदण्डक की रचना भी की। कुछ (लोगों) का कहना है कि इनके वज्राचार्य दारिकपा हैं

१—ग्यंल-द्बङ-ग्चुग-गि-नोर-बु=जिनेन्द्र चूड़ामणि

२—छोस्-स्क्योङ=धर्मपाल। तत्कालीन नालन्दा के संघ-स्थविर।

(और) कुछ (लोगों) का मत है कि वज्रघण्टापा। लेकिन (विद्वानों का) कहना है कि डेंगिपा का होना युक्तिसंगत है। कहा जाता है कि इन आचार्य (धर्मकीर्ति) ने श्री चक्रसम्वर साधना का भी प्रणयन किया तथा लूइपा द्वारा रचित वज्रसत्त्वसाधन की भी रचना की। तदुपरान्त (उन्होंने) तीर्थिक मत का रहस्य सीखने की इच्छा की और अपने को दासवेष में रूपान्तरित कर दक्षिण प्रदेश चले गये। "तीर्थिक सिद्धान्तों में कौन (अधिक) विद्वान है?" पूछने पर बताया गया कि : "सम्पूर्ण सिद्धान्तों में अतुलनीय विद्वत्ता रखनेवाला कुमारिल[1] (नामक) ब्राह्मण है।" भोट (भाषा) में 'ग्शोन-नु-म-ले न' कहलाता है (जो) या तो कुमारलीला का अशुद्धभाषान्तर किया गया है या गलत-शब्द का अनुवाद किये जाने का दोष है। (कुछ लोगों का) कहना है कि (यह) धर्मकीर्ति का मामा है। पर भारत में (यह तथ्य) सर्वथा अप्रसिद्ध है। (तीर्थिक) सिद्धान का रहस्य चुराते समय (धर्मकीर्ति द्वारा) ब्राह्मण (कुमारलीला) की पत्नी के पैर की अनामिका में डोरी का बांधना आदि वर्णन भी भारतीय (लोगों) में अप्रचलित है जो सत्य भी नहीं जान पड़ता। कुमारलीला (को) भारी राजशक्ति प्राप्त हुई और (इसके पास) धान के अनेक उपजाऊ खेत, अनेक गाय, भैंस, ५०० दास, ५०० दासी और अनेक वेतनजीवी थे। अतः आचार्य (धर्मकीर्ति) ने भी बाहरी (और) भीतरी सब कामों में पचास दासों (और) पचास दासियों का काम अकेले सम्भाला। इस पर कुमारलीला पत्नी सहित अति प्रसन्न हुआ। (कुमारलीला ने) पूछा : "तुम क्या चाहते हो?" (आचार्य ने) कहा : "(मैं) सिद्धांत पढ़ना चाहता हूँ।" कुमारलीला (द्वारा) शिष्यों को पढ़ाई जानेवाली विद्याओं का भी (आचार्य) श्रवण करते और कुछ रहस्य, जो (कुमारलीला के) पुत्र और स्त्री के अतिरिक्त दूसरे को नहीं बतलाये जाते थे (आचार्य ने अपनी) सेवाओं से उसके पुत्र और स्त्री (को) प्रसन्न कर, उनसे पूछ कर सीख लिये। जब (आचार्य ने) सिद्धांत के पूरे मर्मों (को) जान लिया (और उनका) खण्डन करने के तरीकों पर अधिकार पा लिया, (तो उन्होंने इस बात का) परीक्षण किया कि : "अन्य शिष्यगण (कितने परिमाण में गुरु) दक्षिणा चढ़ाते हैं?" (आचार्य ने) नयी सीखी हुई विद्याओं और (उनके) शुल्क का हिसाब जोड़कर सोचा कि : "ब्राह्मण धन का लालची होता है, अतः (यदि) दक्षिणा नहीं दी जायगी तो आपत्ति होगी।" (अपने पास) उसी (कुमारलीला) के दिये हुए ५०० पण थे, और उस स्थान में वास करनेवाले किसी यक्ष से भी ७ हजार स्वर्ण मुद्राएं ग्रहण कर कुमारलीला को दीं। रुपये-पैसों से ब्राह्मणों के लिये (एक) महोत्सव का आयोजन किया और उसी रात को (आचार्य वहां से) रफू-चक्कर हो गये। वहां काककुह नामक एक बाजार था (जहां एक) राजमहल भी अवस्थित था। (आचार्य ने) द्रुमरिपुर नामक राजा के (दरबार के) फाटक पर (एक) लेखपत्र चिपका दिया (जिसमें लिखा कि :) "कौन शास्त्रार्थ करना चाहता है?" कणाद के सिद्धांत का अनुयायी कणादगुप्त ब्राह्मण और षड्दर्शन के ५०० दार्शनिकों ने एकत्र हो, तीन मास तक शास्त्रार्थ किया। (आचार्य ने) क्रमशः सभी ५०० (दार्शनिकों को) परास्त कर, बुद्धशासन में दीक्षित किया। राजा ने आदेश देकर, उनमें से ५० धनी-मानी ब्राह्मणों से एक-एक बौद्ध संस्था स्थापित कराई। यह बात कुमारलीला ने सुनी (तो वह) आग-बबूला हो गया और स्वयं ५०० ब्राह्मणों के साथ शास्त्रार्थ करने आ पहुंचा। (उसने) राजा से कहा : "यदि मेरी जय होगी, तो धर्मकीर्ति (को) मरवा डालो, (और) यदि धर्मकीर्ति की विजय

१—ग्शोन-नु-रोल-प=कुमारलीला।

होगी, तो मुझे मरवा डालो।" आचार्य बोले : "यदि कुमारलीला की विजय होगी, तो मुझे तीर्थिक (मत) में दीक्षित करे या जान से मार डाले या ताड़ित करे अथवा बाँधे, यह राजा स्वयं जानें। यदि मेरी जीत होगी, तो कुमारलीला (को) मारना नहीं चाहिए, बल्कि इसे बुद्धशासन में प्रविष्ट कराना चाहिए।" (बुद्ध) शासन की साक्षी देकर (जब) शास्त्रार्थ करने लगे, तो कुमारलीला की ५०० असाधारण प्रतिज्ञाओं का एक-एक करके (आचार्य ने) सौ-सौ प्रकार के तर्कों से खण्डन किया। कुमारलीला ने बौद्ध (धर्म) का सत्कार किया। उन ५०० ब्राह्मणों ने बुद्धशासन (को) ही यथार्थ समझा और बुद्धशासन में प्रव्रजित हुए। और भी, (आचार्य ने) निर्ग्रन्थ राहुव्रतिन्, मीमांसक भृङ्गारगुह्य, ब्राह्मण कुमारनन्द, तीर्थिक के तर्कपुंगव कणादरोरु इत्यादि और विन्ध्यपर्वत के अन्तर्गत (प्रदेश) के निवासी सभी प्रतिद्वन्द्वियों का खण्डन कर डाला। और फिर, द्रविड़ देश जाकर (उन्होंने) घोषणा की : "इस देश में (मेरे साथ) शास्त्रार्थ करने में कौन समर्थ है?" (यह सुन) अधिकांश तीर्थिक भाग खड़े हुए (और) कुछ ने शास्त्रार्थ करने में (अपना) असामर्थ्य स्वीकार किया। उस देश में (आचार्य ने) पूर्ववर्ती सब धर्मसंस्थाओं का जीर्णोद्धार किया। जब (ये) एकान्तवन में ध्यानाभ्यास कर रहे थे, (इनके पास एक) सन्देश भेजा गया कि 'श्री नालन्दा में शंकराचार्य शास्त्रार्थ करने (आए हैं)।' उन (नालन्दा के पण्डितों) ने भी आगामी वर्ष शास्त्रार्थ करने के लिये (इसे) स्थगित कर दिया। धर्मकीर्ति (को) दक्षिणा पथ से बुलाया गया। उसके बाद जब शास्त्रार्थ करने का समय आया, राजा प्रसन्न ने समस्त बौद्धों, ब्राह्मणों और तीर्थिकों (को) वाराणसी में एकत्रित किया। राजा (और) साक्षी समूह के बीच शंकराचार्य और श्रीमद् धर्मकीर्ति जब शास्त्रार्थ करने जा रहे थे, तो शंकराचार्य ने कहा : "यदि मेरी जीत होगी, तो आपलोग गंगा में डूब मरेंगे या तीर्थिक (मत) में प्रविष्ट होंगे (दोनों में से एक) चुन लें। यदि आपलोग विजयी होंगे, तो हम गंगा में डूब मरेंगे।" यह कह, शास्त्रार्थ करने पर धर्मकीर्ति ने शंकराचार्य को बार-बार पराजित किया, और अन्त में निरुत्तर कर दिया। तब शंकराचार्य गंगा में डूब मरने जा रहे थे ; आचार्य के रोकने पर भी (उसने एक) न सुनी और अपने शिष्य भट्टाचार्य से कहा : "तुम शास्त्रार्थ करो और इस मथमुण्डे को परास्त करो। परास्त न भी कर (सको) तो मैं तुम्हारे पुत्र के रूप में उत्पन्न होकर, इन बौद्धों के साथ लड़ूंगा।" (यह) कह (वह) गंगा में कूदकर मर गये। (आचार्य धर्मकीर्ति ने) उसके कितने ही शिष्य परिव्राजक प्रतिज्ञ ब्रह्मचारी बुद्धशासन में दीक्षित किये। शेष दूर-दूर भाग गये। उसके अगले वर्ष (वह) भट्टाचार्य के पुत्र रूप में पैदा हुए। भट्टाचार्य ने भी तीन वर्ष तक पुनः देवता की आराधना की। फिर तीन वर्ष तक बौद्ध सिद्धांत और (उसका) खण्डनात्मक विद्याओं पर मनन किया। सातवें वर्ष में पूर्ववत् शासन को साक्षी देकर, शास्त्रार्थ किया, तो (आचार्य ने) भट्टाचार्य को बुरी तरह परास्त किया। आचार्य के रोकने पर भी न मानकर, (वह) गंगा में कूदकर मर गया। उस (भट्टाचार्य) का ज्येष्ठ पुत्र द्वितीय भट्टाचार्य, (उसका अनुज) शंकराचार्य का अवतार और अपने ही सिद्धांत में अभिनिविष्ट ब्राह्मणगण सुदूर पूर्व दिशा की ओर भाग गये। लगभग ५०० तटस्थ ब्राह्मण (बुद्ध) शासन में प्रव्रजित हुए। लगभग ५०० (ब्राह्मण) त्रिरत्न के शरणापन्न हुए। मगध देश में पूर्ण नामक ब्राह्मण और मथुरा में पूर्णभद्र नामक ब्राह्मण हुए। वे शक्तिशाली, महाभोगवाले, तर्क में सुनिपुण और सरस्वती एवं विष्णु आदि अपने देवताओं से अधिष्ठित थे। ये भी पहले (और) पीछे शास्त्रार्थ करने आये थे, (और) आचार्य ने (अपने) तर्कों से (उन्हें) विनीत कर, बौद्ध (धर्म) में स्थापित किया। इन दोनों ब्राह्मणों ने भी मगध और मथुरा में पचास-पचास बौद्ध संस्थाओं की स्थापना की। वहाँ

(आचार्य धर्मकीर्ति की) ख्याति विश्व भर में फैल गई। तब (उन्होंने) मगध के पास मतंग ऋषि के वन में, चिरकाल तक अनेक विद्या-मंत्रों की साधना की। तब चारिका करते-करते विन्ध्यपर्वत के भीतर रहनेवाले राजा पुण्य का पुत्र उत्फुल्लपुष्प के यहां (जो) तीस लाख नगरों पर शासन करता (और) देवताओं के समकक्ष भोगवाला था, राजमहल पहुँचे, तो राजा ने पूछा : "(आप) कौन हैं?" (आचार्य ने) कहा :

"प्रतिभासम्पन्न तो दिङ्नाग हैं, चन्द्रगोमिन् का वाक्य विशुद्ध है, "काव्य की सृष्टि शूर[1] से हुई (जो) छन्द में निपुण है दिग्विजयी मैं नहीं तो कौन हूँ?" यह कहने पर (राजा ने) पूछा : "क्या (आप) धर्मकीर्ति तो नहीं हैं?" (उन्होंने) कहा : "लोक में (मैं) ऐसा ही अभिहित किया जाता हूँ।" इस राजा ने भी अनेक विहार बनवाये, जिनमें धर्मकीर्ति रहते थे। (आचार्य ने) सप्तविभाग प्रमाण शास्त्रों[2] की भी रचना की, और (यह) उदान लिखकर, राज (महल) की ड्योढी पर (चिपका दिया।)

"यदि धर्मकीर्ति का वाणी रूपी सूर्य अस्त होगा, तो
धर्म (आत्मा लोग) सुसुप्त होंगे या चल बसेंगे,
अधर्मी (लोग) पुनः जागृत होंगे।"

वहाँ (उन्होंने) दीर्घकाल तक बुद्धशासन का विकास कर, उस देश में १०,००० तक भिक्षुओं का संगठन किया और ५० धार्मिक संस्थाओं की भी स्थापना की। तब (वे) प्रत्यन्त देश गुजरात को चले गये, जहां (उन्होंने) अनेक ब्राह्मणों और तीर्थिकों (को) बुद्धशासन में दीक्षित किया (तथा) गोतपुरी नामक मन्दिर बनवाया। उस देश में तीर्थिकों का बाहुल्य था। उन (तीर्थिकों) ने आचार्य के निवास-स्थान में आग लगा दी और (जब) सर्व दिशाओं (में) आग जल उठी, तो (आचार्य ने अपने) अधिदेव और गुह्यमंत्र (का) अनुस्मरण किया (और) आकाशमार्ग से गमन कर, उस स्थान से एक योजन (दूर) उसी देश के राजा के महल के पास पहुँचे। सब आश्चर्य में पड़ गये। वर्तमान ८० सिद्धों की स्तुति को ही प्रामाणिक न मानना चाहिए, अपितु "वादिन् का खण्डन कर, आकाश (मार्ग) से गमन किया" उल्लेख भी इस आख्यान पर आश्रित जान पड़ता है। उस समय शंकराचार्य का (जो) पुनर्जन्म हुआ, वह पूर्वापेक्षा अत्यधिक प्रतिभाशाली और वाद-विवाद में कुशल (निकला)। कुम्भ के ऊपर (इष्ट) देव ने (उसे अपना) पूरा शरीर दिखलाया। १५ या १६ वर्ष (की अवस्था) में (उसने) श्रीमद् धर्मकीर्ति से शास्त्रार्थ करना चाहा और वाराणसी जा, राजा महास्यणि को सूचित कर सर्वत्र घोषणा की। वहां आचार्य (को) दक्षिण दिशा से बुलाया गया। लगभग ५००० ब्राह्मणजन, राजा आदि अपार जन (साधारण) एकत्रित हुए। पूर्ववत् शासन को साक्ष्य देकर, शास्त्रार्थ करने पर (वह फिर) बुरी तरह परास्त

१—द्पह-वो=शूर। अश्वघोष का दूसरा नाम है।

२—छद-म-स्दे-बदुन=सप्तसेन प्रमाण (शास्त्र)। ये सात प्रमाण शास्त्र हैं—प्रमाणवार्तिक, प्रमाणविनिश्चय, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, संबंध-परीक्षा, वादन्याय सन्तान्तर-सिद्धि। ये सभी ग्रंथ तिब्बती अनुवाद के रूप में सुरक्षित हैं।

हुआ, और फिर पहले की भांति रोका जाने पर भी (न मान कर) गंगा में डूब कर मर गया। वहाँ भी कितने ही ब्राह्मणों ने अपने सिद्धांत का खण्डन करना उचित समझा और (बौद्धधर्म में) प्रव्रजित हुए। कितनों ही ने उपासक (की दीक्षा ग्रहण) की। उस समय कश्मीर से विद्यासिंह नामक ब्राह्मण, देवविद्याकर और देवसिंह नामक तीन महान् ब्राह्मण आचार्यों ने श्रीमद् धर्मकीर्ति के पास आ, सच्चे हृदय से सिद्धांत पर अनेक वादानुवाद किए। धर्मकीर्ति ने भी (उन्हें) सम्यग् विद्या सिखायी। उन (लोगों) ने बौद्ध (धर्म) के प्रति अत्यन्त श्रद्धाकर, (त्रि-) शरण और पंचशील (को) ग्रहण किया। (तथा) सिद्धांत भी पढ़ा। विशेषतया सात प्रमाण (शास्त्रों का) अध्ययन करने पर (वे) प्रकाण्ड विद्वान बन गये। (फिर उन्होंने) उत्तर कश्मीर में जा, धर्मकीर्ति के तर्कमत का प्रचार किया। कहा जाता है कि मंझला (=देवविद्याकर) वाराणसी में चिरकाल तक रहा। फिर (धर्मकीर्ति) दक्षिण प्रदेश को चले गये, और (उन्होंने) उन सभी स्थानों में (जहां) बुद्धशासन का प्रचार नहीं हुआ (धर्म का प्रचार किया) और (जहां धर्म का) ह्रास हो गया था (वहाँ धर्म का जीर्णोद्धार किया तथा बुद्ध) शासन (के विकास में) विघ्न डालनेवालों का शास्त्रार्थ के द्वारा दमन किया। राजा, मंत्री आदि को धर्म द्वारा वश में लाया और (भिक्षु-) संघ और धर्म संस्थाओं का निरन्तर विकास किया। स्वयं आचार्य (के व्यय) से बनवाये गये मन्दिर ही लगभग १०० थे, और दूसरों को प्रेरित कर बनवाये गये तो संख्यातीत। कहा जाता है कि इन आचार्य की प्रेरणा से बुद्धशासन में दीक्षित हुए भिक्षु और उपासक तक के मिलाने पर (एक) लाख के लगभग थे, लेकिन अधिकांश (शिष्य) अन्यान्य उपाध्यायों (और) आचार्यों को सौंप दिये गये थे। ऐसी प्रसिद्धि है कि (इनके) धर्मसम्बन्धी शिष्य (-मण्डली) धरती (के) सभी (भागों में) फैली हुई थी, पर (वे अपने साथ) पांच से अधिक अनुचारी (शिष्य) नहीं रखते थे। (इनके) जीवन के उत्तरार्ध काल में फिर वही पिछला शंकराचार्य अगले भट्टाचार्य के पुत्र रूप में पैदा हुआ (जो) पूर्वापेक्षा अधिक अक्ल का पुतला निकला। उसका (इष्ट) देव सामने आकर, (उसे) प्रत्यक्ष रूप से विद्या सिखाता (और) कभी-कभी उसके शरीर में प्रविष्ट हो, (उसे) अपूर्व विद्या बताया करता था। लगभग १२ वर्ष (की अवस्था) में (उसने) श्रीमद् धर्मकीर्ति से शास्त्रार्थ करने की इच्छा की। इस पर ब्राह्मणों ने कहा: "कुछ समय के लिये (तुम) दूसरे से शास्त्रार्थ करो, जिससे अवश्य (तुम्हारी) विजय होगी (अन्यथा) धर्मकीर्ति (को) पराजित करना दुष्कर है।" पर, (वह यह) कह दक्षिण प्रदेश को चला गया कि: "यदि (मैं) उससे जीत न सकूं, तो वाद को ख्याति न पा सकूं।" जो विजयी होगा उसके शासन में दूसरे (को) प्रविष्ट किये जाने (की शर्त) पर शास्त्रार्थ हुए, तो श्रीमद् धर्मकीर्ति विजयी हुए और (उन्होंने) उसे बुद्धशासन में दीक्षित किया। दक्षिण प्रदेश में यह खबर फैली कि (एक) उपासक आचारनिष्ट ब्राह्मण बुद्धशासन का सत्कार करता है। उसके द्वारा स्थापित मन्दिर अब भी विद्यमान हैं। कालान्तर में (धर्मकीर्ति ने) कलिंग देश में (एक) विहार बनवाया और अनेक जनों (को) धर्म में स्थापित कर, (नश्वर) शरीर (को) छोड़ दिया। सब्रह्मचारियों द्वारा दाह-क्रिया सम्पन्न किये जाने पर श्मशान में पुष्प की बड़ी वृष्टि हुई। सात दिनों तक सभी दिशाओं (में) सुगंध फैलती रही और वाद्यसंगीत (का शब्द गूंजता रहा)। समूचा अस्थिमय शरीर एक कांच के समान पिण्ड-पत्थर के रूप में परिणत हो गया, अस्थि का रूप एकदम नहीं रहा। आज भी (उनकी स्मृति में) पूजोत्सव होता है। कहा जाता है कि ये आचार्य तिब्बत के राजा स्रोङ-ब्चन-स्गम-पो (६१७ ई०) के समकालीन हैं, जो युक्तियुक्त भी जान पड़ता है। तिब्बती इतिहास के अनुसार जब (धर्मकीर्ति) सप्तसेन की रचना कर रहे थे, तो तरकारी में चिरायता डाल कर खिलाये जाने पर भी (उन्हें) अनुभव नहीं हुआ था, क्योंकि (उनका)

चित ग्रन्थ-विषय पर केन्द्रित था। रचना समाप्त होने पर राजा ने (इसका कारण) पूछा तो (उन्होंने) कहा: "राजन्, आप किसी दण्डनीय व्यक्ति (को) श्वेतवस्त्र पहनावें और तेल से भरे (एक) खप्पर में कालिख लगवाकर, (उनके) हाथ में रखवा दें (तथा) कह दें कि थोड़ा सा (तेल) गिराये या (वस्त्र पर) लग जाय, तो प्राण-दण्ड दिया जायगा, (और किसी) तलवार धारण किये हुए (को) पीछे-पीछे चलता हुआ दरबार (के चारों ओर) चक्कर लगवावें। (तथा) राजमहल के चारों ओर गायक और वादक गाते-बजाते रहें।" ऐसा ही किया गया, और अन्त में (उस व्यक्ति से) पूछे जाने पर उसने कहा: "नाच-गान आदि का कुछ भी (मुझे) पता नहीं चला, क्योंकि (मेरा मन) उन (तेल और कालिख) पर सावधान था। लेकिन, लगता है कि (यह कथा बोधि) चर्यावतार[1] के पद पर आश्रित होकर सत्य (साबित करने के प्रयास) में कही गयी है। सप्तसेन (प्रमाणशास्त्रों) की रचना तो अपनी बुद्धि (को) वासित करने के लिये और शिष्यों के अनुरोध पर विहार में की गयी थी। पर राजा के सन्देश लिपिकर द्वारा लिखाये जाने की भाँति दरबार के एक भाग में (बैठ कर) लिखा नहीं गया। कहा जाता है कि (धर्मकीर्ति) सुव्यक्त बुद्धि के होने से दस प्रतिवादियों का (प्रश्न) उत्तर एक ही समय दे सकते थे। (फिर यदि) ग्रन्थ-विषय (पर) चिन्तन करते समय दूसरे (विषय) का ज्ञान न होना, तो मंदबुद्धिवाले से अन्तर ही क्या है? यही नहीं, यह कथा सर्वथा प्रमाणहीन भी जान पड़ती है। सप्तसेन की रचना समाप्त होने पर पण्डितों में (ग्रन्थों का) वितरण किया गया। अधिकांश (पण्डितों) की समझ में नहीं आया। कुछ (पण्डितों) ने समझ तो लिया, पर ईर्ष्यावश (ग्रन्थों को) अनुपयुक्त बताकर, कुत्ते की दुम में बांध दिया। (इस पर धर्मकीर्ति ने) कहा: "(जिस प्रकार) कुत्ता सभी गलियों में घूमता-फिरता है, उसी प्रकार मेरे शास्त्रों का भी सब दिशाओं में विस्तार होगा।" ग्रन्थ के आरम्भ में "प्रायः लोग प्राकृत में आसक्त[2]" आदि एक श्लोक जोड़ दिया गया है। पश्चात् (धर्मकीर्ति ने) आचार्य देवेन्द्रमति (६५० ई०) और शाक्यमति (६७५ ई०) को सप्तसेन भली-भाँति पढाये और स्वटीका की पंजिका? लिखने के लिये देवेन्द्रबुद्धि को उत्साहित किया। (उन्होंने) पहली बार रचकर दिखलायी, तो (धर्मकीर्ति ने) पानी में धुला दिया। (दूसरी बार)

---

१ तैलपात्रधरो यद्वदसिहस्तैरधिष्ठितः।
स्खलिते मरणत्रासात् तत्परः स्यात् तथा व्रती ॥७०॥

अर्थात् तैल-पात्रधारी (व्यक्ति), तलवार खींचे हुए पुरुषों के बीच, (तैल) गिरने से मृत्यु होगी--इस भय से, जिस तरह सावधान रहता है, उसी तरह व्रती को तत्पर रहना चाहिये।

२ प्रायः प्राकृतसक्तिरप्रतिबलप्रज्ञो जनः केवलं,
नानर्थ्येव सुभाषितैः परिगतो विद्वेष्ट्यपीर्ष्यामलैः।
तेनायं न परोपकार इति नश्चिन्तापि चेत (श्चिरं),
सूक्ताभ्यासविवर्द्धित व्यसनमित्यत्रानुबद्धस्पृहम् ॥२॥

अर्थात् प्रायः लोग प्राकृत विषयों में आसक्त हों, और प्रज्ञाबल के अभाव में, न केवल सुभाषितों के प्रति अरुचि रखते हैं, अपितु ईर्ष्या-मलों के कारण द्वेष भी करते हैं। अतः मुझे इस बात की चिन्ता भी नहीं है कि इससे परोपकार होनेवाला है। फिर भी चिरकाल तक सूक्तियों का अभ्यास करने में तत्पर होने से मेरा चित्त इस ग्रंथ के प्रणयन करने की इच्छा कर रहा है।

लिखी तो आग में जला दी। फिर से रचनाकर, (ग्रन्थ के आरम्भ में) यह लिखकर दिखलाया : "प्रायः भाग्य में ही न होने से तथा, समय के भी अभाव में, (अपने) अभ्यासार्थ संक्षेप में, यह पंजिका [1] यहाँ लिख रहा हूँ।" (धर्मकीर्ति ने) कहा : "परोक्ष ढंग से सूचित किये गये तथ्यों के अर्थ ठीक नहीं हुए ; (किन्तु) प्रत्यक्ष रूप से प्रतिपादित (तथ्यों के) अर्थ ठीक हैं। कहा जाता है कि (उन्होंने यह) सोचकर कि: "मेरी इस विद्या (को) पूर्णरूपेण कोई नहीं जानता।" और (प्रमाण) वार्त्तिक के अन्त में (यह) पद्य लिखा है : "समुद्र में नदी की भांति (मेरी यह विद्या) अपनी ही देह में लीन होकर डूब जायगी।" कुछ (लोगों) का कहना है कि देवेन्द्रबुद्धि के शिष्य शाक्यबुद्धि हैं और (यह कथन) युक्तियुक्त है कि उन्होंने टीका लिखी है। कहा जाता है कि उनके शिष्य प्रभबुद्धि हैं। कुछ (लोगों) का कहना है कि यमारि (७५० ई०) धर्मकीर्ति के साक्षात् शिष्य हैं और (कुछ लोगों का) मत है कि अलंकार पण्डित (उनके) साक्षात् शिष्य हैं तथा (धर्मकीर्त्ति के) शव से उपदेश ग्रहण करना आदि (कथा) समय के प्रतिकूल बकवाद हैं। फिर (यह भी) कहा जाता है कि धर्मकीर्ति ने १७ बार विजयडिंडिम बजाया, पर बौद्ध भिक्षु (के द्वारा) विजयडिंडिम बजाने का रिवाज नहीं है। कहा जाता है कि (किसी) शूली नामक निर्ग्रन्थ के आकर, (यह) कहने पर कि : "शास्त्रार्थ में जो परास्त होगा इस शूल से मार दिया जायगा' धर्मकीर्ति ने शास्त्रार्थ नहीं किया, देवेन्द्र ने (उस निर्ग्रन्थ को) परास्त किया। पर, निर्ग्रन्थ स्वयं अपने सिद्धान्त के विरुद्ध आचरण करता है (फिर) प्रतिवादी का खण्डन करने की इच्छा करना उचित नहीं है। विद्वानों में सर्वथा अप्रचलित कथा, इतिहास की दुर्लभता (से ग्रस्त) होकर किये गये (यह) कथन निराधार हैं! अतएव उन षडलंकारों में से नागार्जुन, असंग (और) दिग्नाग—(ये) तीन ग्रन्थकार हैं और आर्यदेव, वसुबन्धु (और) धर्मकीर्ति टीकाकार हैं। उन्होंने अपने-अपने समय में (बुद्ध) शासन का विकास करने में समान योगदान दिया, इसलिये (ये) षडलंकार (के नाम) से प्रसिद्ध हुए। शंकरानन्द (८०० ई०) ब्राह्मण का प्रादुर्भाव कालान्तर में हुआ, इसलिये (इसे) धर्मकीर्त्ति (६०० ई०) का साक्षात् शिष्य कहना नितान्त भ्रामक है। उस समय सिद्धयोगियों (में) महान आचार्य कम्बल, इन्द्रभूति द्वितीय, कुक्कुराज, आचार्य सरोजवज्र और ललितवज्र, स्थूल हिसाब से समकालीन थे। पद्मवज्र नामक अनेक हुए, पर तत्कालीन सरोज मध्यवाले ही हैं। सरोज के पर्याय शब्दवाले अनेक हुए, जिन में से (ये) सरोरुह हैं। (जो) आचार्य कुकुराज के नाम से प्रसिद्ध या किसी-किसी इतिहास में कुत्ताराज से वर्णित हैं, वह पूर्वकालीन योगियों में सुविख्यात थे। वे दिन में कुत्ते के रूपवाले एक हजार योगी-योगिनियों को धर्म की देशना करते और रात को उनके साथ श्मशानी क्षेत्रों में जाकर, गणचक्र आदि समयाचरण करते थे। इस प्रकार बारह वर्षों तक आचरण करने पर अन्त में (उन्हें) महामुद्रा की सिद्धि प्राप्त हुई। उन्होंने पांच आध्यात्मिक-तंत्रों [2] और योग-तंत्र की अनेक व्याख्या की। कहा जाता है कि उन्होने चन्द्रगुह्यविन्दुतन्त्र के द्वारा सिद्धि प्राप्त की।

१—ड्रुह-ह्ग्रेल=पंजिका। त० १३०-१३१।

२—नङ-र्ग्युद-स्दे ल्ङ=पाँच आध्यात्मिक-तंत्र। ये हैं—गुह्यसमाज, मायाजाल, बुद्धसमयोग, चन्द्रगुह्यतिलक और मंजुश्रीकोष।

आचार्य ललितवज्र, नालन्दा के पण्डित थे। (उन्होंने) वैरोचनमाया जालतंत्र के द्वारा आर्य मंजुश्री (की) इष्टदेव के रूप में साधना की। अपने आचार्य से वज्र भैरव[1] आदि नामक (देवताओं) की साधना (के विषय में) पूछने पर (आचार्य ने) कहा: "ये (ग्रंथ) मनुष्य लोक में प्राप्य नहीं हैं, अतः इसकी जानकारी मुझे नहीं है। एतदर्थ इष्टदेव की साधना करो।" यह कहने पर उन्होंने आर्य मंजुश्री की एकाग्रचित्त से साधना की। लगभग २० वर्ष (बीतने) पर (इष्टदेव ने) दर्शन देकर, (उसके) हृदय (को) अधिष्ठित किया। कुछ साधारण सिद्धियाँ भी मिलीं। "उद्यान देश के धर्मगंज से यमारितंत्र[2] लाओ।" ऐसा भी व्याकरण हुआ था, अतः (वे) उद्यान को चल पड़े। (वहां) कुछ तार्थिक योगियों से शक्ति की प्रतियोगिता हुई। उस (तीर्थिक) के दृष्टिपात करने पर आचार्य मूर्छित हो गये। मूर्छा टूटने पर (उन्होंने) वज्रयोगिनी से प्रार्थना की, तो वज्रवेताला ने साक्षात् दर्शन देकर, यमारिमण्डल का अभिषेक किया। वहाँ चतुर्योग निष्पन्नक्रम सहित भावना करने पर साढे चार मास में महान् सिद्धि प्राप्ति का शकुन प्रकट हुआ, और (उन्होंने) क्रूर जंगली भैंसे (को) वश में ला, (उस पर) सवार हो, विद्याव्रत का आचरण भी किया। तब (उन्हें) भावी सत्त्वों के हित के लिये उद्यान देश के धर्मगंज से यमारि आदि तन्त्र लाने की इच्छा हुई, तो डाकिनियों ने कहा: "सात दिनों में जितनी (पुस्तकें) हृदयंगम कर सकोगे उतनी (ले जाने की) अनुमति दी जायगी।" ऐसा कहने पर (उन्होंने) अधिदेव से प्रार्थना की। फलतः सर्वतथागतकाय-वाक-चित्त कृष्ण यमारितंत्र, त्रिकल्पिक, सप्तकल्पिक, धारणी, तंत्र तथा अनेक विविध कल्पक्रम (की पुस्तकें) सहित हृदयंगम कर लीं। जम्बूद्वीप में (इनका) विशेषरूप से प्रचार किया। जब पश्चिमदिशा के देश में तीर्थिक के नरवर्मन नामक (किसी) छोटे-मोटे शासक के यहां तीर्थिकों से शक्ति की प्रतियोगिता हुई, तो कुछ प्रमुख-प्रमुख तार्थिकों ने एक-एक द्राण विष खाया। आचार्य के द्वारा दस व्यक्तियों के बोझ के बराबर विष खाकर, दो बर्तन पारा पी लेने पर भी कोई हानि न हुई, तो उक्त राजा (को आचार्य के प्रति) अगाध श्रद्धा उत्पन्न हुई, और बौद्ध (धर्म) में दीक्षा ले, (इसने) मंजुघोष का मन्दिर बनवाया। हस्तिनपुर नगरी में यमारि (का धर्म) चक्र एक ही दिन प्रवर्तन करने के फलस्वरूप एक तीर्थिक मंत्रिन का सम्प्रदाय नष्ट हो गया। पूर्व दिशा (में) वारेन्द्र के भाग भंगल नामक (स्थान) में विक्रीड नामक नाग (रहता था जो) बौद्धों का बड़ा अनिष्ट करता था। इसका भी (आचार्य ने) हवन द्वारा दमन किया और तत्क्षण नागों का वासस्थान समुद्र भी सूख गया। (बुद्ध) शासन के प्रति विद्वेष करनेवाले हजारों तीर्थिक और फारसियों का दमन किया। लगभग ५०० दुष्ट अमनुष्यों का दमन किया और मुख्यतः अभिचारकर्म के द्वारा जगत का हित किया। अन्त में ज्योतिर्मय शरीर को प्राप्त हुए। इनके शिष्य लीलावज्र ने आचार्य के उपदेश लिपिबद्ध किये, और यमान्तकोदय[3] और शान्तिक्रोधविक्रीड़ित[4] आदि (ग्रन्थों) का प्रणयन महान् लीलावज्र ने किया। कम्बल, ललितवज्र और इन्द्रभूति द्वारा चमत्कार-प्रतियोगिता किये जाने का उल्लेख भी मिलता है। अर्थात् कम्बल और ललितवज्र

१—र्दो-र्जे-ह्जिगस्-ब्येद=वज्रभैरव। त० ६७।

२—गृशिन-र्जे-गृशेद-ग्र्यूद=यमारितंत्र। त० ६७।

३—गृशिन-र्जे-गृशेद्-ह्ब्युङ्-व=यमान्तकोदय। त० ६७।

४—शि-खो-र्नम-रोल=शान्तिक्रोधविक्रीड़ित।

की सिद्धिप्राप्ति के अनन्तर (वे) पश्चिमदिशा के उद्यानदेश को चल पड़े। (मार्ग में) मुरुण्डक नामक एक दुर्गम पहाड़ पड़ता था। दोनों आचार्यों में बात-चीत हुई कि : "हम दोनों में से किसकी ऋद्धि द्वारा (पहाड़ को) पार करें।" ललितवज्र ने कहा : "इस बार मेरी ऋद्धि के द्वारा पार करें और फिर लौटते समय तुम्हारी ऋद्धि की शक्ति से।" ललितवज्र ने अपने (को) यमारि के रूप मे परिणत किया (और अपने) चिह्नस्वरूप तलवार से उस पहाड़ को चोटी से चरण तक चीर डाला। उस मे एक सकीर्ण पथ (बन गया और वे उस पर) से चल पड़े, और फिर पहाड़ पूर्ववत् हो गया। जिस समय उद्यान देश में इन्द्रभूति (को) साधारण सिद्धि प्राप्त हुई उस समय ललितवज्र नामक किसी सिद्धाचार्य के आगमन की (खबर) सुनकर, राजा (अपने) जनसमुदाय के साथ (उनका) स्वागत करने आया। आचार्य के दोनों पैर दबाते समय प्रत्येक पैर को दो-दो हाथों से दबाना पड़ता था। अतः राजा ने चार हाथ निर्मित्त कर मलना (शुरू) किया। आचार्य ने चार पैर निर्मित्त किये, तो राजा ने आठ हाथ। आचार्य ने आठ निर्मित्त किये, तो राजा ने सोलह। आचार्य ने सोलह निर्मित्त किये, तो राजा ने सोलह भुजाओंवाले देवता की भावना (में सिद्धि मिली है या नहीं इसकी) परीक्षा की; पर उससे अधिक निर्मित्त करने में असमर्थ हुआ और एक-एक (हाथ) से दबाने लगा। तब आचार्य ने सौ पैर तक निर्मित्त कर, राजा का अभिमान चूर कर दिया। अनन्तर जब फिर आचार्य कम्बल और ललित पूर्वदिशा को लौट रहे थे, तो मुरुण्डक पर्वत के चरण में एक रात प्रवास किया। कम्बल पाद ने कहा : "पहाड़ बहुत विशाल है, अतः (हम) कल प्रातः चलेंगे।" अर्द्धरात्रि बीतने पर समाधि के बल से उन्होंने पहाड़ (को) हटा दिया और एक सुखद मैदान पर से आये। पौ फटने पर ललितवज्र ने पीछे मुड़कर देखा, तो पहाड़ पार कर गये थे, और आश्चर्य में पड़कर कम्बलपाद की वन्दना की, ऐसा कहा जाता है। आर्य देश के प्रसिद्ध इतिवृत्त के अनुसार योगेश्वर विरूपा के द्वारा यमान्तक की भावना करने पर वज्रवाराही की अनुकम्पा से (उन्हें) सिद्धि मिली। वैसे तो (वे) यमान्तक के समकक्ष महान् योगेश्वर बन जाने से समस्त तन्त्रों की देशना कर सकते थे, लेकिन सिद्धों की (यह) विशेषता है कि (वे अपने) साक्षात् विनेयों के अधिकार के अनुसार देशना करते थे। अतः (उन्होंने) रक्तयमारि-तंत्र[1] लाकर स्वय भगवान से उपदेश लेते हुए साधना की और उपदेशों (को) लिपिबद्ध किया। उनके शिष्य डोम्भि-हेरुक ने कुरुकुल्लीकल्प और आरालि-तंत्र का आवाहन किया। (वे) तंत्रों के अर्थ अभिज्ञा से जानते थे। (उन्होंने) ज्ञानडाकिनियों से वार्तालाप कर, हेवज्रतंत्रगर्भ ग्रहण कर, नैरात्मासाधन[2], सहजसिद्धि[3] आदि अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया, और शिष्यों को अभिषिक्त भी किया। तब आचार्य कम्बलपाद और सरोजवज्र हेवज्रतन्त्र लाये और कम्बलपाद ने स्वसंवेदप्रश्न नामक शास्त्र का प्रणयन किया, जो प्रधानतया निष्पन्नक्रम का प्रतिपादन करता है। सरोजवज्र ने उत्पन्नक्रम-साधन आदि अनेक (ग्रन्थों की) रचना की। (जो) हेवज्रपितृसाधन[4] का सर्वप्रथम (प्रकाशन) हुआ (वह) सरोज साधन (के नाम) से प्रसिद्ध हुआ और आरालि तंत्र का आवाहन किया।

१—ग्शिन-र्जे-ग्शेद-द्मर-पोहि-र्ग्युद = रक्तयमारि-तंत्र। त० ६७।

२—ब्दग-मेद-महि-स्ग्रुब-थबस् = नैरात्मासाधन। त०। ५७।

३—ल्हन-चिग-स्क्येस्-ग्रुब = सहजसिद्धि। त० ६९।

४—द्ग्येस-र्दोर-यब-क्यि-स्ग्रुब-थबस् = हेवज्रपितृसाधन। त० ८०।

(वे) तंत्रों के अर्थ अभिज्ञा से जानते थे। (उन्होंने) ज्ञानडाकिनिय से वार्तालाप कर, हेवज्रतत्रगर्भ ग्रहण कर, नैरात्म्यसाधन, सहजसिद्धि आदि अनेक ग्रथों का प्रणयन किया, और शिष्यों को अभिषिक्त भी किया। तब आचार्य कम्बलपाद और सरोजवज्र हेवज्रतत्र लाये, और कम्बलपाद ने स्वसंवेदप्रकृत नामक शास्त्र का प्रणयन किया, जो प्रधानतया निष्पन्नक्रम का प्रतिपादन करता है। सरोजवज्र ने उत्पन्नक्रम-साधन आदि अनेक (ग्रंथों की) रचना की। (जो) हेवापितृ-साधन का सर्वप्रथम (प्रकाशन) हुआ (वह) सरोजसाधन (के नाम) से प्रसिद्ध हुआ।

पूर्वदिशा के महान् आचार्य माध्यमिक श्रीगुप्त का जीवन चरित्र भी स्पष्टतः देखने-सुनने को नहीं मिला। उस समय दक्षिणप्रदेश में कमलगोमिन् नामक अवलोकित के एक सिद्ध हुए। अर्थात् दक्षिणदिशा के किसी विहार में, एक त्रिपिटक (धर) भिक्षु रहते थे जो महायान के ध्यानी थे। (उनका) सेवक उपासक कमलगोमिन् था। पहले जब कमलगोमिन् (बुद्ध) शासन में प्रविष्ट नहीं हुआ था, और कर्म-फल से अपरिचित था, (उसे) किसी विहार के द्वार पर से अक्षरांकित एक रजत-पत्र मिला था। (उसने) वह लेकर नगर की किसी गणिका को दे दिया। अनन्तर जब उसके वह आचार्य भिक्षु खूब-सवेरे पिण्डपात करके, भीतर से द्वार बन्द कर, संध्या तक द्वार नहीं खोलते थे, तो किसी समय उस उपासक ने पूछा : "(आप) प्रातः काल से सन्ध्या तक द्वार बन्द कर क्यों बैठे रहते हैं ?" (उन्होंने) कहा : "पुत्र, यह पूछ कर क्या करोगे ?" (उसने) कहा : "(आप) जिस योग की साधना करते हैं मैं भी ग्रहण कर (उसकी) भावना करूंगा।" (उन्होंने) कहा : "पुत्र, मुझे और किसी योग का (अभ्यास) करना नहीं है, पोतलगिरि जाकर, आर्यावलोकित से धर्म श्रवण कर, फिर यहां लौटकर द्वार खोलता हूं।" (उसने) निवेदन किया : "अच्छा, तो मुझे भी (अपने साथ) ले चलें।" (उन्होंने) कहा : "(मैं) आर्य से पूछ कर आता हूं।" कल प्रातः आचार्य के वापस आने पर (उसने) पूछा, तो आचार्य कुछ क्रोधित होकर बोले : "पुत्र, तुमने मुझे भी पापीदूत बना दिया है।" (उसने) पूछाः "क्या (बात) है ?" (उन्होंने) कहा : "मैंने आर्य से पूछा, तो (उन्होंने) कहा कि तुम ऐसे पापी का सन्देश मत लाना। तुमने आर्या प्रज्ञापारमिता की रजतनिर्मित पुस्तक (को) नष्ट किया है। अतः तुम्हें पोतल जाने का अधिकार नहीं है।" ऐसा कहने पर (उसे) वह अक्षरांकित रजत-पत्र याद आया, जो पहले (किसी विहार के द्वार पर से) मिला था। (वह अपने) पाप-कर्म पर अत्यन्त भयभीत हो उठा, और आचार्य से निवेदन किया कि आर्य से पाप-मोचन का उपाय पूछें। प्रातः उन्होंने भी आर्य से पूछा। अवलोकित ने एक रहस्यपूर्ण साधना प्रदान की और आचार्य ने उक्त उपासक को दी। उसने किसी एकान्त वन में एकाग्र (चित्त) से साधना की। लगभग १२ वर्ष बीतने पर (जब) एक कौआ एक ओदन-पिण्ड खाने की इच्छा से पेड़ पर (बैठा ही) था कि (वह पिण्ड) कमलगोमिन् के सामने गिरा। पहले १२ वर्षों तक मनुष्य का आहार अधिक नहीं खाने के कारण (उसे) वह ओदन खाने की इच्छा हुई। ओदन में आसक्त चित्त की प्रबलता से (वह) नगर में भिक्षाटन करने गया, तो दैवयोग से कुछ दिनों तक (कुछ) नहीं मिला। तब जो थोडी-बहुत (भिक्षा) मिली उसे एक खपड़े के टुकड़े में रख, जंगल में ले गया। (वहां उसने) अपने स्वभाव की परीक्षा की, तो ओदन में आसक्तचित्त की निःस्वभावता देख, (उसे) तत्व का ज्ञान स्पष्ट रूप से हुआ, और सपरिवार आर्यावलोकित (को) अपने पास देदीप्यमान विराजमान पाया। (उसने) वहीं खपड़े के टुकड़े (को) ओदन सहित जमीन पर पटक दिया, तो भूकम्प हुआ। खण्डित खपड़े का एक कण नागराज वासुकी के शीर्ष पर जा गिरा, और जांच

करने पर ऐसी घटना होने का पता चला। नागराज वासुकी की कन्या अपने पांच सौ अनुचरों के साथ उत्तम-उत्तम खाद्य लिये (उनकी) पूजा करने आयी, लेकिन (कमलगोमिन्) आहार की आसक्ति का परित्याग कर पीछे की ओर मुड़ कर बैठे। अनन्तर नागों के दमनार्थ (वे) नागलोक भी गये। मनुष्यलोक में भी विपुल जगत् हित का सम्पादन कर, अन्त में पोतलगिरि को चल पड़े। श्रीमद् धर्मकीर्ति के समय में घटी २६वीं कथा (समाप्त)।

(२७) राजा गोविचन्द्र आदिकालीन कथाएं।

उसके अनन्तर विष्णुराज की मृत्यु हुई, आविर्भाव और मालवा के किसी प्राचीन राजा के अविच्छेद राजवंश में राजा भर्तृहरि का अविर्भाव हुआ। उस राजा की एक भगिनी को विमलचन्द्र से व्याह दिया गया, जिससे गोविचन्द्र पैदा हुआ। धर्मकीर्ति की निधन के कुछ ही समय बाद उसके भी राज्याभिषेक का समय निकट आया। इन दोनों राजाओं को सिद्ध जालन्धरपा और आचार्य कृष्णचारिन् के द्वारा विनीत कर सिद्धि मिलने का वर्णन अन्यत्र उपलब्ध है। उस समय सिद्ध तंतिपा भी प्रादुर्भूत हुए। वे मालव देश के अवन्ती नामक नगर (के रहनेवाले थे)। जाति के बुनकर (होने से) दीर्घकाल तक बुनाई से (अपना) जीवन निर्वाह करते रहे। उनके अनेक पुत्र-पौत्र भी थे। (अतः) बुनकर जाति की खूब वृद्धि हुई। किसी समय जब बुढ़ापे ने उन्हें किसी काम-काज के करने में अशक्त कर दिया, तो (उनके) पुत्र बारी-बारी से (उनका) भरण-पोषण करने लगे। किसी समय जब (तंतिपा) सभी लोगों के निन्दापात्र बन गये, तो पुत्रों ने कहा: "(हमलोग आपको) जीविका से कष्ट नहीं होने देंगे, (आप) किसी एकान्त में वास करें।" यह कह ज्येष्ठ पुत्र ने (अपने) उद्यान की बगल में एक छोटी-सी कुटिया बनाकर, (पिता को उसमें) रहने दिया। (सब) पुत्र अपने-अपने घर से बारी-बारी करके, भोजन पहुंचाया करते थे। वहां एक बार सिद्ध जालन्धरपाद (एक) साधारण योगी के रूप में आये। (उन्होंने) बुनकर के ज्येष्ठ पुत्र से वासस्थान मांगा, तो उसने थोड़ा-बहुत (अतिथि) सत्कार के साथ उस उद्यान में पहुँचा दिया। सन्ध्या समय दीप के जलने से किसी यात्री (के आगमन की बात) वृद्ध को मालूम हुई। प्रातःकाल (वृद्ध ने) पूछा: "वहां कौन है ?" उन्होंने कहा: "मैं एक मार्गगामी योगी हूं (और) आप कौन हैं ?" उसने कहा: "(मैं) इन बुनकरों का बाप हूं; वृद्ध हो जाने के कारण अन्यलोगों (के सामने) प्रकट होने के योग्य न रह गया हूं, (अतः) यहां छिपाया गया हूं। आप योगियों का हृदय परिशुद्ध होता है, अतः मुझे आशीर्वाद दें।" (ऐसा) कहने पर आचार्य ने भी उसे अधिकारी जान, तत्क्षण मण्डल निर्मित कर, अभिषिक्त किया और गहन अभिप्राय के थोड़ा-बहुत उपदेश देकर चले गये। वृद्ध ने भी गुरु के उपदेश की एकाग्र (चित्त) से भावना की, तो कुछ वर्ष बीतने पर भट्टारिका वज्रयोगिनी ने साक्षात् प्रकट होकर, (उसके) शीर्ष पर हाथ रखा ही था कि (उसे) महामुद्रा परमसिद्धि मिली। लेकिन, (वह) कुछ समय के लिये गुप्तरूप में रहे। एक दिन ज्येष्ठ पुत्र के घर में बहुत से अतिथि आये, और दिन में व्यस्त रहने से बाप को भोजन पहुंचाना भूल गया। सन्ध्या समय (उसे) याद आई और एक दासी को खाना पहुंचाने भेजा, तो उद्यान में वाद्य-संगीत की ध्वनि गूंज रही थी। आखिर पता लगाने पर (वह शब्द) उस छोटी-सी कुटिया (से आ रहा) था। (उसने) दरवाजे की दरार से झांका, तो वृद्ध के शरीर से प्रकाश फैल रहा था और देवी-देवताओं

के १२ परिकरों द्वारा (उसकी) आराधना की जा रही थी। कहा जाता है कि द्वार खोलते ही (सब) अन्तर्धान हो गये। तब (लोगों को) विदित हुआ कि (उन्हें) सिद्धि प्राप्त हुई है। पूछने पर भी (उन्होंने) स्वीकार नहीं किया और कहा: "किसी योगी के द्वारा आशीर्वाद देने से (मेरा) शरीर पुष्ट हो गया है।" यह कह, फिर (वे) बुनाई का काम करने और गायन करने (रहने लगे) थे। इस बीच कृष्ण चारित से भेंट होने का विवरण है जो अन्यत्र उपलब्ध है। एक बार ग्रामीण लोग उमा आदि मातृकाओं के पूजनार्थ हजारों बकरों का वध करने लगे, तो उन आचार्य के द्वारा बकरों को अभिमन्त्रित किये जाने से सभी (बकरे) शृगाल के रूप में बदल गये। लोगों (को) सन्देह उत्पन्न हुआ और लौट गये। (आचार्य ने) उमा की मूर्ति के ऊपर गिर जाने का बहाना किया, तो उसने (अपना) असली रूप प्रकट कर पूछा: "सिद्धे, (आप) क्या चाहते हैं?" (उन्होंने) प्राणातिपात से की गई पूजा ग्रहण न करने की आज्ञा दी। आज तक (उसकी) पूजा त्रिगोरस[1] से की जाती है। तत्पश्चात् (आचार्य) अनेक वज्रगीति गाकर, अज्ञात (दिशा) में चले गये। तत्पश्चात् गोविचन्द्र के चचेरे भाई ललितचन्द्र ने राज्य किया। (उसने) वर्षों सुखपूर्वक (राज्य का) संरक्षण किया। कृष्ण चारित ने (अपने) जीवन के उत्तरार्ध काल में (उसको) विनीत किया और राजा तथा मंत्री ने सिद्धि प्राप्त की। इस प्रकार ललितचन्द्र का आविर्भाव चन्द्रवंशीय राजाओं के अन्त में हुआ। उसके बाद से (यद्यपि) चन्द्रवंशीय (राजाओं के) अनेक राजवंश हुए, तथापि (किसी का) राज्यारोहण नहीं हुआ। भंगल, ओडिविश आदि पूर्वदिशा के पाच प्रदेशों में क्षत्रिय, मंत्री, ब्राह्मण और महा-श्रेष्ठीगण अपने-अपने घर के शासक बने, और राष्ट्र पर शासन करनेवाला राजा नहीं हुआ। उस समय सिद्धराज महजविलास और श्री नालन्दा में आचार्य विनीत देव (७७५ ई०) हुए। उन्होंने सप्त प्रमाण (शास्त्रों) पर टीकाएं लिखीं। सौत्रान्तिक शुभमित्र, आचार्य शीलपालित, शान्तिसोम इत्यादि का प्रादुर्भाव हुआ, (जिन्होंने) विज्ञान (वाद) के सिद्धान्त को मूलतः मानते हुए सूत्रान्त तथा विनय का प्रचार किया। प्रज्ञापार-मितानवम नामक शास्त्र के प्रणेता आचार्य कम्बलपाद और श्रीगुप्त के शिष्य महान् आचार्य ज्ञानगर्भ प्रभृति ने अभाव माध्यमिकनय (को) अंगीकृत किया। पूर्व दिशा भंगल के अन्तर्गत हाजीपुर में उपासक भदन्त अस्वभाव ने जाकर, विज्ञान (वादी) माध्यमिक का सविस्तर व्याख्यान किया। तुखार देश में वैभाषिक आचार्य महान् विनयधर धर्ममित्र हुए। पश्चिम दिशा के मरुदेश में महा विनयधर पुण्यकीर्ति, चितवरदेश में विनयधर शांतिप्रभ और काश्मीर में विनयधर मातृचेट का आविर्भाव हुआ। इन में अन्य (आचार्यों का) विस्तृत जीवन-वृत्त देखने को नहीं मिला।

आचार्य ज्ञानगर्भ का जन्म ओडिविश में हुआ था। वहां महापण्डित बनने पर भंगल देश में आचार्य श्रीगुप्त से धर्म श्रवण किया, और भव्य के अनुयायी महान् माध्यमिक (के नाम) से प्रसिद्ध हुए। इन्होंने आर्यावलोकितेश्वर की चिरकाल तक साधना की। अन्त में चिन्तामणि चक्रवर्ती के दर्शन हो, अभिज्ञान्वित हुए। अनेक सूत्रों का मौखिक रूप से पाठ करते (और) तीर्थिकों (को) पराजित करते थे।

उपासक भदन्त अस्वभाव का जन्म वैश्यकुल में हुआ था। (वे) कौमार्य (अवस्था) से ही महायान के प्रति श्रद्धा रखते और आर्य मंजुश्री के दर्शन-प्राप्त (थे)। लगभग पचास सूत्रों की आवृत्ति करते, नित्य समय दश-धर्माचरणों का पालन करते और १,०००

१—द्कर-ग्सुम=त्रिगोरस। दही, दूध और मक्खन को कहते हैं।

उपासकों तथा उतनी ही (संख्या में) उपासिकाओं को धर्म (की) देशना करते थे। जब वे एक बार कामरूप की ओर गये, तो उनके शिष्य (अनजान में) अजगर के बिल पर चले गये थे। (पर संयोगवश) कुछ समय तक सर्प की नींद नहीं टूटी। (वे लोग) एक मार्ग में प्रवास कर रहे थे, तो सर्प की नींद टूटी और मनुष्य की गंध पाने पर (उसने) आकर कुछ उपासकों (को) निगल डाला (तथा) बहुत से (लोगों) को काट लिया। जो भागने की कोशिश कर रहे थे, वे भी (सर्प के) मुंह के विषैले भाप से चक्कर खाकर गिर पड़े। (आचार्य के द्वारा) भट्टारिका आर्यातारा का स्मरण करते हुए (उनकी) स्तुति करने पर सर्प को बहुत वेदना हुई और दोनों उपासकों (को) वमन कर बाहर निकाल दिया, (और) सर्प भाग खड़ा हुआ। सर्प के निगलने और काटने से जो (लोग) मूर्छित हो गये थे, उन पर तारा के अभिमन्त्रित जल छिड़काये जाने पर (सब) विष घावों के मुंह से बाहर निकल गये (और वे) लोग पुनरुज्जीवित हो उठे। फिर एक बार स्वयं आचार्य को सर्प आघात पहुचाने आया, तो (उन्होंने) तारा के अभिमंत्रित पुष्प छिडकाये। फलतः (सर्प) आचार्य के सम्मुख सर्वमुक्ति नामक अनेक मोतियां उगल कर वापस चला गया। वन में आग लगने पर तारा का मंत्रोच्चारण करने से (अग्नि का) शमन हो जाना आदि अनेक (अलौकिक) शक्तियां (उनमें) विद्यमान थी।

धर्ममित्र का थोड़ा बहुत वर्णन अन्य (स्थल) में प्राप्त होता है। इन धर्ममित्र (को) और अभिसमयालंकार के टीकाकार धर्ममित्र (को) एक (व्यक्ति) बताया जाना तथा उसी (को) गुणप्रभ के साक्षात् शिष्य माना जाना नितान्त भ्रमपूर्ण है। इस मत के अनुसार आर्य विमुक्त सेन और हरिभद्र (नवमी शताब्दी) (को) समकालीन मानना पड़ेगा।

उस समय पूर्वदिशा में अनेक विषयों पर शास्त्रार्थ हुए। पिछले शास्त्रार्थों की भांति भीषण शास्त्रार्थ तो नहीं हुए (जिसमें) भारी जय-पराजय हो। लेकिन छोटे-छोटे शास्त्रार्थ में समय व्यतीत होता था। वहां धर्मकीर्ति के सिद्धान्त का सहारा लेकर शास्त्रार्थ किया गया, और बौद्धपक्ष पहले से ही शास्त्रार्थ (में) आगे था, पर समय के प्रभाव से (बौद्ध) विद्वानों (की संख्या में) कमी और तीर्थिकवादियों (की संख्या में) अधिक होने के कारण बौद्धों के सभी छोटे-छोटे विहारों में बौद्धवादीगण आकुलचित्त से रहते थे। तभी भंगल के अन्तर्गत चट्टग्राम नगर (में अवस्थित) पिण्ड-विहार नामक विहार में (बौद्धों ने) प्रातःकाल अनेक तीर्थिकवादियों से शास्त्रार्थ करने की ठानी। जब (बौद्ध पण्डित) सन्देह में पड़े हुए थे कि (उनकी) विजय होगी कि नहीं, तो किसी वृद्धा ने आकर कहा: "कण्टक के सदृश मुकुट शिर पर पहन कर शास्त्रार्थ करो, (बौद्धों की) विजय होगी।" तदनुसार करने पर उनकी विजय हुई। दूसरे (स्थानों) में भी ऐसा करने पर (उनकी) विजय हुई। तब से (बौद्ध) पण्डितों (में) बुलन्द चोटीवाली टोपी पहनने की (प्रथा) धीरे-धीरे प्रचलित हो चली। पालवंशीय राजाओं की सात पीढ़ियों और सेन की चार पीढ़ियों तक सभी महायानी पण्डित दीर्घचोटीवाली टोपी पहनते थे। महान् आचार्य धर्मकीर्ति (के समय) तक (के आचार्यों ने) बुद्धशासन (को) सूर्योदय के समान प्रकाशित किया। इसके बाद, यद्यपि (बुद्ध) शासन की असाधारण सेवा करनेवाले अत्यधिक महापण्डितों का आविर्भाव हुआ, तो भी पूर्व (कालीन) आचार्यों के समकक्ष बहुत अधिक नहीं हुए, और हुए भी तो समय के प्रभाव से पूर्ववत् शासन का विकास नहीं हुआ। आर्य असंग के समय से लेकर इस

समय तक महत्तम मंत्र (यानी) सिद्धों का आविर्भाव हो चुका था, और अनुत्तर (योगतंत्र) के ग्रंथों का प्रचार केवल अधिकारियों में ही था, साधारण (साधकों) में सर्वथा नहीं था। इसके बाद अनुत्तरयोगतंत्र का प्रचार अधिकाधिक होने लगा। बीच के समय में योगतंत्र का भी अत्यन्त प्रसार हुआ और क्रिया (तंत्र और) चर्यातंत्र का व्याख्यान तथा ध्यान-भावना धीरे-धीरे लुप्त होने लगी। यही कारण है कि सिद्धिप्राप्त मंत्र (यानी) वज्राचार्यों का पालवंशीय राजाओं की सात पीढ़ियों तक अत्यधिक (संख्या में) प्रादुर्भाव हुआ। लगभग इसी समय प्रकाशचन्द्र (नामक) सिद्ध भी हुए (जो) चन्द्रवंश का एक छोटा शासक था। (उन्होंने) योगतंत्र का विपुल व्याख्यान किया। और भी चौरासी सिद्धों (के नाम) से प्रसिद्ध अधिकांश बौद्ध आचार्यों का प्रादुर्भाव भी धर्मकीर्ति के पूर्व (और) राजा चाणक्य के पश्चात् हुआ था, जिसका उल्लेख आगे होगा। षडलंकार के जीवनकाल में महायानी आचार्यगण धर्म (शास्त्र में) पण्डित थे और संघ भी अच्छी अवस्था में था। लेकिन, संख्या (में) श्रावक संघ का ही आधिक्य था। लगभग इस समय से दक्षिण प्रदेश के (बुद्ध) शासन का भी ह्रास होने लगा, और अचिर में (ही) वह लुप्त हो गया। अन्यान्य देशों के (बौद्धधर्म) भी लगभग लुप्त से हो गये। सात पाल (वंशीय राजाओं) के समय मगध, भंगल, ओडिविश इत्यादि अपरान्तक और काश्मीर में (बौद्धधर्म का) खूब विकास हुआ। अन्य (देशों) में कुछ-कुछ (प्रचार हुआ) था। नेपाल में अधिक विकास हुआ। उन (देशों) में भी मंत्र (यान) और महायान का विपुल प्रचार हुआ। यद्यपि श्रावक सम्प्रदाय भी जोर पकड़ रहा था, (तो भी) राजा आदि सभी कुलीन व्यक्ति महायान का सत्कार करते थे। महायान के भी पहले सूत्रों का ही मुख्यतः व्याख्यान होता था और टीकाओं का व्याख्यान उसके सिलसिले में होता था। अनन्तर इसके अपवादस्वरूप प्रज्ञापारमिता और आचार्यों (द्वारा रचित) ग्रंथों पर मुख्य रूप से श्रवण-व्याख्यान होने लगा। राजा गोविचन्द्र आदि कालीन २७वी कथा (समाप्त)।

(२८) राजा गोपाल कालीन कथाएं

मध्यदेश और पूर्वी सीमा के पुण्ड्रवर्द्धनवन के पास किसी क्षत्रिय कुल की एक रूपवती कन्या का एक वृक्षदेवता से संसर्ग स्थापित हुआ। किसी समय एक सुलक्षणान्वित शिशु उत्पन्न हुआ। कुछ बड़ा होने पर (उसने) उक्त देवता के निवासवृक्ष के पास मिट्टी की खुदाई की, तो एक देदीप्यमान मणिरत्न प्राप्त हुआ। उसने (वह मणि) एक आचार्य (को भेंट कर, उन) से अभिषेक ग्रहण किया और देवी चुन्दा की भावना करने की शिक्षा प्राप्त कर साधना की। (वह) इष्ट (देव) के चिह्नस्वरूप एक छोटी-सी काष्ठ (निर्मित) गदा गुप्तरूप से रखता था। किसी समय देवी ने स्वप्न में दर्शन देकर आशीर्वाद दिया। तब (उसने) आर्य खसरपण विहार जाकर, राज्य प्राप्ति के लिये प्रार्थना की, तो (आर्य ने) व्याकरण किया: "तुम पूर्व दिशा को जाओ, राज्य प्राप्त होगा।" वह पूर्वदिशा को चल पड़ा। उस समय भंगल देश में राजा के बिना अनेक वर्ष बीत गये थे। अतः सभी देशवासियों के दुःखी हो जाने पर प्रमुख-प्रमुख (व्यक्तियों ने एक) बैठक की। (इस सभा की ओर से) धरती पर न्याय करने वाले एक शासक की नियुक्ति हुई। एक प्रभावशालिनी, क्रूर, नागिन थी जो राजा गोविचन्द्र की भी रानी कहलाती थी (तथा) ललितचन्द्र की भी। (वह) पहले राजा ऋद्धिमान की रानी बनी थी। जो वहां राजा के रूप में नियुक्त होता था (वह नागिन) उसी रात (को उसे) खा जाती थी। उसी प्रकार, हर नियुक्त राजा (का वह) भक्षण करती

थी। लेकिन, "राजा के बिना राष्ट्र का अमंगल होगा" कह (लोग) प्रति सुबह में एक-एक राजा नियुक्त करते और उसी रात (को) वह (उसे) मार डालती थी। अरुणोदय होते-होते (लोग उसका) शव ले जाया करते थे। इस रीति से जब देशवासियों को बारी-बारी से (उसका शिकार बनते) कुछ वर्ष बीत गये, तो देवी चुन्दा का वह साधक किसी घर में पहुंचा। (देखा कि) उस (घर के) लोग दुःखाकुल हैं। कारण पूछने पर (एक व्यक्ति ने) बताया: कि "कलप्रातः उसके बेटे के राजा (बनने) की बारी है।" (उसने) कहा: कि "(यदि) इनाम दोगे, तो (तुम्हारे बेटे के) बदले मैं जाऊंगा।" (उसने) अतिशय प्रसन्न होकर इनाम दिया, और दूसरे दिन प्रातः काल (उसे) राजगद्दी पर बैठाया गया। आधी रात को वह नागिन राक्षसी रूप धारण कर, पूर्ववत् (उसे) खाने आ पहुंची, तो (उसने) इष्ट (देव) के चिह्नस्वरूप (गदा से) वार किया। फलतः स्वयं नागिन चल बसी। प्रातः शव ले जाने वाले आये, तो (उसे) जीवित देखकर सब आश्चर्य (में) पड़ गये। तब (उसने) और (लोगों) के बदले में जाने की भी प्रतिज्ञा की, और सात दिनों में सात बार (वह) राजगद्दी पर बैठा। तब सबने उसे महा-भाग्यशाली घोषित कर, स्थायी रूप से राजसिंहासन पर बैठाया, और (उसका) नाम गोपाल (७६५ ई०) रखा। (उसने) जीवन के आरम्भ (काल) में भंगल पर शासन किया (तथा जीवन के) उत्तरार्ध (काल) में मगध पर भी आधिपत्य जमा लिया। उड़न्तपुरी[1] के निकट नालन्दा नामक विहार बनवाया। उन दोनों महादेशों में अनेक संघमठ बनवाकर, (बुद्ध) शासन का विपुल सत्कार किया। इन्द्रदत्त का कहना है कि आचार्य मीमांसक के निधन के अगले वर्ष इस राजा का (राज) अभिषेक किया गया। क्षेमेन्द्र भद्र का कहना है कि सात वर्ष बाद (इस का) राजतिलक हुआ। (उसने) ४५ वर्ष राज्य किया। उसके जीवनकाल में शांतिप्रभ और पुण्यकीर्त्ति के शिष्य आचार्य शाक्यप्रभ ने जो पश्चिम दिशा में प्रादुर्भूत हुए काश्मीर में जगतहित सम्पन्न किया। विशेषकर काश्मीर में महादानशील[2] (१२०३ ई०), विशेषमित्र, प्रज्ञावर्म (८७७—९०१) और विनयधर आचार्य शूर का आविर्भाव हुआ। पूर्व दिशा में आचार्य ज्ञानगर्भ भी विद्यमान थे। भावविवेक, अवलोकितव्रत, बुद्धज्ञानपाद, ज्ञानगर्भ (तथा) शान्तरक्षित (७४०) (को) स्वातंत्रिक-माध्यमिक के परम्परावाले मानना (और) शांतरक्षित के मध्यमकालंकार में अष्टसाहस्रिका वृत्ति पर हरिभद्र द्वारा लिखी गई टीका बिना देखे तथा बुद्धज्ञान का सिंहभद्र के शिष्य होने का (उल्लेख) याद किये बिना बुद्धज्ञान के शिष्य ज्ञानगर्भ को मान लेना (उनकी) मूर्खता का प्रदर्शन करना है। शाक्यमति (६७५ ई०), शीलभद्र (६४५ ई०), राजकुमार यशोमित्र और पण्डित पृथ्वीबन्धु (जैसे) प्रादर्भूत हुए। काश्मीर में (राजा) श्री हर्ष देव राज करता था। उन दिनों सिद्धाचार्यों के प्रादुर्भाव होने (की बात) उपर्युक्त प्रमाण से जानी जाती है। विशेषकर प्रतीत होता है कि छोटे विरूपा (८०९—४९ ई०) यह राजा (श्री हर्ष) और देवपाल (८१०—८५१ ई०) (के समय) तक विद्यमान थे। पश्चिमदिशा के कच्छ देश में विभरट्ट नामक राजा हुआ। उसकी कन्या को देवपाल से व्याह दिया गया, और बताया जाता है कि (उसे) रासपाल (नामक)

१—यह विहार वर्तमान बिहारशरीफ के पासवाली पहाड़ी पर स्थित था।

२—दानशील ने भारतीय पण्डित जिनमित्र और तिब्बती पण्डित ज्ञानसेन की सहायता से ८१६ और ८३८ ई० के बीच (शायद तिब्बत जाकर) शिक्षा समुच्चय का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया। राहुलजी के अनुसार ये १२०३ ई० में तिब्बत गये थे।

पुत्र उत्पन्न हुआ। विभरङ् के समय में छोटे विरूप का प्रादुर्भाव हुआ। उस राजा के बौद्ध (और) ब्राह्मण दोनों के पुरोहित थे। पर राजा स्वयं बौद्ध (धर्म) के प्रति श्रद्धा रखता था, और सब मंत्री बाह्य (ब्राह्मण) के प्रति श्रद्धा रखते थे। वहां मन्दिर बनवाये गये (जिनमें प्रतिष्ठापित करने के लिये) बौद्ध (और) ब्राह्मण दोनों की आदमकद की पाषाण-मूर्त्तियां बनवाई गई। बौद्धों ने मन्दिर अलग-अलग बनाने और तीर्थिकों ने एक साथ बनाने का सुझाव दिया मन्त्रियों ने तदनुसार बनवाकर, वहां (मन्दिर की) प्रतिष्ठा के लिये छोटे विरूपा (को) आमन्त्रित किया। (विरूपा ने) अनुष्ठान आदि बिना कुछ भी किये (जब) "अयिछ, अयिछ!" जिसका अर्थ भोट भाषा में "आओ, आओ" होता है कहा, तो सब मूर्त्तियां मन्दिर के आंगन में पहुचीं। (विरूपा के) बैठो कहने पर देवतागण भूमि पर बैठ गये। वहां (विरूपा के द्वारा) एक पात्र में जल छान कर देव-मूर्तियों के शिर पर बून्द-बून्द करके छिड़काये जाने पर बौद्ध देवतागण सहसा उठ खड़े हुए (और) ठहका मारते हुए देवालय के भीतर गये। तीर्थिक देवगण नतमस्तक हो, आंगन में पड़े रहे। मन्दिर अब भी विद्यमान है, (जिसे) अमृत कुम्भ कहते हैं। महान् आचार्य महाकोटलि भी इस समय हुए जो अनेक ग्रंथों के रचयिता थे। राजा गोपाल या देवपाल के समय श्री उड़न्तपुरी-विहार भी बनवाया गया था। मगध के किसी भाग में नारद नामक एक तीर्थिक योगी रहता था जो मन्त्रशक्ति का सिद्ध तथा सच्चा था। वह वेताल-सिद्धि की साधना करना (चाहता था, जिसके लिये उसे) एक (ऐसे) सहायक (सेवक) की आवश्यकता पड़ी, जो हृष्ट-पुष्ट, अरोग, शरीर में वीरता के नौ लक्षणों से अन्वित, सत्यवादी, तीक्ष्णबुद्धिवाला, शूर, निष्कपट (और) सभी शिल्पविद्याओं में दक्ष हो। अन्य (कोई) नहीं था। एक बौद्ध उपासक में (ये लक्षण) पाये गये। (उसने) उस (उपासक) से कहा कि "(साधना काल में) मेरी सेवा करो।" (उसने) कहा: '(मैं) तीर्थिक की साधना-सेवा नहीं करता।" उसने कहा "तुम्हें तीर्थिक की शरण में जाना तो नहीं पड़ेगा, (बल्कि तुम्हें) अक्षय धन प्राप्त होगा, जिससे (तुम अपने) धर्म का प्रचार कर सकते हो।" (उसने) "अच्छा, (मैं अपने) आचार्य से पूछ कर आता हूं।" (यह) कह (उसने) आचार्य से पूछा, तो (आचार्य ने) अनुमति दी, और (उसने) उसकी सेवा की। सिद्धि-प्राप्ति (का समय) निकट आने पर वह (तीर्थिक) बोला: "(जब) वेताल जीभ लपलपाते हुए आ जाये, तो (उसकी जीभ) पकड़ लेनी चाहिये। पहली बार पकड़ लेने से महासिद्धि, दूसरी बार में मध्यमसिद्धि (और) तीसरी बार में लघुसिद्धि मिलती है। (यदि) तीनों बार न पकड़ी जाय, तो पहले हम दोनों (को) खा डालेगा, फिर देश का सर्वनाश करेगा।" उपासक पहली (और) दूसरी बार में पकड़ न सका। तब (वह) वेताल के सम्मुख बैठा और तीसरी बार में दांत से पकड़ ली। तब (वेताल की) जीभ खड्ग के रूप में परिणत हो गई (और) शरीर सुवर्ण के रूप में। (जब) उपासक ने खड्ग धारण कर घुमाया, तो (उपासक) आकाश में उठने लगा। तीर्थिक बोला: "मैंने खड्ग के लिये साधना की थी, इसलिये खड्ग मुझे दे दो।" (उपासक ने) कहा कि: "मैं कुतूहल देखकर आता हूं।" (यह) कह, (वह) सुमेरु की चोटी पर पहुंचा। चारों महाद्वीपों, आठ छोटे द्वीपों सहित का पल भर में भ्रमण कर, खड्ग उस को सौंप दिया। उस (तीर्थिक) ने कहा: कि "स्वर्ण में परिणत यह शरीर तुम रख लो। अस्थि तक न काटकर मांस ही काटते जाना। मद्यपान, वेश्यागमन आदि मिथ्या (चार) के लिये (इसका उपयोग) न करना। अपनी जीविका और पुण्यकार्य में (इसका) उपयोग करो, तो आज (दिन में) कटा हुआ रात को भर आता है, और (तुम) अक्षय (भोगवाले) बनोगे।" (यह) कह वह स्वयं खड्ग लिये देवलोक को चला गया। उस उपासक ने वेताल के स्वर्ण की

सहायता से ओड़न्तपुरी महाविहार का निर्माण कराया। 'ओड़न्त' का अर्थ उड्डयन होता है। उपासक ने आकाश की यात्रा कर, सुमेरु (और) चार (महा) द्वीपों[1] (को) साक्षात् देखा (और उसने यह विहार उसके) नमूने पर स्थापित किया। उस उपासक (का नाम) उडय-उपासक पड़ा। उस मन्दिर को राजा, मंत्री आदि किसी ने भी आर्थिक सहायता नहीं दी। मन्दिर के राजगीरों, मूर्तिकारों (और) मजदूरों की मजदूरी इत्यादि सभी (प्रबन्ध) वेताल के सुवर्ण बेचकर पूरा किया गया। केवल उस स्वर्ण से पांच सौ भिक्षुओं और पांच सौ उपासकों को जीविका चलती थी। वह उपासक जब तक जीवित रहा तब तक धार्मिक संस्था का (कार्यभार) स्वयं सम्हालता रहा। मरणकाल में (उसने:) "इस स्वर्ण से कुछ समय के लिये परोपकार नहीं होगा; भविष्य में प्राणियों का हित होगा।" कह सोने को निधि के रूप में छिपा दिया। (उसने) धर्मसंस्था राजा देवपाल को सौंप दी। राजा गोपालकालीन २८वीं कथा (समाप्त)।

(२९) राजा देवपाल (८१०--८५१ ई०) और उसके पुत्र के समय में घटित कथाएं।

राजा देवपाल (को) कुछ लोग नागपुत्र मानते हैं। (यह) राजा गोपाल के परम्परागत मंत्र से प्रभावित होने के कारण उसी का पुत्र समझा जाता है। पर, ऐसा कहा जाता है कि राजा गोपाल (७४३—७६८ ई०) की एक कनिष्ठा रानी ने किसी ब्राह्मण मंत्रिन् से राजा (को) वशीभूत करने के लिये विद्या ग्रहण की। (रानी ने) हिमालय पर्वत से औषध मंगवाकर, (उसपर) अभिमंत्रित किया (और) भोजन के साथ मिलाकर, राजा को खिलाने के लिये दासी को भेजा। (वह) किसी जलतट पर फिसल गई और औषधि पानी में गिर गई। (जब) पानी में बह कर नागलोक में पहुंची, तो सागरपाल नामक नागराज ने (औषधि) खा ली, जिसके फलस्वरूप वह वशीभूत हो गया। (वह) राजा के रूप में आया और रानी के साथ (उसका) संसर्ग हो गया, जिससे (रानी) गर्भवती हो गयी। जब राजा ने दण्ड देना चाहा, तो (रानी ने) कहा: "उस समय आप स्वयं आये थे।" (राजा) बोला: "फिर से परीक्षा करूंगा।" किसी समय जब शिशु के उत्पन्न होने, पर देवार्चना होने लगी, तो अनेक सांप आ पहुंचे। शिशु के हाथ में (एक) अंगूठी थी, (जिस पर उत्कीर्ण) नागलिपि (को) देखने पर पता चला कि (वह) नागराज का पुत्र था, और (राजा और रानी ने उसका) पालन-पोषण किया। राजा गोपाल के मरने पर उसी (को) राजगद्दी पर बैठाया गया। (वह) पिछले राजा से भी अधिक शक्तिशाली हुआ, और (उसने) पूर्वी वारेन्द्र[2] (को) अपने अधीन कर लिया। (उसने) एक विशिष्ट विहार बनवाने की इच्छा की और सोमपुरी[3] का निर्माण कराया। अधिकांश तिब्बती कथानकों के अनुसार लक्षण-जाननेवालों ने कहा था: "श्रमण और ब्राह्मण के कपड़ों की बत्ती बनाकर, राजा और सेठ के घरों से घृत लाकर (और) तपोभूमि से दीप लाकर, पुन. उस जलाये गये दीपक (को) इष्ट (देव) के आगे रख कर, प्रार्थना किये जाने से धर्मपाल[4] के चमत्कार द्वारा जिस ओर दीप (को) मोड़ लिया

१—ग्लिङ-बृशि=चारद्वीप। पूर्वविदेह, जम्बूद्वीप, अपरगोदानीय और उत्तरकुरु को कहते हैं।

२—वारीन्द्र (पश्चिम बंगाल), बौद्ध धर्म और बिहार, पृ० २३४।

३—सोमपुरी-विहार (पहाड़पुर, जि० राजशाही)। द्र० पुरातत्त्व-निबन्धावली, पृ० १५५।

४—छोस्-स्कयोङ=धर्मपाल। बौद्धधर्म का संरक्षक देवता।

जाता है, वहां मन्दिर बनवाया जाय (जिससे) राजा की शक्ति-सम्पदा उत्तरोत्तर बढ़ेगी और सम्पूर्ण देश का मंगल होगा।" ऐसा किये जाने पर किसी कौवे ने आकर, दीप (को) एक झील में परिणत कर दिया। इससे (राजा) निराश हुआ। रात को (उस के पास) पंचशीर्ष नागराज आकर बोला : "मैं तुम्हारा पिता हूं; झील (को) सुखाकर (मंदिर) बनवा लो; सात-सात दिनों में वृहत् पूजा किया करो।" ऐसा किये जाने पर २१ दिनों में झील सूख गई, और वहां मन्दिर बनवाया गया। कश्मीर के समुद्रगुप्त द्वारा बनवाये गये विहार के इतिहास में (यह) उल्लेख प्राप्त होता है कि स्वप्न में किसी सांवले (रंग के) मनुष्य ने आकर कहा: "महाकाल की पूजा करो, झील यक्षों द्वारा सुखायी जायगी।" (इस को छोड़) अन्य (वर्णन) इसी तरह आये हैं। यह वर्णन सोमपुरी के साथ न मिला दिया गया, यह ठीक है। इसी प्रकार, देवपाल का जीवन-वृत्त भी सहज-विलास के जीवन-वृत्त से समानता रखता है, अतः (इस बात पर) विचार करना चाहिए कि (यह) उल्लेख एक दूसरे से उपमा की गई है या नहीं? यह भी बताया जाता है कि यह प्रसिद्ध सोमपुरी (वर्तमान) नव (निर्मित) सोमपुरी है। शिरोमणि नामक योगी के प्रेरित करने पर राजा ने ओडिविश आदि देशों पर, जो पहले बौद्धों के तीर्थस्थान थे; पर अब तीर्थिकों का ही प्रचार (स्थल) हैं, चढ़ाई करने की सोची (और उसने) भारी सेना इकट्ठी की। (जब वह अपनी सेना के साथ) सागल[1] के पास के देश से गुजर रहा था, तो दूर से एक श्याम (वर्ण का) मनुष्य धीमी गति से जा रहा था। (राजा ने किसी को) उसके पास पूछने भेजा, तो (उसने) कहा: "मैं महाकाल[2] हूं; इस बालू के ढेर को हटाए जाने से (इसके) नीचे देवालय मिलेगा। (तुम यदि) तीर्थिक के मन्दिरों का विनाश करना चाहते हो, तो (तुम्हें) और (कुछ) करना नहीं पड़ेगा, मन्दिर के चारों ओर सेनाओं से घेरवा लो, और उच्च स्वर में वादन करवा लो।" बालू के ढेर के हटाये जाने पर नीचे से (एक) अद्भुत पाषाण-मन्दिर निकला (और इसका) नाम श्री त्रिकटुक-विहार[3] रखा गया। किसी-किसी कथानक में कहा गया है कि वहां से एक निरोध समापत्ति[4] भिक्षु निकला और (उसके) काश्यपबुद्ध और राजा कृकिन के बारे में पूछने पर (जब यह) बताया गया कि यह शाक्यमुनि बुद्ध का शासन (काल) है, तो (वह) अनेक चमत्कार दिखलाकर निर्वाण को प्राप्त हुआ। तब तीर्थिक के मन्दिरों पर यथाकथित कार्यान्वित किये जाने के फलस्वरूप सभी मन्दिर अपने आप ध्वंस्त हो गये। साधारणतया तीर्थिक के लगभग ४० बड़े-बड़े मन्दिर नष्ट हुए, (जिनमें से) कुछ भंगल और वारेन्द्र के थे। तत्पश्चात् (उसने) सारे ओडिविश पर आधिपत्य स्थापित किया। इस राजा के समय में छोटे कृष्ण चारिन प्रादुर्भूत हुए। वह आचार्य कृष्णचारिन के अनुयायी थे (जो) सम्वर, हेवज्र (और) यमान्तक में पण्डित थे। उन्होंने नालन्दा के पास (किसी स्थान में) सम्वर की भावना की, तो डाकिनी ने व्याकरण किया : "कामरूप के देवी (तीर्थ) स्थान पर वसुसिद्धि है, (उसे) ग्रहण करो।" "वहां जाने पर एक पात्र मिला। ढक्कन खोलने पर एक जालीदार डमरू निकला। उसे हाथ में लेते ही पैर (ऊपर उठकर) पृथ्वी से स्पर्श नहीं करते

१—र-र=सागल। पंजाब का वर्त्तमान स्यालकोट।

२—नग-पो-छेन-पो=महाकाल। बौद्ध धर्म के संरक्षक देवता।

३—द्पल-छ-व-ग्सुम-ग्यि-ग्चुग-लग-खङ=श्रीत्रिकटुक-विहार।

४—हगोग-प-ल-स्त्रोमस्-पर-शुगस-प = निरोधसमापत्ति। एक-समाधिविशेष।

थे। जोर से बजाने पर ५०० सिद्धयोगियों (और) योगिनियों का अज्ञात दिशा से आगमन हुआ और उनके परिवार बन गये। (फिर) चिरकाल तक जगतहित सम्पन्न किया। अंत में गंगासागर नामक स्थान में अज्ञातरूप से निर्वाण को प्राप्त हुए। इन्होंने सम्वर व्याख्या[1] आदि अनेक शास्त्रों की रचना की। चिरंजीवी होने से राजा धर्मपाल (७६९—८०९ ई०) के बाद भी कुछ समय तक विद्यमान थे।

उस समय आचार्य शाक्यप्रभ के शिष्य आचार्य शाक्यमित्र (८५० ई०) भी प्रादुर्भुत हुए। और भी विनयधर कल्याणमित्र, सुमितिशील, दंष्ट्रसेन, ज्ञानचन्द्र, वज्रायुध, मंजुश्रीकीर्ति, ज्ञानदत्त, वज्रदेव और दक्षिण प्रदेश में भदन्त अवलोकितव्रत प्रादुर्भूत हुए। कश्मीर में आचार्य धर्नमित्र आदि हुए। आचार्य सिंहभद्र भी इस राजा के काल में पाण्डित्य-सम्पन्न बन गये, (जिन्होंने) अनेक प्रकार से जगत हित सम्पादित किया। राजा धर्मपाल (७६९—८०९ ई०) के काल में (इनके धार्मिक) कार्य (क्षेत्र) का अधिक विस्तार हुआ, (जिसकी) चर्चा नीचे की जायगी। आचार्य बोधिसत्त्व, जो तिब्बत गये थे, प्रतीत होता है कि राजा गोपाल से राजा धर्मपाल (के समय) तक अवश्य विद्यमान थे। तिब्बत के सभी प्रामाणिक इतिहासों में वर्णित है कि तिब्बत के राज (वंश) की नौ पीढ़ियाँ इन पण्डित के जीवन काल में गुजर गई थीं। ऐसा होता तो असंग (और उनके) भाई (वसुबन्धु) के समय तक विद्यमान होना चाहिए। (पर इस तथ्य का) यथार्थ होना कठिन है। यह सार्वभौमिक रूप से बताया जाता है कि ये और मध्यमकालंकार के प्रणेता महापण्डित शान्तिरक्षित (७४०—८४० ई०) एक (ही व्यक्ति) हैं। सभी तिब्बती महापण्डितों ने भी (इस बात का) एक (मत से) उल्लेख किया है। अतः फिलहाल इस पर विश्वास किया जाना चाहिए। इस लिये (ये) राजा गोपाल के समय में ही महापण्डित बन गये थे, (और) राजा देवपाल के समय में (इन्होंने) मुख्यतः जगतकल्याण सम्पन्न किया। (तिब्बत के) राजा ख्रि-स्रोङ-ल्दे-व्चन (८०२—४५ ई०) द्वारा प्रणीत 'बकह्-यङ-दग-पहि-छद-म" (=सम्यग वचन का प्रमाण) (नामक ग्रंथ) में पण्डितबोधिसत्त्व (=शान्तरक्षित) का नाम "धर्मशान्तिघोष" होने का उल्लेख किया गया है। परन्तु, (इनके) अनेक नाम होने में (कोई) विरोध नहीं है; (क्योंकि) अपने परीक्षित सभी सात पण्डितों[2] (के नाम के अंत) में भी शान्तरक्षित का उपनाम 'रक्षित' (जुड़ा हुआ) है। अतः निश्चय ही (उनका) पर्याय नाम शान्तरक्षित भी है। परन्तु ज्ञानगर्भ द्वारा रचित माध्यमिक सत्य द्वय[3] के टीकाकार शान्तरक्षित और मध्यमकालंकार[4] के प्रणेता शान्तरक्षित (को) भिन्न-भिन्न माने जाने के अनुसार (यह) विचारणीय प्रतीत होता है कि इन दोनों (में) से कौन है ?

१—स्दोम-प-ब्शद-प=सम्बर व्याख्या। त० ५१।

२— सद-मि-ब्दुन=सात परीक्षित व्यक्ति। ये हैं: वें-रत्न, ग्मल-स्नङ, स्प-गो-वैरोचन, ङ ल-लम-र्ग्याल-व-म्छोग-द्ब्यङ्स्, र्मे-रिन-छेन-म्छोग, ख्योन-क्लुइ-द्बङ-पो-स्रुङ, ल-ग्सुम-र्ग्यल-व-ब्यङ-छुब।

३—द्बु-म-ब्देन-गञिस्=माध्यमिक सत्य द्वय।

४—द्बु-म-र्ग्यन=मध्यमकालंकार। त० १०१।

शाक्यमित्र (८५० ई०) ने योगतंत्र तत्त्वसंग्रह की टीका कोसलालंकार[1] नामक (ग्रंथ) की रचना कोसल देश में की। इस टीका में (यह) उल्लेख मिलता है कि उन्होंने लगभग ग्यारह गुरुओं से (इस ग्रंथ का उपदेश) ग्रहण किया। (उन्होंने अपने) उत्तरार्ध जीवन (काल) में कश्मीर जा, जगत् कल्याण सम्पन्न किया।

वज्रायुध: ये पूर्णमति[2] नामक मंजुश्री-स्तोत्र के रचयिता थे। पांच सौ पण्डितों ने भिन्न-भिन्न (स्तोत्र की) रचना की; (परन्तु सभी रचनाओं का) शब्दार्थ एक जैसा होने पर (लोगों को) दिव्य-चमत्कार होने का विश्वास हुआ।

मंजु श्रीकीर्ति, ये नामसंगीति की बृहत् टीका के लेखक और धर्मधातु वागीश्वर मण्डल का साक्षात् दर्शन पानेवाले एक महान् वज्राचार्य थे। इस टीका का निरूपण करने पर जान पड़ता है कि (ये) प्रवचन (रूपी) सागर में पारंगत थे। पहले तिब्बत में प्रसिद्ध इनकी एक विस्तृत जीवनी है, जो मेरी राय में बिल्कुल अयुक्तिसंगत है। जानकारी के लिये पण्डितवर बु-स्तोन (१२९०—१३६४ ई०) द्वारा रचित 'योगपोत'[3] (नामक ग्रंथ) में देखिये।

वज्रदेव (ये) एक गृहस्थ (और) महाकवि थे। नेपाल जाकर (उन्होंने) किसी तीर्थिक योगिनी को अनेक मिथ्याचार (करते) देख, उसपर अभिशाप के रूप में कविता लिखी। उसने भी शाप दिया। फलतः (वे) कोढ़ग्रस्त हो गये। वहां (उन्होंने) आर्याव-लोकित से प्रार्थना करते प्रतिदिन स्रगधराछन्द में एक-एक स्तोत्र की रचना की। तीन मास के पश्चात् उन्हें आर्यावलोकित के दर्शन मिले और वे स्वस्थ हो गये। स्तोत्र १०० श्लोकों का हुआ (जो) आर्य देश के सभी भागों में श्रेष्ठ कविता का आदर्श माना जाता है।

राजा देवपाल (८१०—८५१ ई०) ने ४८ वर्षों तक राज किया। तत्पश्चात् (उसका) पुत्र रासपाल ने १२ वर्ष राज्य किया। (बुद्ध) शासन की अधिक सेवा नहीं करने से इसे सात पालों में नहीं गिना जाता। उस समय उद्यान के आचार्य लीलावज्र ने श्री नालन्दा में १० वर्षों तक रह, मंत्रयान के अनेक उपदेश दिये। (उन्होंने) नामसंगीति की टीका भी लिखी। एक आचार्य वसुबन्धु नामक (अभिधर्मकोष के लेखक) वसुबन्धु नामवाले हुए (जिन्होंने) अभिधर्मपिटक के विपुल उपदेश दिये।

आचार्य लीलावज्र का जन्म शंश देश में हुआ। (ये) उद्यान देश में प्रव्रजित हुए और योगाचार-माध्यमिक सिद्धान्त के (माननेवाले) थे। सब विद्याओं में विद्वत्ता प्राप्त करने के बाद (उन्होंने) उद्यान-द्वीप के मधिम नामक (स्थान) में आर्य मंजुश्री नाम-संगीति की साधना की। उस समय जब आर्यमंजुश्री की सिद्धि (प्राप्ति का समय) निकट आया, तो मंजुश्री के चित्र के मुख से विशाल प्रकाश फैला और वह द्वीप चिरकाल तक

१—को-स-लडि-र्ग्यन=कोसलालकार। त० ७०-७१।

२—गङ्-ब्लो-म=पूर्णमति।

३—यो-ग-ग्रु-ग्सिङस्=योगपोत।

आलोकित रहा। अतः, (इनका) नाम 'सूर्यसदृश'[1] रखा गया। कुछ मिथ्यादृष्टि (पंथियों) को (अपनी साधना में) बौद्धपण्डितों की पंच इन्द्रियों की साधन-द्रव्य के रूप में आवश्यकता हुई। (वे) आचार्य की हत्या करने आये, तो (आचार्य ने अपने को) हाथी, अश्व, बालिका, शिशु इत्यादि नानाविध रूपों में परिणत किया, जिससे (वे आचार्य को) नहीं पहचान सके और लौट गये। (फिर इनका) नाम 'विश्वरूप'[2] रखा गया। उत्तरार्द्ध जीवन (काल) में (उन्होंने) उद्यान देश में विपुल जगतहित सम्पन्न किया। अंत में प्रकाशमय वज्रकाय (को) प्राप्त हुए। (इनका) प्रव्रजित नाम 'श्रीवरबोधिभगवन्त'[3] (है और) गुह्य (मंत्र तांत्रिक) नाम 'लीलावज्र'। अतः इनके द्वारा प्रणीत शास्त्रों पर लीलावज्र, सूर्यसदृश, विश्वरूप, श्रीवरबोधिभगवन्त-कृत (लिखा हुआ) रहता है।

उस समय एक चाण्डाल के लड़के (को) आर्यदेव के दर्शन हुए, (और उनके) आशीर्वाद से (उसे) अनायास धर्म का ज्ञान हो गया। भावना करने पर सिद्धि मिली। आर्य नागार्जुन पिता-पुत्र (नागार्जुन और आर्यदेव) के समस्त मंत्र (यान संबंधी) ग्रंथों (पर अधिकार) प्राप्त हुआ। (उसने) अनेक प्रकार से (उन ग्रंथों का) व्याख्यान किया। (यह व्यक्ति) मातंग है। फिर कोंकन में आचार्य रक्षितपाद ने चन्द्रकीर्ति से साक्षात् श्रवण कर, प्रदीपोदद्योतन[4] की पुस्तक भी लिखी जो प्रकाशित हुई। इसी प्रकार, कहा जाता है कि पण्डित राहुल ने भी नागबोधि के दर्शन किये और आर्य (नागार्जुनकृत गुह्यसमाज) का कुछ प्रचार होना आरम्भ हुआ। अनन्तर अगले चार पालों के समय में (इसका) विशेष रूप से प्रचार हुआ। कहा जाता है कि आकाश में सूर्य-चन्द्र और धरती पर दो व्यक्त (पुरुष) कहलाये। राजा देवपाल पिता-पुत्र के समय में घटी २९वीं कथा (समाप्त)।

(३०) राजा श्रीमद् धर्मपाल (७६९—८०९ ई०) कालीन कथाएं।

तदनन्तर उस राजा (गोपाल) के पुत्र धर्मपाल (को) राजगद्दी पर बैठाया गया। उसने ६४ वर्ष राज किया। कामरूप, तिरहुत, गौड़ इत्यादि पर भी आधिपत्य जमाया (उसका) साम्राज्य बहुत विस्तृत था। पूरब में समुद्र पर्यन्त, पश्चिम में डिलि,[5] उत्तर में जालन्धर (और) दक्षिण में विन्ध्यगिरि तक (उसका) शासन चलता था। (उसने) हरिभद्र और ज्ञानपाद का गुरु के रूप में सेवन किया। प्रज्ञापारमिता और श्रीगुह्यसमाज का सर्वत्र प्रचार किया। (इसके जीवनकाल में) गुह्यसमाज और पारमिता का ज्ञान रखनेवाले पण्डितों (को) शीर्षासन पर बैठाया जाता था। लगभग इस राजा के राजगद्दी पर बैठने के बाद सिद्धाचार्य कुक्कुरिपा[6] भी भंगल देश में आविर्भूत हुए, (जिन्होंने) जगत कल्याण सम्पन्न किया। इसका वृत्तान्त अन्यत्र उपलब्ध है। (इस राजा ने) राज्यारोहण

१—ञि-म-दङ-ऽद्र-व=सूर्यसदृश।

२—स्न-छोगस्-ग्सुगस्-चन=विश्वरूप।

३—द्पल-ल्दन-ब्यङ-छुब-म्छोग-स्कल=श्रीवरबोधिभगवन्त।

४—स्ग्रोन-ग्सल=प्रदीपोदद्योतन। त० ६०।

५—दिल्ली ?

६—अन्य इतिहासकार इनका जन्म कपिलवस्तुवाले देश में होना बताते हैं। पु० पृ० १५२।

होने ही प्रज्ञापारमिता के व्याख्याताओं को आमंत्रित किया। (वह) आचार्य सिंहभद्र के प्रति विशेष श्रद्धा रखता था। इस राजा ने साधारणतया लगभग ५० धार्मिक संस्थाओं की स्थापना की। (इनमें से) ३५ धार्मिक संस्थाओं में प्रज्ञापारमिता का व्याख्यान होता था। (इसने) श्री विक्रमशिला-विहार (७६९—८०९ ई०) बनवाया। (यह विहार) मगध के उत्तरी (भाग) में, गंगा नदी के तट पर एक छोटी-सी पहाड़ी पर (अवस्थित है)[1]। (इसके) केन्द्र में महाबोधि के परिमाण का (एक) मन्दिर, चारों ओर गुह्यमंत्र (—मंत्रयान) के ५३ छोटे-छोटे मन्दिरों (और) ५४ साधारण मन्दिरों—(कुल १०८ मन्दिरों) की स्थापना कराई गई, (जिनके) बाहर की ओर चहारदीवारी खड़ी की गई। १०८ पण्डित, बलि (अन्न की बलि) आचार्य, प्रतिष्ठान आचार्य, हवन आचार्य, मूषक रक्षक, कबूतर रक्षक और देवदास (भृत्य का आदरसूचक) उपबन्धकर्त्ता (कुल) ११४ (व्यक्तियों) के लिये भोजन-वस्त्र की व्यवस्था की जाती थी। (प्रत्येक व्यक्ति के लिये) चार-चार व्यक्तियों के बराबर जीविका का प्रबन्ध किया जाता था। प्रत्येक मास सभी धर्मश्रोताओं के लिये उत्सव मनाया जाता था, और (उन्हें) पर्याप्त दक्षिणा दी जाती थी। उस विहार का अधिपति नालन्दा का भी संरक्षण करता था। प्रत्येक पण्डित हर समय एक-एक धर्मोपदेश दिया करता था। अतः (इस विहार की) धार्मिक संस्थाओं का पृथक रूप से प्रबन्ध नहीं होने पर भी वास्तव में, यह (विक्रमशिला की) १०८ धार्मिक संस्थाओं के बराबर था। यह राजा आचार्य कम्बल का अवतार माना जाता है, परन्तु (इसकी क्या) पहचान है (यह कहना) कठिन है। कहा जाता है कि कोई त्रिपिटकधर प्रज्ञापारमिता के प्रचार के लिये (अपने) प्रणिधान के प्रभाव से राजा के रूप में पैदा हुआ। इस राजा के समय से लेकर प्रज्ञापारमिता का ही अधिक प्रचार होने लगा। प्रज्ञापारमिता सूत्र में देश का निरूपण करते समय पहले मध्यदेश में, उसके बाद दक्षिण (में), फिर मध्य (में), वहां से उत्तर (में) और उत्तर से उत्तर में (प्रज्ञा-पारमिता का) विकास होने का उल्लेख किया गया है। दक्षिण के बाद मध्यदेश में विकास होने (का जो उल्लेख है वह) इस राजा के समय में मानना चाहिए। कुछ (लोगों) का (यह) कहना (उनके द्वारा) सूत्र का यथार्थ अध्ययन न करने की त्रुटि है कि उत्तर के बाद फिर मध्यदेश में विकास होगा और ऐसा सूत्र में भी कहा गया है। जयसेन[2] के पाषाण-स्तम्भ पर (यह) अभिलेख (उत्कीर्ण) है कि इस राजा के समकाल में पश्चिम भारत में चक्रायुद्ध नामक राजा विद्यमान था। स्थूल के हिसाब से (यह राजा) तिब्बत का नरेश खि-स्रोङ-ल्दे-व्चन (८०२-४५ ई०) का समकालीन है। इस राजा के समय में महान तार्किक कल्याणरक्षित,[3] हरिभद्र, शोभव्यह,[4] सागरमेघ,[5] प्रभाकर,[6] पूर्णवर्धन,[7] महान

१—राहुल जी ने विक्रमशिला का स्थान भागलपुर जिले के सुलतानगंज के पास, जो भागलपुर से पश्चिम है, माना है, परन्तु अब सिद्ध हो गया है कि यह विश्वविद्यालय कहलगांव के पास ही था। द्र० बौद्ध धर्म और बिहार, पृ० २१६।

२—ग्र्यल-स्दे-द्कर-छङ=जयसेन।

३—द्गे-स्रुङ=कल्याणरक्षित।

४—मजेस्-व्कोद=शोभव्यूह।

५—ग्र्य-म्छो-स्प्रिन=सागरमेघ।

६—होद-सेर-ह्ब्युङ-ग्नस्=प्रभाकर।

७—गङ-व-स्पेल=पूर्णवर्धन।

औरस सहित, वज्राचार्य बद्धज्ञानपाद[1] बुद्धगुह्य[2], बुद्धशान्ति, कश्मीर में आचार्य पद्माकर-घोष[3], तार्किक धर्माकरदत्त[4], विनयधर सिंहमुख[5] इत्यादि प्रादुर्भूत हुए।

इनमें से आचार्य हरिभद्र क्षत्रियकुल में प्रव्रजित हुए (और) अनेक ग्रन्थों के ज्ञाता थे। (उन्होंने) आचार्य शान्तरक्षित से माध्यमिक सिद्धान्तों और उपदेशों (का) श्रवण किया। पण्डित वैरोचनभद्र[6] से प्रज्ञापारमितासूत्र अभिसमयालंकारोपदेश[7] सहित पढ़ा। तदुपरान्त पूर्वदिशा (के) खसपर्णवन में जिन अजित की साधना करने पर स्वप्न में उनके दर्शन मिले। (उन्होंने जिन अजित से) पूछा: "वर्तमानकाल में प्रज्ञापारमिता के अभिप्राय पर अनेक भिन्न-भिन्न टीकाएं, शास्त्र (और) सिद्धान्त हैं (मैं) किसका अनुसरण करूं?" अजित ने अनुमति दी: "(जो) युक्तियुक्त है (उसका) संकलन करो।" उसके बाद अचिर (काल) में राजा धर्मपाल ने आमंत्रित किया और त्रिकटुक विहार में रह, प्रज्ञा-पारमिता के हजारों श्रोताओं को धर्म की देशना करते हुए अष्टसाहस्रिका की टीका आदि अनेक शास्त्रों की रचना भी की। राजा धर्मपाल के राजगद्दी पर बैठे बीस वर्ष से अधिक (बीतने) पर (इनका) देहान्त हुआ।

आचार्य सागरमेघ (के बारे में) कहा जाता है कि जिन अजित के दर्शन पाकर (उन्हें) योगाचार की पांच भूमियों पर वृत्ति लिखने का व्याकरण मिला (और उन्होंने) सम्पूर्ण (भूमियों) पर वृत्ति लिखी। (इनमें से) बोधिसत्त्व भूमि की वृत्ति अधिक प्रसिद्ध है।

जान पड़ता है कि पद्माकरघोष, लो-द्रि पण्डित थे।

महान् आचार्य बुद्धज्ञानपाद, हरिभद्र के प्रथम शिष्य हैं। हरिभद्र के देहावसान के बाद सिद्धि प्राप्त कर, (उन्होंने) धर्मोपदेश करना आरम्भ किया। उसके कुछ वर्ष बाद (वे) राजगुरु के रूप में (नियुक्त) हुए। उसके अचिर (काल) में विक्रमशिला का प्रतिष्ठान आदि सम्पन्न कर, (वे) उस (विहार) के वज्राचार्य के पद पर नियुक्त किये गये। जब से ये आचार्य प्राणियों का उपकार करने लगे, तब से जीवन-पर्यन्त प्रतिरात्रि में आर्य जम्भल (उन्हें) ७०० स्वर्णपण और वसुधारा ३०० मुक्ताहार भेंट करती थीं। देवता के प्रभाव से उन्हें खरीदने वाले भी दूसरे ही दिन आ जाते और (फिर) दूसरे ही दिन वे सब (धनराशि) पुण्यकार्य में व्यय कर देते थे। इस रीति से (वे अपना) काल-यापन करते थे। (वे) श्री गुह्यसमाज के १९ देवताओं के लिये रथ के पहिये के बराबर सात-सात दीप (और) अष्टबोधिसत्त्वों[8] और षट्क्रोधी (देवताओं)

१—सङ्स्-ग्र्यस्-ये-श स्-शबस्=बुद्धज्ञानपाद।

२—सङ्स्-ग्र्यस्-ग्सङ=बुद्धगुह्य।

३—पद्म-ह्ब्यङ-ग्नस्-द्ब्यङ्स्=पद्माकरघोष।

४—छोस्-ह्ब्युङ-ब्यिन=धर्माकरदत्त।

५—सेङ-गे-ग्दोङ-चन=सिंहमुख।

६—र्नम-पर-स्नङ-म्जद-ब्सङ-पो=वैरोचनभद्र।

७—म्ङोन-र्तोगस्-ग्र्यन-मन-ङग=अभिसमयालंकारोपदेश। त० ९१।

८—ब्यङ-छुब-सेमस्-द्पह-ब्र्ग्यद=अष्टबोधिसत्त्व। इनके नाम ये हैं—मंजुश्री, वज्र-पाणि, अवलोकित, भूमिगर्भ, नीवरणविष्कम्भिन, आकाशगर्भ, मैत्रेय और समन्तभद्र

के लिये तीन-तीन प्रदीप (जलाते थे)। पन्द्रह महान् दिकपालों के लिये दो व्यक्तियों द्वारा डोली में ढोई जानेवाली पन्द्रह-पन्द्रह बलि (अन्न की बलि) (चढ़ाते थे)। इसी प्रकार सब प्रकार के पूजोपकरण चढ़ाते थे। धर्मोपदेश सुननेवाले शिष्यों, प्रव्रजितों और सभी प्रकार के भिखारियों (को) संतुष्ट करते थे। इस प्रकार, (उन्होंने) पूजन भी (बुद्ध) शासन के चिर (काल) तक विकास होने के लिये ही किया था। (उन्होंने) राजा धर्मपाल से कहा था कि: "तुम्हारे पौत्र के समय में राज्य-विनाश होने का निमित्त है, इसलिए महायज्ञ कराया जाय ताकि चिरकाल तक राज्य कायम रहे, और धर्म का भी विकास हो। उस (—राजा) ने भी ९,०२,००० तोला चांदी का सामान अर्पित किया। आचार्य के निर्देशन में वज्रधरों ने अनेक वर्षों तक यज्ञ किया। (उन्होंने राजा को) भविष्यवाणी की: "तुम्हारे बाद लगभग १२ राजाओं का आविर्भाव होगा, विशेषकर पांच पीढ़ियों द्वारा अनेक देशों पर शासन किया जायगा।" (और) तदनुसार हुआ। (इस संबंध में) विस्तृत वृत्तान्त अन्यत्र उपलब्ध है। उस समय वज्रासन के एक देवालय में रजतनिर्मित हेरुक की एक विशाल मूर्ति और मंत्र (-यान) की अनेक पुस्तकें थीं। सिंहली आदि कुछ सैन्धव श्रावकों ने कहा: "ये मारके द्वारा बनायी गई हैं।" (यह कह उन्होंने) पुस्तकों से जलावन का काम लिया (और) मूर्ति (को) टुकड़े-टुकड़े करके (उसका) तिरस्कार किया। (यही नहीं उन्होंने) भंगल से विक्रमशिला को पूजनार्थ जानेवाले बहुत-से लोगों (को) भी (उत्तेजित कर) कहा: "ये महायानी लोग मिथ्यादृष्टि का आचरण करनेवाले जीवन (विताते) हैं, इसलिये (इन) उपदेशकों का परित्याग करो।" (यह) कह उन्हें अपने (सम्प्रदाय) में परिणत किया। पीछे राजा ने सुनकर सिंहलियों को दण्ड दिया। अंत में उस (विपत्ति) से भी इन आचार्य ने बचाया। इन आचार्य ने क्रियायोग के तीन विभागों का भी कुछ उपदेश दिया। (इन्होंने) गुह्यसमाज, मायाजाल, बुद्धसमयोग, चन्द्र-गुह्यतिलक और मंजुश्रीक्रोध, (इन) पांच आभ्यन्तर तन्त्रों के विपुल उपदेश दिये। विशेषकर गुह्यसमाज पर जोर देने के कारण इसका सर्वत्र विपुल प्रचार हुआ। इनके शिष्य प्रशान्तमित्र अभि (-धर्म में), पारमिता (में) और त्रिवर्गक्रियायोग में पण्डित थे। (इन्हें) स्वच्छन्द रहते (देखकर) आचार्य ज्ञानपाद ने अधिकारी जानकर अभिषिक्त किया। साधना करने पर यमान्तक ने दर्शन दिये। वे यक्ष राज की सिद्धि प्राप्त कर, यथा-भिलाषित भोगविशेष (को) बात-की-बात में ग्रहण कर, साधनार्थियों को देते थे। यक्ष (को) ही खटाकर नालन्दा के दक्षिण भाग में अमृताकर[1] नामक विहार बनवाया। अंत में उसी शरीर से वे विद्याधर पद (को) प्राप्त हुए।

क्षत्रिय (कुल के) राहुलभद्र ने विद्याध्ययन कर, पाण्डित्य तो प्राप्त किया, परन्तु कुछ मन्दबुद्धिवाले थे। आचार्य ने (उन्हें) अभिषिक्त कर आशीर्वाद दिया। (उन्होंने) पश्चिम सिन्धु देश के किसी निकटवर्ती नदी के तट पर चिरकाल तक गुह्यसमाज की साधना की। तथागत पंचकुल[2] के दर्शन मिले। गुह्यपति का साक्षात्कार किया। जम्बूद्वीप में प्राणियों का उपकार अधिक नहीं किया। वे द्रमिल देश[3] को गये। वहां (उन्होंने) गुह्य-मंत्र-तंत्र के विपुल उपदेश दिये। नाग से धन प्राप्त कर, प्रतिदिन विहार निर्माण (के कार्य

१—ब्दुद-चि-ह्ब्युङ-ग्नस्=अमृताकर।

२—दे-बृशिन-ग्शेगस्-प-रिगस्-ल्ङ=तथागत पंचकुल। इनके नाम ये हैं—अक्षोभ्य, वैरोचन, अमिताप, रत्नसम्भव, अमोघसिद्धि।

३—ह्ग्रो-लिदङ-गि-युल=द्रमिल देश।

में) लगे हुए ५०० मजदूरों में से प्रत्येक मजदूर (को) हर रोज एक-एक दीनार स्वर्ण देते (और) गुह्यसमाज का (एक) विशाल मन्दिर बनवाया। उसी शरीर से विद्याधर शरीर की सिद्धि की। नागों (को) विनीत करने की इच्छा से समुद्र में चले गये, (जहां) वे आज भी वर्त्तमान हैं।

आचार्य बुद्धगुह्य और बुद्धशान्ति, बुद्धज्ञानपाद के पूर्वार्द्ध जीवन (काल) के शिष्य थे। (उन्होंने) स्वयं आचार्य से तथा अन्य बहुत-से वज्रधरों से वैसे अनेक गुह्यमंत्र (के ग्रंथों को) पढ़ा। विशेषकर (वे) क्रिया, चर्या (और) योगतंत्र में पण्डित थे। योगतंत्र पर (उन्होंने) सिद्धि भी प्राप्त की। बुद्धगुह्य ने वाराणसी के किसी स्थान में आर्य मंजुश्री की साधना की। किसी समय (मंजुश्री का) चित्र मुस्कुराए; लोहित गाय का घी भी उबलने लगा, (जो) सिद्धि-वस्तु (के प्रयोगार्थ रखा गया था और) मुरझाये हुए पुष्प भी खिले, तो सिद्धि (प्राप्ति) का शकुन जाना। परन्तु, (वे) थोड़ी देर के लिये (इस) दुविधा में पड़े रहे कि पहले फल चढ़ावें या घी पी लें? (इस बीच) एक यक्षिणी ने बाधा डालकर, आचार्य के गाल पर तमाचा जड़ दिया। फलतः आचार्य थोड़ी देर के लिये मूर्छित हो गये। मूर्छा दूर होने पर (देखा कि) चित्र धूल से आच्छादित हो गया था, फूल मुरझा गये थे (और) घी भी गिर गया था। लेकिन, (उन्होंने) धूल पोंछी, फूल को मस्तिष्क पर चढ़ाया (और) घी पी लिया। फलस्वरूप (उनका) बदन सब रोगों से रहित हो, अत्यन्त बलिष्ठ हो गया। तीक्ष्णबुद्धि वाले और अभिज्ञासम्पन्न हो गये। बुद्ध-शान्ति ने द्रव्य, चित्र आदि किसी प्रपंच के बिना भावना की, तो बुद्धगुह्य के तुल्य ज्ञान प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् वे दोनों पोतलगिरि को चले गये। पर्वत चरण में आर्यातारा नागसमुदाय को धर्मोपदेश कर रही थी, परन्तु (उन दोनों को) गायों का झुण्ड चराती हुई (एक) वृद्धा दिखाई दी। पर्वत के मध्य (भाग) में भृकुटी असुर और यक्षसमूह को धर्मोपदेश कर रही थीं; परन्तु (उन्हें एक) बालिका भेड़-बकरों का झुण्ड चराती दिखाई पड़ी। कहा जाता है कि पर्वत की चोटी पर पहुँचने पर केवल आर्यावलोकित की एक पाषाण-मूर्ति थी। लेकिन बुद्ध-शान्ति ने (सोचा:) "इस (पुण्य) भूमि में साधारण (प्राणी) कैसे होगा; मेरा हृदय ही शुद्ध नहीं है; ये तारा (देवी) आदि हैं।" (ऐसा) सोच दृढ़ विश्वास के साथ (उन्होंने) प्रार्थना की। फलतः (उन्हें) साधारण ज्ञान (के रूप में) इच्छानुसार (अपने रूप को) बदल सकने की ऋद्धि और अभिज्ञा आदि असीम (ज्ञान प्राप्त हुआ)। परमज्ञान (के रूप में) पहले न सीखे हुए सभी धर्मों का ज्ञान हुआ तथा आकाश के समान (वस्तु-) स्थिति का ज्ञान प्राप्त हुआ। बुद्धगुह्य ने अविश्वास करते हुए प्रार्थना की तो (उन्हें) केवल चरण भूमि पर स्पर्श किये बिना चलने की सिद्धि प्राप्त हुई। वहां उस वृद्धा ने व्याकरण किया: "तुम कैलाश पर्वत पर जाकर साधना करो।" इधर आने पर (उन्होंने) बुद्धशान्ति से पूछा: "कौन सी सिद्धि मिली?" (उन्होंने) यथाघटित घटना सुनाई। इसपर (उन्हें) मित्र की महासिद्धि मिलने पर ईर्ष्या-भाव उत्पन्न हुआ। फलतः उसी समय चरण भूमि पर अस्पर्श होने की सिद्धि भी नष्ट हो गई। कहा जाता है कि फिर दीर्घकाल तक प्रायश्चित करने पर कायम हुई। तत्पश्चात् वाराणसी में कुछ वर्ष धर्मोपदेश किया। फिर आर्य मंजुश्री के द्वारा पहले की भांति प्रेरित करने पर कैलाश पर्वत पर जाकर साधना की। फलतः वज्रधातु महामण्डल[1] के बार-बार दर्शन मिले। आर्य मंजुश्री से मनुष्य की भांति वार्त्तालाप करने लगे। सब

१—दों-जें-द्ब्यिङस्-क्यि-द्क्यिल-ऽखोर-छेन-पो=वज्रधातुमहामंडल। त० ७४।

अमनुष्यों से काम लेते थे। क्रियागण और साधारणसिद्धि पर अधिकार प्राप्त किया। उस समय तिब्बत के नरेश रिब्र-स्त्रोङ-ल्दे-बूचन (८०२—४५ ई०) ने द्बस् मंजुश्री आदि (को) आमंत्रित करने के लिये (दूत) भेजा; परन्तु (आर्य) मजुश्री के अनुमति न देने के कारण नहीं गये। उन्हें त्रिवर्ग क्रियायोग का उपदेश दिया। वज्रधातुसाधना योगावतार[1], वैरोचनाभिसम्बोधि[2] की संक्षिप्त वृति और ध्यानोत्तरपटल[3] की टीकाएं लिखीं। उनके प्रवचनों पर लिखी गई और भी अनेक वृत्तियां हैं। परमसिद्धि न मिलने पर भी अचिर में ही (उनका) शरीर अन्तर्धान हो गया। कहा जाता है कि बुद्ध शान्ति भी कैलाश पर विराजमान हैं; परन्तु जान पड़ता है कि (वे) उद्यान को चले गये। प्रतीत होता है कि आचार्य कमलशील भी इस राजा के समय हुए थे, इसलिये (यह) नहीं समझना चाहिए कि (वे) इसके पूर्व (अथवा) पश्चात् हुए। राजा श्रीमद् धर्मपाल कालीन ३०वीं कथा (समाप्त)।

(३१) राजा मसुरक्षित, वनपाल और महाराज महीपाल के समय में घटी कथाएं।

तत्पश्चात् मसुरक्षित नामक (राजा) ने लगभग आठ वर्ष राज किया, यह राजा धर्मपाल का जामाता था। तदुपरान्त राजा धर्मपाल के पुत्र वनपाल ने दस वर्ष राज किया। इनके (राज्य) काल में आचार्य तार्किक, धर्मोत्तम, धर्ममित्र, विमलमित्र, धर्माकर इत्यादि प्रादुर्भूत हुए। इन दोनों राजाओं ने (बौद्ध) धर्म की बड़ी सेवा की, परन्तु नई कृति नहीं किये जाने के कारण (इन्हें) सात पालों में नहीं गिना जाता। तदनन्तर राजा वनपाल के पुत्र महीपाल (९७५-१०२६ ई०) का प्रादुर्भाव हुआ, (जिसने) ५२ वर्ष राज किया। मोटे हिसाब से इस राजा की मृत्यु के कुछ ही समय बाद, तिब्बत नरेश रिब्र-रल-प (८७७—९०१) का भी देहान्त हुआ। इस राजा के समय में आचार्य आनन्दगर्भ, संवृति और परमार्थ बौधिचित्त भावनाक्रम[4] के रचयिता अश्वघोष, (जो) प्रासंगिक माध्यमिक थे, आचार्य परहित, आचार्य चन्द्रपद्म इत्यादि प्रादुर्भूत हुए। जान पड़ता है कि आचार्य ज्ञानदत्त, ज्ञानकीर्ति आदि भी इस काल में आविर्भूत हुए। कश्मीर में विनयधर जिनमित्र (८५० ई०), सर्वज्ञदेव, दानशील (लगभग १२०३ ई०) इत्यादि प्रादुर्भूत हुए। प्रतीत होता है कि ये तीनों तिब्बत भी गये। सिद्ध तिल्लोपाद भी इस समय हुए, (जिनका) वृत्तान्त अन्यत्र मिलता है।

आचार्य आनन्दगर्भ का जन्म मगध में हुआ। (वे) वैश्यकुल (के थे)। (वे) महासांघिक सम्प्रदाय (और) योगाचार माध्यमिक मत (के थे)। (उन्होंने) विक्रम

१—र्दो-र्जे-द्ब्यिङस्-क्यि-स्ग्रुब-थबस्-यो-ग-ल-इजुग-प=वज्रधातुसाधनायोगावतार। त० ७४।

२—र्नम-स्नङ-मङोन-ब्यङ=वैरोचनाभिसम्बोधि। त० ७७।

३—ब्सम-ग्तन-फ्यि-मडि-र्ग्यस-ङ्ग्रेल=ध्यानोत्तरपटल। त० ७८।

४—कुन-जोब-दोन-दम-ब्यङ-सेमस्-स्गोम-रिम=संवृत्ति-परमार्थ। बोधिचित्तभावनाक्रम त० १०२।

शिला में पांच विद्याओं[1] का अध्ययन किया। भंगल में राजसिद्ध प्रकाशचन्द्र के शिष्यगण-समस्त योगतंत्र का व्याख्यान कर रहे हैं, यह सुन, (वे) उस देश को चले गये। (वहां उन्होंने) सुभूतिपाल आदि अनेक आचार्यों के सम्पर्क में आकर, समग्र योगतंत्र में विद्वत्ता प्राप्त की। तत्पश्चात् द्वादश धुत-गुणों[2] से युक्त हो, (उन्होंने) अरण्य में साधना की। फलतः वज्रधातुमहामण्डल के दर्शन प्राप्त हुए, (और इष्टदेव से) शास्त्र की रचना करने का व्याकरण प्राप्त हुआ। अधिदेव से मनुष्य की भांति वार्तालाप करने लगे। (जब वे) विद्या (-मंत्र) शक्ति की सिद्धि प्राप्त होने के फलस्वरूप सब कार्यों का सम्पादन बिना रुकावट के करते और सिद्धि प्राप्ति के भी योग्य बन गये थे, तो मध्यदेश से आचार्य प्रज्ञापालित (इनकी) ख्याति सुनकर, धर्मोपदेश ग्रहण करने आये, और (इन्होंने) (उन्हें) अभिषिक्त कर तत्त्वसंग्रह[3] का उपदेश दिया। (इन्होंने) आचार्य (प्रज्ञापालित) के लिये वज्रोदय[4] की रचना की। प्रज्ञापालित के द्वारा मध्यदेश में (इस ग्रंथ का) उपदेश देने पर राजा महीपाल ने सुना और पूछा:—"यह धर्म कहां से सुना?" (आचार्य प्रज्ञापालित ने) बताया:—"क्या (आप) नहीं जानते कि (यह धर्म) अपने देश में विराजमान है। भंगल में आचार्य आनन्दगर्भ वास कर रहे हैं; (मैंने) उनसे सुना है।" राजा ने श्रद्धा उत्पन्न हो, (आचार्य को) आमंत्रित किया। मगध के दक्षिण (भाग) में ज्वालागुहा[5] के पास ओचयन चूड़ामणि नामक देवालय में आमंत्रित किया। (वहां) गुह्यमंत्र का उपदेश सुननेवाले काफी संख्या में आये। (आचार्य ने) तत्त्वसंग्रह की टीका तत्त्वदर्शन[6] आदि अनेक शास्त्र रचे। ओडिविश के राजा वीरचर्य ने, (जो) महीपाल का चचेरा भाई था, पहले राजा मुंज के निवास स्थान में स्थित एक विहार में आमंत्रित किया। (वहां उन्होंने) श्रीपरमाद्यविवरण[7] की रचना की। इसके अतिरिक्त गुह्यसमाज आदि कितने ही तंत्रों पर वृत्तियां लिखीं। कुछ तिब्बतियों का कहना है कि (उन्होंने) १०८ योगतंत्रों पर वृत्तियां लिखीं। (परन्तु) योगतंत्र (की संख्या) उस समय आर्य देश में बीस तक भी न थी। प्रत्येक योगतंत्र पर एक-एक महाटीका (और) लघुटीका लिखने की बात विद्वानों ने अयुक्तियुक्त बतायी। अतः प्रतीत होता है, सौ की संख्या युक्तिसंगत नहीं है। उस समय आचार्य भगो आविर्भूत हुए, (जिन्होंने) वज्रामृत-तंत्र[8] के

१—रिग-ग्नस्-ल्ङ-पंचविद्यास्थान। ये हैं—शिल्प-विद्या, चिकित्सा-विद्या, शब्द-विद्या, हेतु-विद्या और अध्यात्म-विद्या।

२—स्ब्यङ्स्-पडि-योन-तन-ब्चु-ग्ञिस् = द्वादश धुत-गुण। द्वादश धुत-गुण ये हैं—(१) पांशुकूलिक (फेंके चीथड़ों को ही सीकर पहिनना), (२) त्राइचीवरिक (—तीन चीवर से अधिक न रखना), (३) नामटिक, (४) पिंड-पातिक (—मधुकरी खाना, निमंत्रण आदि नहीं), (५) एकासनिक, (६) खलुपश्चाद भक्तिक, (७) आरण्यक (—वन में रहना), (८) वृक्ष मूलिक, (९) आभ्यवकाशिक, (१०) श्माशानिक, (११) नाइषदिकः और (१२) याथा-संस्तरिक।

३—दे-खो-न-ञिद-ब्स्दुस्-प = तत्त्वसंग्रह। त० ८१।

४—र्दो-र्जे-ह्ब्युङ-व = वज्रोदय। त० ७४।

५—ह्बर-वडि-फुग = ज्वालागुहा।

६—दे-ञिद-स्नङ-व = तत्त्वदर्शन त० ५६।

७—दपल-म्छोग-दङ-पहि-ह्ग्रेल-छेन = श्रीपरमाद्यविवरण। त० ७२।

८—र्दो-र्जे-ब्दुद-चिहि-र्ग्युद = वज्रामृत-तंत्र। क० ३।

द्वारा सिद्धि प्राप्त की थी। अर्थात् पहले जब कश्मीर के कोई पण्डित गम्भीरवज्र नामक शीतवन श्मशान में, श्रीसर्वबुद्धसमयोग-तंत्र के द्वारा वज्रसूर्य की साधना कर रहे थे, तो उन्हें अंत में वज्रामृत महामण्डल के साक्षात दर्शन प्राप्त हुए। (इष्टदेव के) आशीर्वाद से (उन्होंने) साधारण सिद्धियों पर अधिकार प्राप्त किया। (उन्होंने इष्टदेव से) प्रार्थना की: "मुझे परम (सिद्धि) प्रदान करें।" (इष्ट ने) कहा: "उद्यान देश को चले जाओ। वहां धूमस्थिर नामक स्थान विशेष पर नील उत्पलवर्ण की एक स्त्री है, (जिसके) ललाट पर मरकत रत्न के आकार की रेखा है, उससे (तुम परमसिद्धि (ग्रहण करो।" वैसा ही हुआ भी। उस डाकिनी ने चतुः वज्रामृतमण्डल के रूप में (आचार्य को) अभिषिक्त किया (और) तंत्र का उपदेश देकर पुस्तक भी सौंप दी। उसमें (निर्दिष्ट) हेरुक की भावना करने पर (उन्हें) महामुद्रा की सिद्धि प्राप्त हुई। अनन्तर (वे) मालवा में रहने लगे। आठ भिखारियों (को) अधिकारी जानकर, (उन्होंने) अभिषिक्त कर, भावना करायी। आचार्य ने स्वयं श्मशान में आठ वेतालों की साधना कर, प्रत्येक (शिष्य) को दिया। फलतः उन (शिष्यों) ने भी एक-एक महासिद्धि प्राप्त की। और भी अनेक साधारण सिद्धियों की साधना कर, अन्य लोगों को प्रदान की। प्रसिद्धि है कि अपने लिये सिद्धि पानेवाले तो अनेक होते हैं, परन्तु औरों को (सिद्धि) दिलाने में समर्थ तो महतम सिद्ध को छोड़ (और) नहीं होते। फिर, किसी समय इन आचार्य के चार शिष्य थे। (आचार्य ने) प्रत्येक से चतुरामृत मण्डल की साधना करायी। निष्पन्न-क्रम का भी उपदेश देने पर (वे) वज्रकाय (को) प्राप्त हो, अन्तर्धान हो गये। अनन्तर आचार्य वज्रगुह्य (को) अनुगृहीत कर, उन्हें अभिषेक, तंत्र (और) उपदेश देकर, जगतहित के लिये देवलोक चले गये। आचार्य अमृतगुह्य भी एक सिद्धिप्राप्त महायोगी थे। (उन्होंने) लगभग आठ निधिकुम्भ की साधना कर, सब दरिद्र लोगों की तृप्ति की। आकाश देवता से धन प्राप्त कर, आठ बड़ी-बड़ी धार्मिक संस्थाओं का नित्य सरक्षण करते थे। ये किस राजा के काल में हुए, (इसका कोई) स्पष्ट (उल्लेख उपलब्ध) नहीं है; परन्तु निम्न-युक्ति से मिलाने से स्पष्ट होता है कि (ये) राजा देवपाल के (समय) तक प्रादुर्भूत हो चुके थे। उनके शिष्य आचार्य भगो थे, (जिन्होंने) वेताल सिद्धि प्राप्त की। इसकी सहायता से अनेक निधि भद्रकलशों की साधना कर, सब चातुर्दिश लोगों की तृप्ति की। प्रयाग के पास तथागत पंचकुल (पंचध्यानी बुद्ध) का एक विशाल मन्दिर और दक्षिण कर्णाट में वज्रामृत का एक विशाल मन्दिर बनवाया और पण्डित विमल भद्र आदि को तंत्र का भी उपदेश दिया। कहा जाता है कि उन आचार्यों की कृपा से मगध में भी इस तंत्र का विशेष विकास हुआ। राजा मसुरक्षित, वनपाल और महाराज महीपाल के समय घटी ३१वीं कथा (समाप्त)।

(३२) राजा महापाल और चामुपाल कालीन कथाएं।

इसका पुत्र राजा महापाल है। इसने ४१ वर्ष राज किया। (वह) ओदन्तपुरी विहार में, श्रावक संघ का मुख्यतः सत्कार करता तथा पांच सौ भिक्षुओं और पचास धर्म-कथिकों की जीविका का प्रबंध करता था। (इसने इस विहार की) शाखा के रूप में, उरुवास नामक विहार बनवाया। वहां (वह) पांच सौ सैन्धव श्रावकों के भोजन की भी व्यवस्था करता था। विक्रमशिला को पूर्व-परिपाटी (को) ही मानकर, पूज्य-केन्द्र बनवाया। श्री नालन्दा में भी कुछ धार्मिक संस्थाएं स्थापित कीं। सोमपुरी, नालन्दा, त्रिकटु विहार इत्यादि में भी अनेक धार्मिक संस्थाएं स्थापित कीं। राजा महीपाल के जीवन के उत्तरार्ध (काल) में, आचार्य पि-टो ने कालचक्र तंत्र लाकर, इस

राजा के समय (इसका) प्रचार किया। तार्किक अलंकार पण्डित या प्रज्ञाकर गुप्त, योगपा(-द) पद्मांकुश, महान् जितारि, कृष्ण समय वज्र, आचार्य थगन इत्यादि प्रादुर्भूत हुए।

आचार्य पि-टो का वृत्तान्त अन्यत्र मिलता है। जान पड़ता है कि इनके शिष्य काल-चक्रपाद भी इस राजा के समय हुए। इस राजा की मृत्यु के बाद, इसके जामाता शामुपाल ने १२ वर्ष राज किया।

आचार्य जितारि (का वृत्तान्त)—पहले राजा वनपाल के राज करते समय पूर्व दिशा (के) वारेन्द्र में, सनातन नामक एक छोटा-मोटा शासक हुआ। उसके एक पटरानी (थी, जो) रूपवती और बुद्धिमती थी। वह (राजा) भी उसे बहुत मानता था। नहाते समय भी (वह अपनी रानी को) सुवर्ण-कच्छप पर रखता (और) अन्य लोगों की दृष्टि से छिपाकर रखता था। राजा ने ब्राह्मणकुल के आचार्य गर्भपाद से गुह्यसमाज का अभिषेक ग्रहण किया, (और गुरु) दक्षिणा में उक्त रानी, अश्व, सुवर्ण, गज इत्यादि समर्पित किये। किसी दूसरे समय उस (रानी) को (आचार्य) गर्भपाद का एक लक्षण-सम्पन्न पुत्र उत्पन्न हुआ। सात वर्ष की अवस्था में, (बालक को) ब्राह्मणलिपि शिक्षण पाठशाला में भेजा गया। किसी समय अन्य ब्राह्मण के लड़कों ने उसको यह कह कर मारा कि "तुम नीचकुल के हो।" कारण पूछने पर (लड़कों ने बताया कि:)—"तुम्हारा पिता बौद्ध मन्त्रिन होने के कारण (वह) क्षुद्र संन्यासी (को) शीर्षासन पर बैठाता है। वह पूजन के समय बिना ऊंच-नीच के भेदभाव (सब को) खिचड़ी करता है।" इस प्रकार, बहुत तंग किये जाने पर वह रोता हुआ घर लौटा। पिता के पूछने पर (उसने) यथाघटी (स्थिति) बतायी। (पिता ने:) "अच्छा, उन्हें पराजित करना चाहिए।" कह (अपने पुत्र को) मंजुश्रीघोष का अभिषेक दिया, (और) अनुज्ञा देकर, (उससे) साधना करायी। एक वर्ष के लगभग बीतने पर (उसको) समाधि के शुद्धाभास की वृद्धि हो, सिद्धि (प्राप्ति) का लक्षण प्रकट हुआ। कुटिया के बाह्यान्तर सर्वत्र लाल-पीले प्रकाश फैले। मां खाना पहुँचाने आई, तो यह (दृश्य) देखकर सोचा कि "कुटिया में आग लग गई है।" (मां के) आर्तस्वर में क्रदन करने पर (उसकी) समाधि भंग हो गई और प्रकाश भी गायब हो गया। इस पर पिता ने कहा कि: "(यदि) उस शुद्धाभास (की अवस्था) में सात दिनों तक रहने दिया जाता, तो (वह) स्वयं आर्य मंजुश्री के समकक्ष बनता; परन्तु कुछ बाधा पड़ गई है। लेकिन फिर भी सम्पूर्ण विद्यास्थानों में (उसकी) बुद्धि अबाधगति की (और) विकसित होगी।" वैसा हुआ भी। लिपि, सबशिल्प, छन्द, अभिधान इत्यादि का ज्ञान बिना सीखे ही (उसे) हो गया। और भी विद्यास्थानों को (दो-एक बार) पढ़ने मात्र से और अत्यन्त कठिन (विषयों का) दो-एक बार देख लेने से सब का ज्ञान हो जाता और (आगे चल कर वह) पण्डितेश्वर बन गया। (वे) आजीवन उपासक रहे। (उन्होंने) पिता को जितना गुह्यसमाज, सम्बर, हे (व्रज) इत्यादि (का ज्ञान था, सब) अध्ययन कर लिया। और भी अनेक (आध्यात्मिक) गुरुओं का सेवन किया। विशेषकर (वे) सब धर्म स्वयं आर्य मंजु-श्री से श्रवण कर सकते थे। ब्राह्मण गर्भपाद के निधन के उपरान्त, राजा महीपाल के समय (उन्हें) राजा का (प्रमाण) पत्र नहीं मिला। अतः, (वे) विभिन्न देशों में, देवालयों की वन्दना करने और पण्डितों से विद्या (की) प्रतियोगिता करने के लिये चले गये। एक बार (जब) खसर्पण गये, द्वार पर एक अचल की मूर्ति (को) देखा, (जो) अत्यन्त क्रोधित (मुद्रा में थी)। "ऐसा राक्षसी रूपवाला।" सोच (उनके मन में) अश्रद्धा उत्पन्न हुई। स्वप्न में मुनीन्द्र के वक्षस्थल से अनेक अचल फैलाकर, दुष्टों (का) दमन करते देखा।

"बुद्ध के उपाय-कौशल के प्रति अश्रद्धा की है।" सोच (उनके) प्रायश्चित करने पर तारा ने दर्शन दिये (और) कहा: "तुम महायान के अनेक शास्त्र रचो, पाप धुल जायगा।" तब कालान्तर में, राजा महीपाल के समय वृक्षपुरी नामक एक पुनीतस्थान (आचार्य को) भेंट किया गया। विक्रमशिला का पाण्डित्य-पत्र भी भेंट किया गया, और (आचार्य ने) अनेक धर्मोपदेश दिये। (उनकी) ख्याति खूब हुई। (उन्होंने) शिक्षा-समुच्चय, (बोधि-) चर्यावतार, आकाशगर्भ सूत्र इत्यादि (पर) एक-एक लघु टीका भी लिखी। सूत्र (और) मंत्र(-यान संबंधी) लगभग १०० विविध शास्त्रों की रचना की।

कालसमयवज्र, आचार्य बुद्धज्ञानपाद की धर्म-परम्परा (को) माननेवाले थे। सागल देश के किसी एकान्त स्थान में, हेवज्र का एक चित्र-पट फैला, (वे) एकाग्र (चित्त) से साधना कर रहे थे। अनेक वर्ष बीतने पर, जब (वे) स्वयं मण्डल के प्रभास पर एकाग्रचित्त से (ध्यान) स्थित थे, तब (उनकी) विद्या ने चित्र-पट के समक्ष एक हिलती हुई (वस्तु) देखी। आचार्य को सूचित करने पर (उनका) ध्यान टूट गया, और उस हिलोर को हाथ से छूने पर मनुष्य का एक शव पाया। सिद्धि का द्रव्य जानकर, बिना संकोच के (उन्होंने उसका) भक्षण किया। फलतः (वे) सुख (और) शून्यतात्मक ध्यान में सात दिन लीन रहे। जाग्रत होने पर हेवज्र मण्डल के साक्षात दर्शन मिले, (और उन्होंने) अपार शक्ति पर अधिकार प्राप्त किया। राजा महापाल और शामुपाल के समय घटी ३२वीं कथा (समाप्त)।

(३३) राजा चणक कालीन कथाएं।

तत्पश्चात् राजा महापाल के ज्येष्ठपुत्र श्रेष्ठपाल नाक (को) राजगद्दी पर बैठाया गया और तीन वर्ष के बाद (उसका) देहान्त हो गया। कोई हस्तचिह्न (कृति) नही रहने से (वह) सात पालों में नहीं गिना जाता है। महापाल के जीवन (के) उत्तरार्ध (काल में) या उस समय, तिब्बत में, (बौद्ध) धर्म (का) उत्तर (कालीन) विकास का आरम्भ होना मोटे हिसाब से समसामयिक मानना चाहिए। उस समय ब्राह्मण ज्ञानपाद भी प्रादुर्भूत हुए। कहा जाता है कि छोटे कृष्णचारिन के भी जीवन का उत्तरार्धकाल है। (महापाल का) कनिष्ठ पुत्र केवल १७ वर्ष का था, इसलिये इस बीच उनके मामा चणक ने राज किया। (उसने) अपने (राज्य) काल में आचार्य शान्ति पा(द) आदि (को) आमंत्रित किया, और छै द्वार पण्डितों की संज्ञा प्रादुर्भूत हुई। (उसने) राज भी २९ वर्ष किया। तुरुष्क राजा के साथ युद्ध छेड़ने पर भी (उसकी) विजय हुई। एक समय भंगल वासियों ने विद्रोह किया (और) मगध पर चढ़ाई की। विक्रमशिला के बलि आचार्य ने अचल की महाबलि बनाकर गंगा में उसका विसर्जन किया। फलतः भंगल से नाव पर आ रहे तुरुष्कों की बहुत-सी नाव डूब गई। राजा ने (तुरुष्कों को) विजित कर, (अपने) अधीन कर लिया और (अपने) राष्ट्र (में) उन्हें सुख पहुँचाया। अनन्तर (उसने) अपने पोता राजा महीपाल के कनिष्ठ पुत्र भेयपाल (को) राजगद्दी पर बैठाया, और (वह) भंगल के पूर्वी समुद्र और गंगा के संगम के भाटि नामक देश में, (जो) द्वीप के सदृश (था) रहने लगा। पांच वर्ष बाद (उसका) देहान्त हुआ। उस समय आविर्भूत छै द्वार-पण्डितों (में) से पूर्वी द्वार-पण्डित आचार्य रत्नाकर शान्ति पा(-द) (९७४--१०२९) के वृत्तान्त की जानकारी अन्यत्र प्राप्य है। दक्षिण द्वार-पण्डित प्रज्ञा-करमति,[1] सब विद्यास्थानों में प्रवीण और मंजुश्री के दर्शन-प्राप्त (थे)। कहा जाता

१—दूसरे भोटिया ग्रंथों में वागीश्वर के दक्षिण दिशा के द्वार-पण्डित होने का उल्लेख मिलता है।

है कि जब (वे) तीर्थिक से शास्त्रार्थ करते थे, तो मंजुश्री के एक चित्र की पूजा करने तथा प्रार्थना करने मात्र से (उनके) मन में एक ही बार में (इन बातों का) स्मरण हो आता था कि तीर्थिक कौन-सा विवाद उपस्थित करेगा और उसका उत्तर (क्या देना चाहिए)। फिर शास्त्रार्थ करते समय (वे) निश्चय ही विजयी होते थे। (ये) अनेक भ्रम भी दृष्टिगत होते हैं कि (लोग) प्रज्ञाकर मात्र के नाम से भ्रम में पड़कर, प्रज्ञाकरमति और प्रज्ञाकरगुप्त (को) एक (ही व्यक्ति) मान लेते हैं। ये (प्रज्ञाकरमति) भिक्षु थे और प्रज्ञाकरगुप्त उपासक, ऐसा विद्वानों में प्रसिद्ध है।

पश्चिमी द्वार-पण्डित आचार्य वागीश्वर कीर्ति का जन्म वाराणसी में हुआ था। (वे) क्षत्रिय थे। महासांघिक सम्प्रदाय में प्रव्रजित हुए। (अपने) उपाध्याय के द्वारा रखा गया उनका नाम शीलकीर्ति है। जब (वे) व्याकरण, प्रमाण और अनेक ग्रंथों का ज्ञान रखनेवाले पण्डित बन गये, (तब इन्होंने) कोंकन में जिन भद्र के अनुचर हंसवज्र नामक (आचार्य) से चक्रसंवर (का उपदेश) ग्रहण किया, और मगध के एक भूभाग में साधना करने पर उन्हें स्वप्न में (चक्रसम्वर के) दर्शन मिले। वागीश्वर की साधना करने से सिद्धि मिलेगी या नहीं (इसका) परीक्षण करने पर (उन्हें) ज्ञात हुआ कि सिद्धि मिलेगी। (इन्होंने) गंगा के तट पर साधना की और ध्वनि और प्रकाश फेंकनेवाले करवीर के लोहित पुष्प (को) गंगा में फेंका। अनेक योजनों (तक) बह जाकर, फिर ऊपर लौटा, तो (इन्होंने) जल सहित उसे खा लिया। फलतः (ये) महावागीश्वर बन गये। प्रतिदिन सहस्त्र श्लोकों के परिमाण वाले ग्रंथ के समस्त अर्थों का ज्ञान रख सकने वाली बुद्धि (उनमें) हुई, इसलिये (इनका) नाम वागीश्वर कीर्ति रखा गया। (ये) समग्र सूत्रों, मत्रों (और) विद्याओं में निष्णात हो गये। व्याख्यान करने, शास्त्रार्थ करने (और शास्त्रों की) रचना करने में (इनकी) अबाध गति (थी)। विशेषतया आर्यातारा के अक्सर दर्शन मिलते और (तारा से सब) सन्देह दूर कराते थे। जब (ये) विभिन्न देशों का भ्रमण कर, अनेक तीर्थिकवादियों (को) पराजित करनेवाले प्रतिभाशाली बन जाने के कारण (इनकी) ख्याति खूब फैली हुई थी, राजा ने (इन्हें) आमंत्रित कर, नालन्दा और विक्रमशिला के पश्चिमी द्वार (पण्डित) के रूप में नियुक्त किया। (ये) गणपति से धन प्राप्त कर, नित्य प्रतिदिन अनेक मन्दिरों और संघों की पूजा करते थे। (इन्होंने) प्रज्ञापारमिता की आठ धार्मिक संस्थाएं, गुह्यसमाज की व्याख्यान (-शाला) चार धार्मिक संस्थाएं, (चक्र) सम्वर, हे (वज्र), चतुष्पीठी माया की व्याख्यान (शाला), एक-एक धार्मिक सस्था, माध्यमिक (और) प्रमाण की विविध धार्मिक संस्थाओं सहित अनेक शिक्षण-सस्थाएं स्थापित की। (इन्होंने) अनेक रसायनों की साधना कर और लोगों को प्रदान किया। फलस्वरूप (लोग) १५० वर्ष की अवस्था तक जीवित रह सकते थे। बूढ़े को भी जवान में परिणत करने आदि (परहितकार्यों) से (इन्होंने) ५०० प्रव्रजित और धर्मात्म गृहस्थों का उपकार किया। युक्ति समूह, पारमिता, सूत्रालंकार, गुह्यसमाज, हेवज्र, यमारि, लंकावतार इत्यादि कतिपय सूत्रों का नित्य प्रतिदिन उपदेश देते थे। और भी अनेक धर्मोपदेश देते थे। तीर्थिकवादियों को पराजित करने में (इनकी) बुद्धि अति प्रखर होने से पश्चिम से आये हुए ३०० प्रतिवादियों (को) परास्त किया। घट (के) जल में (उनके) दृष्टिपात करने से जल तत्काल उबलता और मूर्ति में (अपना) विज्ञान प्रविष्ट कराने से (मूर्ति) हिलने-डोलने लगती थी। एक बार राजा के लिये मण्डल बनाया गया था। मण्डल के सामने ही (एक) हरिण पहुँचा। (इन के) योगबल से रक्षाचक्र बनाने पर (वह हरिण) सामा से लौट गया। इस प्रकार की अनेक विविध चमत्कारपूर्ण बातें उनमें विद्यमान थीं। एक बार किसी अवधूत नामक भिक्षु से (वे) धार्मिक चर्चा

कर रहे थे। उस (भिक्षु) ने वसुबन्धु के (ग्रंथ से) उद्धृत किया। इस रूप पर (उन्होंने) उपहास के तौर पर वसुबन्धु के सिद्धान्त पर व्यंग कसा। फलस्वरूप उसी रात को (उनकी) जीभ ही (में) सूजन हो गई, और (वे) धर्मोपदेश करने में असमर्थ हुए। इस रीति से कुछ महीने बीमार पड़ गये। तारा से पूछने पर (उन्होंने) कहा : "(यह) आचार्य वसुबन्धु का तिरस्कार करने का दण्ड (स्वरूप) है, इसलिये (तुम) उन्हीं आचार्य का स्तोत्र लिखो।" तदनुसार स्तोत्र की रचना करते ही (वे) चंगे हो गये। इस प्रकार (उन्होंने) विक्रमशिला में, अनेक वर्षों तक जगत-कल्याण सम्पन्न किया। जीवन के उत्तरार्ध (काल) में (वे) नेपाल चले गये। (वहां वे) मुख्यतः साधना में तत्पर रहते थे। मत्रयान का कुछ उपदेश दिया, और अधिक धर्मोपदेश नहीं दिया। (उनके) अनेक भार्याएं थीं, इसलिये प्रायः लोग यही सोचते थे कि : "(यह) शिक्षा (-पद) का पालन न कर सकने के कारण (यहां) आया है।" "एक बार राजा ने शान्तपुरी में चक्रसंवर का एक मन्दिर बनवाया। इसकी प्रतिष्ठा के अन्त में, एक भारी गणचक्र का आयोजन करने की इच्छा से (उसने) मन्दिर के बाहर अनेक मन्त्रिन् एकत्र कराये। आचार्य से (इसका) गणपतित्व कराने के निमित्त (उन्हें) बुलाने दूत भेजा। आचार्य की कुटिया के द्वार पर एक लावण्यसम्पन्न स्त्री और एक सांवले रंग की चण्डी कन्या थीं। (दूत ने) पूछा : "आचार्य कहां हैं ?" (उन्होंने) बताया : "भीतर हैं।" उसने भीतर जाकर (आचार्य से) कहा : "राजा ने (आप से) गणचक्र के अधिपति (का आसन ग्रहण करने के लिये) निवेदन किया है।" "(उन्होंने) कहा : "तुम शीघ्र चले जाओ; मैं भी अभी आ रहा हूँ।" वह शीघ्रतापूर्वक चला गया, तो शान्तपुरी के पास एक चौरास्ते पर आचार्य (अपनी) दोनों भार्याओं के साथ पहले ही पहुँच चुके थे, और कहा : "(हम) बहुत देर से तुम्हारी राह देख रहे हैं।" प्रतिष्ठा संबंधी गण-चक्र की समाप्ति के बाद मन्दिर के भीतर आचार्य अपनी दो भार्याओं के साथ बैठे थे, (और) साठ से अधिक व्यक्तियों के प्रसाद का हिस्सा लेकर (मन्दिर में) ले जाया गया, तो राजा ने सोचा : कि "भीतर केवल तीन व्यक्ति हैं; इतने गणद्रव्य (—प्रसाद) की क्यों आवश्यकता हुई ?" (यह) विचार कर, द्वार की दरार से झांका, तो (उसने) देखा कि चक्रसम्वर के ६२ देवतागण का मण्डल साक्षात् विराजमान हो, प्रसाद का उपभोग कर रहा है। वहीं आचार्य प्रकाशमय शरीर में परिणत हो गये। कहा जाता है कि आज भी उस (पुनीत) स्थान में विराजमान हैं। तिब्बती इतिहासों में उल्लिखित है कि दक्षिण-द्वार-पाल (द्वारपण्डित) वागीश्वर कीर्ति हैं और पश्चिम द्वार-पाल प्रज्ञाकर। परन्तु, यहां भारत के तीन समान लेखों के अनुसार यह विवरण प्रस्तुत किया गया है।

उत्तर (दिशा) के द्वार-पाल (द्वार पण्डित) नाडपा (-द) (मृत्यु १०३९ ई०) थे। इनका वृत्तान्त अन्य स्थल में जाना जा सकता है। इन आचार्य से कलिकाल-सर्वज्ञ शान्तिपा (-द) ने भी धर्मोपदेश सुना। अर्थात् जब आचार्य शान्तिपा (-द) अपने शिष्यों के साथ पूजा कर रहे थे, (तब) एक शिष्य बलि पहुँचाने (बाहर) गया था, तो (उसने) बलिवेदी पर एक भयावह योगी को (बैठे हुए) देख, बलि (को) जहां-तहां फेंक दिया, (और) अत्यन्त भयभीत हो, भीतर आकर आचार्य से कहा। (आचार्य ने उन्हें) नाडपा (-द) जानकर आमंत्रित किया। उस समय (आचार्य ने नाडपाद के) चरण में रह, अनेक अभिषेक और अववाद-अनुशासनी ग्रहण की। पश्चात् भी बार-बार आदरपूर्वक (उनके दर्शन करते रहे)। कालान्तर में, जब शान्तिपा (-द) (को) सिद्धि प्राप्त हुई (और) नाडपाद एक कपाल धारणकर, सब लोगों से (भीख) मांगने का बहाना कर रहे थे, एक तस्कर ने कपाल में एक छुरी डाल दी। नाडपा (-द) के दृष्टिपात करने पर

(वह छुरी) पूर्णतः घी के रूप में गल गई और (उन्होंने उसे) पी डाला। चौरास्ते पर एक मरे हुए हाथी के शव में (नाडपाद ने) प्राण-प्रवेश कर श्मशान में पहुँचाया। जब उसी ओर से शान्तिपा(-द) आ रहे थे, नाडपा(-द) ने कहा: "मेरे योगी होने का यह प्रमाण है। क्यों अब (आप) महापण्डित भी (सिद्धि) प्रदर्शन करने में उत्साहित न होंगे?" आचार्य शान्तिपा(-द) बोले: "मैं और क्या जान सकता हूँ, परन्तु आप अनुमति देते हैं, तो करूँगा।" (यह) कह, सामने से कुछ जल-पात्र लिये आते हुए लोगों के जल में मंत्र लगा दिया, तो तत्काल वह पिघले सुवर्ण में बदल गया। वहां (उन्होंने उस सुवर्ण को) संघों और ब्राह्मणों को अलग-अलग बांटकर दे दिया। नाडपा(-द) भी कुछ वर्ष उत्तर-द्वार-पाल (का कार्य) कर, योगाभ्यास के लिये चले गये। तत्पश्चात् उनके स्थान पर स्थविर बोधिभद्र आये। ये ओडिविश में, वैश्यकुल में पैदा हुए। (ये) बोधिसत्त्व की चर्या से सम्पन्न, (बोधिसत्त्व) कुल में जागृत थे। (ये) युक्तिसमूह, चर्यागण और विशेषकर बोधिसत्त्व भूमि में पण्डित थे। अवलोकित के दर्शन प्राप्त कर ये (उनसे) प्रत्यक्षतः धर्मोपदेश सुनते थे।

केन्द्रवर्ती प्रथम महास्तम्भ ब्राह्मण रत्नवज्र (का वृत्तान्त):—पहले कश्मीर में, किसी ब्राह्मण द्वारा महेश्वर की साधना करने पर (उसे) भविष्यवाणी मिली: "तुम्हारे वंश में प्रख्यात विद्वानों का ही जन्म होगा।" ऐसा हुआ भी। उनमें २८ पीढ़ियों तक तीर्थिक हुए। २५वीं पीढ़ी में ब्राह्मण हरिभद्र (हुआ, जिसने) शासन का साक्ष्य रखकर, बौद्धों से शास्त्रार्थ किया। (वह) शास्त्रार्थ (में) पराजित हो, बौद्ध (धर्म) में दीक्षित हुआ। (वे) धर्म का भी अच्छा ज्ञान रखने वाले पण्डित बन गये। इनके पुत्र ब्राह्मण रत्नवज्र हैं। (ये) उपासक थे। (इन्होंने) तीस वर्ष (की अवस्था) तक कश्मीर में ही अध्ययन कर, समस्त सूत्र, मंत्र (-यान और) विद्याओं का ज्ञान प्राप्त किया। तत्पश्चात् मगध आकर, (इन्होंने अपना) अध्ययन समाप्त किया, और वज्रासन में साधना करने पर चक्रसम्वर, वज्रवाराही आदि अनेक देवताओं के उन्हें दर्शन मिले। राजा ने (इन्हें) विक्रमशिला के (प्रमाण-) पत्र से विभूषित किया। वहां भी (इन्होंने) मुख्यतः अनेकधा मंत्रयान, सप्तसेन-प्रमाण, पांच मैत्रेय-ग्रंथ इत्यादि का अध्यापन किया। अनेक वर्ष जगतहित सम्पादित किया। फिर कश्मीर चले गये, और (वहां इन्होंने) अनेक तीर्थिकों (को) शास्त्रार्थ में पराजित कर, बुद्धशासन में स्थापित किया। युक्ति-समूह, सूत्रालंकार, गुह्यसमाज इत्यादि की कुछ व्याख्यानशालाएं भी स्थापित कीं। जीवन के उत्तरार्ध (काल) में (ये) पश्चिम उद्यान को चले गये। कश्मीर में, तीर्थिक सिद्धान्त में निपुण, महेश्वर का दर्शन प्राप्त एक ब्राह्मण रहता था। उसे पर्वतदेवता ने भविष्यवाणी की: "तुम उद्यान को चले जाओ, (जहां तुम्हें) महान् सफलता मिलेगी।" उद्यान पहुंचने पर रत्नवज्र से भेंट हुई। शासन को साक्षी देकर, शास्त्रार्थ करने पर रत्नवज्र की विजय हुई। उसने बुद्धशासन में दीक्षित हो, (अपना) नाम गुह्यप्रज्ञा रखवाया। मंत्रयान की शिक्षा प्राप्त करने पर बाद में (उसे) सिद्धि भी मिली। ये वह (व्यक्ति) हैं, जो तिब्बत गये थे, (और) आचार्य लोहित (के नाम) से प्रसिद्ध थे। कश्मीर निवासियों का कहना है कि ब्राह्मण रत्नवज्र उद्यान (देश) में ही प्रकाशमय शरीर को प्राप्त हुए। रत्नवज्र के पुत्र महाजन (हैं)। इनके पुत्र सज्जन हैं (जिन्होंने) तिब्बती (बौद्ध) धर्म की परम्परा की भी बड़ी सेवा की।

मध्यवर्ती द्वितीय महास्तम्भ ज्ञान श्री मित्र (थे) जो द्वयान्तनिवृत्ति (नाम) शास्त्र के प्रणेता थे। (ये) श्रीमत् अतिश (-दीपंकर श्री ज्ञान) के भी कृपालु गुरु थे।

इनका जन्म गौड में हुआ था। पहले (ये) सिन्धव-श्रावक सम्प्रदाय के त्रिपिटक के प्रकाण्ड विद्वान थे। पश्चात् महायान की ओर झुके, और नागार्जुन तथा असंग के सभी ग्रंथों का विद्वत्तापूर्वक अध्ययन किया। वे अनेक गुह्यमंत्र (यान संबंधी) तंत्र (ग्रंथों) के भी ज्ञाता थे। विशेषकर सूत्र (और) तंत्र के बहुश्रुत थे। नित्य बोधिचित्त का अनुशीलन करते थे। भगवान् शाक्यराज, मैत्रेय और अवलोकित के बार-बार दर्शन मिलते थे। (और) ये अभिज्ञा सम्पन्न थे। एक बार, जब विक्रमशिला में थे, (इन्होंने अपने) एक शिष्य श्रामणेर से कहा: "तुम अभी शीघ्र जाओ। परसों मध्याह्न में गया नगर में पहुंच जाना। वज्रासन के संघों और पुजारियों (को) वहा किसी ब्राह्मण के द्वारा उत्सव में निमंत्रित किया जानेवाला है। (उनकी अनुपस्थिति में) महाबोधि के गन्धोल को आग का क्षति पहुंचनेवाली है। अतः (तुम) उन (को) ले जाकर अग्नि का शमन करो।" उसके (गया) पहुंचने पर भविष्यवाणी के अनुसार वज्रासन (के भिक्षुओं) से भेंट हुई। (उसने) कहा: "मेरे आचार्य ने व्याकरण किया है, (तुम लोग) वापस चलो।" (इस पर) आधे ने विश्वास नहीं किया, और (वही) रह गये। शेष आधे के साथ (जब वह) वज्रासन पहुचा, तो वज्रासन के गन्धोल में आग लगने के कारण बाहर (और) भीतर सर्वत्र (आग) भड़क रही थी। वहां देव से प्रार्थना करते हुए आग बुझाने पर देवालय (को) अधिक क्षति न पहुंची। मिटे हुए (भित्ति-) चित्र और झुलसी हुई लकड़ियों का आचार्य ने जीर्णोद्धार किया। अन्य अनेक (इनके द्वारा) जीर्णोद्धारित तथा नवनिर्मित अनेक धार्मिक संस्थाएं मगध एवं भंगल में वर्त्तमान हैं। ये छः द्वार-पण्डित राजा भेयपाल के राज्य के आरम्भिक काल में भी मौजूद थे।

राजा चणक ने (बुद्ध) शासन की बड़ी सेवा की, परन्तु पालवंशीय न होने के कारण सात (पालों) में (वह) गिना नहीं जाता।

इस समय से लेकर कश्मीर में प्रमाण (-शास्त्र) का विपुल प्रचार होने लगा। तार्किक रविगुप्त भी आविर्भूत हुए। राजा चणक कालीन ३३वीं कथा (समाप्त)।

(३४) राजा भेयपाल और नयपाल (१०२६—१०४१ ई०) कालीन कथाएं।

तत्पश्चात् राजा भेयपाल ने ३२ वर्ष के लगभग राज किया; परन्तु (इसने) पूर्व-परम्परा (को) अक्षुण्ण रखने के सिवाय (बुद्ध) शासन की खास सेवा नहीं की। विक्रम-शिला में केवल ७० पण्डितों के (प्रमाण-) पत्र की व्यवस्था थी। अतः यह भी सात पाल में नहीं गिना जाता। इस राजा के समय, छः द्वार-पण्डितों के निधन के बाद, स्वामी श्रीमत् अतिश (के नाम) से प्रसिद्ध, दीपंकर श्रीज्ञान (१०४१ ई०) (को) मठाधीश पद के लिये आमंत्रित किया गया। इस (राजा) ने ओदन्तपुरी का भी संरक्षण किया। इसके अचिर में ही अधिपति मैत्रेय का कार्य (-क्षेत्र) भी बढ़ने लगा। जब मैत्रेय श्रीपर्वत से लौटे, शान्तिपा (-द) आदि छः द्वार-पण्डितों का समय बीते कुछ वर्ष हो चुके थे। अतः पिछले दोहा कथिकों का वृत्तान्त संदिग्ध तथा निरर्थक है। यही नहीं, दोहा के भूले-भटके विवरणों में मैत्रीपा (-द को) कृष्णाचार्य का अवतार माना गया है। ज्वालापति चर्याधरकृष्ण नाम वर्णन पर (जो) मिश्रित और अस्पष्ट (है,) पक्षपातवश विश्वास कर, चर्याधरकृष्ण को कृष्णाचार्य से भिन्न मानना भी निरर्थक है। आचार्य अमितवज्र के उन कतिपय लघु-ग्रंथो का अवलोकन कर लो ताकि (यह) भ्रम दूर हो जाय।

राजा भेयपाल का पुत्र नयपाल था। प्रामाणिक इतिहासों में उल्लिखित है कि स्वामी (-दीपंकर श्रीज्ञान) की तिब्बत यात्रा के समय यह राजगद्दी पर बैठा ही था। नेपाल से (दीपंकर श्रीज्ञान द्वारा) इसके (नाम) प्रेषित एक सन्देश-पत्र भी उपलब्ध है। (इसने) ३५ वर्ष राज किया। इसके राजगद्दी पर बैठने के ६ वर्ष बाद, अधिपति मैत्रीपा (-द) का भी देहान्त हुआ। यह राजा महावज्रासनिक का भक्त था। इनके उपासक (जीवन) काल का नाम पुण्यश्री है (और) प्रव्रजित नाम पुण्याकरगुप्त। इसके अतिरिक्त (उस समय) अमोघवज्र, पूर्वदिशा में वीर्यभद्र अभिज्ञानी, देवाकरचन्द्र, प्रज्ञारक्षित तथा नाडपाद के अधिकांश साक्षात् शिष्य(-गण) विद्यमान थे। नाडपाद के साक्षात् शिष्य श्रीवर डोम्भिपा(-द) और कन्तपा (द) के वृत्तान्त अन्य (स्थल) में उपलब्ध हैं।

कसोरिपा(द), (जिन्होंने) वज्रयोगिनी की ही साधना की, और बादल के बीच से दर्शन देकर (वज्रयोगिनी ने) पूछा: "(तुम) क्या चाहते हो?" (इन्होंने) निवेदन किया: "(मुझे) अपना ही पद दिला दें।" यह कहने पर (वज्रयोगिनी इनके) हृदय में प्रविष्ट हो गईं, (और) तत्काल (इन्हें) अनेक सिद्धियां मिली। कहा जाता है कि श्मशानों में व्याघ्र, श्रृगाल आदि (को) नृत्य करते हुए (इनका) पूजन करते अनधिकारी दूर से देखते थे, और पास जाने पर ये अंतर्धान हो जाते थे।

रिरिपा(द), (ये) बहुत कम पढ़े-लिखे थे। श्री नाडपा(द) द्वारा (इन्हें) चक्रसंवर संबंधा उत्पत्ति (-क्रम और) सम्पन्न (-क्रम का) थोड़ा-बहुत उपदेश देने पर (इन्होंने) उसी की भावना की और सिद्धि प्राप्त की। किसी भी धर्म में अबाधगति की बुद्धि (इन्हें) उत्पन्न हुई। गैंडे आदि क्रूर वन्य जन्तु (को) बुलाकर, (वे उस पर) सवार होकर चलते थे। उस समय तुरुष्कों द्वारा युद्ध छेड़ने पर (इन्होंने) वाराणसी की पश्चिम दिशा में, किसी मार्ग में, द्रव्य (और) मंत्र का कुछ अनुष्ठान किया। तुरुष्कों के पहुंचते पर (उन्हें) हर पत्थर, पेड़, ढेला आदि मानव शव ही शव दिखाई पड़े, और (वे) लौट गये। वे दोनों ही ज्योतिर्मय शरीर को प्राप्त हुए।

प्रज्ञारक्षित, एक महापण्डित भिक्षु थे। (इन्होंने) नाडपाद का १२ वर्ष सेवन किया और (उनसे) पितृ-तंत्र और मातृ-तंत्र का अध्ययन किया। विशेषकर (ये) मातृ-तंत्र के पण्डित थे। विशेषतया चक्रसंवर में प्रकाण्ड पण्डित थे। (इन्होंने इस तंत्र की) चार टीकाओं और अनेक उपदेशों का ज्ञान प्राप्त किया। ओडन्तपुरी के पास किसी छोटे-से स्थान पर पांच वर्ष साधना करने पर चक्रसंवर-मण्डल, मंजुश्री, कालचक्र इत्यादि अपरिमेय इष्ट देवताओं के दर्शन प्राप्त हुए। कहा जाता है कि (इन्होंने) चक्रसंवर के अभिषेक ही ७० प्रकार के ग्रहण किये। (ये) अत्यन्त (आध्यात्मिक) शक्ति-सम्पन्न थे। विक्रमशिला पर एक समय, तुरुष्कों द्वारा आक्रमण करने पर (इन्होंने) चक्रसंवर की एक महाबलि का अनुष्ठान किया। फलतः संग्राम के बीच में लगातार चार बार भीषण वज्रपात हुआ। बहुत-से सेनापति और वीरों का संहार हुआ, और (बचे-खुचे आक्रमणकारी) लौट गये। आठ तीर्थिकवादियों के शास्त्रार्थ करने हेतु आने पर (इन्होंने) उन पर दृष्टिपात किया। फलतः (उनमें) छः गूंगे हो गये (और) दो अंधे। पश्चात् (फिर इन्होंने) उन्हें मुक्त भी कर दिया। चक्रसंवर की प्रधानता में, विपुल जगतहित सम्पादित कर, नालन्दा के किसी निकटवर्ती वन में, (इन्होंने) शरीर छोड़ दया। (इन्होंने) सात दिनों तक शरीर (को) बिना हिलाये रखने (को) कहा था, और शिष्यों ने तदनुसार (सुरक्षित) रखा। सात दिन बाद, शव ही अन्तर्धान हो गया।

रिरि का जन्म चण्डालकुल में हुआ था। जब भी नाडपाद के दर्शन होते, अपार प्रसन्नता और श्रद्धा के मारे वह स्तब्ध एवं मूर्छित हो जाता था। (इन्होंने) योगी बन, किसी समय प्रचुर साधन जुटाकर, नाडपाद से चक्रसंवर का अभिषेक ग्रहण कर, एकाग्र-(चित्त) से भावना की। फलत: केवल उत्पत्ति-क्रम की भावना करने से प्राणवायु सुषुम्ना में अवरुद्ध हो, चण्डी की अनुभूति उत्पन्न होने लगती थी। (नाडपाद ने) कहा कि: "पूर्व (जन्म) का संस्कार जाग्रत हुआ है।" अचिर में ही (उन्हें) परमसिद्धि प्राप्त हुई। (ये) नाडपाद के अनुचर होकर चलते समय भी धर्म श्रवण तथा आवश्यकता पड़ने पर (ही अपना) शरीर प्रगट करते थे, (नहीं तो) प्राय: अदृष्टरूप में चलते थे।

आचार्य अनुपमसागर भी उस समय प्रादुर्भूत हुए। (ये) सब विद्यास्थानों के और कालचक्र के पण्डित भिक्षु थे। (इन्होंने) आर्यावलोकित की साधना करते खसर्पण में, १२ वर्ष विक्षेप त्याग कर, वीर्य का आचरण किया, लेकिन कोई शकुन प्रकट न हुआ। एक बार स्वप्न में व्याकरण हुआ: "तुम विक्रमपुरी चले जाओ!" जब शिष्य साधुपुत्र के साथ (विक्रमपुरी) गये, तो उस नगरी के उत्सवों में (इन्होंने एक) महानाटक देखा। फलत: (इन्हें) सब दृश्य माया की भांति दर्शन होने की समाधि उत्पन्न हुई। आधी रात को अधिदेव ने अवधूति के वेश में आकर कहा: "पुत्र, तत्त्व तो यही है।" यह कहते ही (उन्हें) महामुद्रा की सिद्धि प्राप्त हुई। तत्पश्चात् (अपने) शिष्यों के निमित्त (इन्होंने) कुछ शास्त्र भी रचे। कहा जाता है कि सभी शिष्य षडंगयोगसमाधि अथवा अनुस्मृतिज्ञान प्राप्त थे।

उस समय तर्कनिपुण यमारि (७५० ई०) भी प्रादुर्भूत हुए। ये व्याकरण (और) प्रमाण के विशेषज्ञ होने के साथ ही सब विद्याओं के पण्डित थे, परन्तु (आर्थिक परिस्थिति के कारण परिवार के) तीन सदस्यों का भी भरण-पोषण न कर सकनेवाले अत्यन्त दरिद्र थे। पूर्वदिशा से वज्रासन को जानेवाले एक योगी ने मार्ग में, इनके यहां प्रवास किया। (इन्होंने योगी से अपनी) गरीबी का हाल सुनाया। (योगी ने) कहा: "आप पण्डित (होने के नाते) योगी का तिरस्कार कर, धर्म (उपदेश) न ग्रहण करेंगे। (अन्यथा) अर्थ प्राप्ति का उपाय मेरे पास है।" याचना करने पर (योगी) बोले: "पिचुल के फल और चन्दन के विलेपन आदि की तैयारी करें। ((मैं) वज्रासन से लौट कर उपाय करूंगा।" (लौट कर इन्होंने) वसुधारा का अधिष्ठान किया। उसने भी (वसुधारा की) साधना की। फलत: उसी साल से राजा (उन्हें) अधिक शक्ति प्रदान करने लगा। विक्रमशिला में (उन्हें) (प्रमाण-) पत्र से विभूषित किया गया।

लगभग उस समय कश्मीर में भी शंकरानन्द नामक ब्राह्मण हुए। (ये) सभी सिद्धान्तों और प्रमाण के प्रगाढ़ विद्वान् थे। (जब इन्होंने) धर्मकीर्ति का खंडन करने के लिए एक नवीन प्रमाण (शास्त्र) लिखने की सोची, तो स्वप्न में मंजुश्री ने कहा: "धर्मकीर्ति आर्य हैं, अत: (उनका) खंडन नहीं किया जा सकता। (उनकी कृति में) जो त्रुटियां दिखाई पड़ती हैं, वह तुम्हारी ही बुद्धि का दोष है।" यह कहने पर फिर (इन्होंने) प्रायश्चित किया, और (धर्मकीर्ति के) सप्तसेन पर वृत्तियां लिखीं। कहा जाता है कि (ये) महान सम्पत्तिशाली (और) भाग्यवान् थे। धर्मोत्तर की टीका में शंकरानन्द का प्रादुर्भाव हो चुकने का जो उल्लेख मिलता है, वह परहित भद्र के ग्रंथ में दी गई टिप्पणी की त्रुटि है। राजा भेयपाल और नयपाल के समय की ३४वीं कथा (समाप्त)।

(३५) आमूपाल, हस्तिपाल और क्षान्तिपाल के समय की कथाएं ।

नयपाल का पुत्र आम्रपाल है। उसने १३ वर्ष राज किया। इसके समय में, आचार्य रत्नाकरगुप्त वज्रासन के मठाधीश थे। जिस समय आम्रपाल की मृत्यु हुई, उस समय हस्तिपाल छोटा था। अतः, (इसके द्वारा) राज (-काज संभालने में) असमर्थ होने की (लोगों को) आशंका हुई, और चार मंत्रियों ने छोटा-सा कानून बनाकर आठ वर्ष के लगभग राज किया। तत्पश्चात् हस्तिपाल (को) राजगद्दी पर बैठाया गया, (जिसने) लगभग १५ वर्ष राज किया। तदुपरान्त उसके मामा क्षान्तिपाल ने १४ वर्ष राज किया। इन (राजाओं) के काल में, रत्नाकरगुप्त सौरि में विहार कर रहे थे। इन दो राजाओं के समय पिछले नयपाल के समय में चर्चित आचार्य भी अल्पसंख्या में वर्तमान थे। (यह वह समय था) जब मैत्रीपा(-द), दीपंकर श्रीज्ञान के शिष्य महापिटोपा (-द), धर्माकिरमति, भूसुक, माध्यमिकसिंह, मित्रगुह्य, जो पांच औरस (के नाम से जाने जाते) हैं, और भी ज्ञान श्रीमित्र इत्यादि ३७ धर्मकथिक पण्डित (एव) मणक श्री, कश्मीरी बोधिभद्र, नेपाल में फम-थिङ (दो) भाई, ज्ञानवज्र, भारतपाणि इत्यादि के जगत-कल्याण करने का समय है। गुह्य-समाजमण्डलविधि के रचयिता राहुलभद्र और नेपाल में भारत-दारिक नामक ना॰पाद के शिष्य भी हुए, जो लूईपाभिषेक विधि के प्रणेता थे। इन (दोनों को) आर्यदेव के पट्टशिष्य राहुल और महासिद्धदारिक मानने में सन्देह होते हुए भी वे (ही व्यक्ति) होने का निश्चय कर लेना आश्चर्य का विषय है। महापण्डित स्थिरपालतिलक्ष ने विक्रमशिला में प्रज्ञापारमिता पर व्याख्यान दिया। और भी सिद्ध-पण्डितों का भारी संख्या में आविर्भाव हुआ, लेकिन लगता है कि एकान्त प्रसिद्ध (पण्डितों) का और अधिक प्रादुर्भाव न हुआ होगा। यद्यपि इन तीन राजाओं के काल में, (बुद्ध) शासन का संरक्षण पूर्ववत् हुआ, तथापि (इनके द्वारा) आश्चर्यजनक कृत्य नहीं सम्पन्न होने के कारण (इनकी) गणना सात पालों में नहीं होती। आम्रपाल, हस्तिपाल और क्षान्तिपाल के समय की ३५वीं कथा(समाप्त)।

(३६) राजा रामपाल (१०५७—११०२ ई०) के समय की कथाएं।

हस्तिपाल का बेटा राजा रामपाल है। कौमार्यावस्था में ही राजगद्दी पर बैठाये जाने पर भी (वह) अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न और शक्तिशाली हुआ। उसके सिंहासनारूढ़ होने के तुरन्त बाद महान् आचार्य अभयाकरगुप्त (को) वज्रासन के मठाधीश के रूप में आमंत्रित किया गया। कई वर्ष बीतने पर (उन्हें) विक्रमशिला और नालन्दा के मठाधीश के रूप में आमंत्रित किया गया। उस समय (मठों की) व्यवस्था पहले से भिन्न हो गई थी। विक्रमशिला में १६० पण्डित और स्थायी रूप से रहनेवाले १,००० भिक्षु थे। पूजन आदि के अवसर पर ५,००० प्रव्रजित एकत्र होते थे। वज्रासन में ४० महायानी और २०० श्रावक भिक्षु स्थायीरूप से रहते थे, (जिनकी) आजीविका का प्रबन्ध राजा की ओर से होता था। कभी-कभी १०,००० श्रावक भिक्षु एकत्र हुआ करते थे। ओडन्तपुरी में भी १,००० भिक्षु स्थायी रूप से रहते थे। (यहां) महायान (और) हीनयान दोनों सम्प्रदाय वर्तमान थे। कहा जाता है कि कभी-कभी १२,००० प्रव्रजित एकत्र होते थे। समग्र महायानियों के शिरोमणि आचार्य अभयाकर थे। श्रावक भी महान् विनयधर कहकर (उनको) सादर प्रणाम करते थे। इन आचार्य का वृत्तान्त अन्यत्र उपलब्ध है। विशेषकर (इन्होंने) शासन का बड़ा सुधार किया। इनके रचित प्रवचनों का बाद में विपुल प्रचार हुआ। अन्तरावधि (में) उन विविध अप्रचलित जनश्रुतियों

का पालन न होकर इन आचार्य के प्रवचन का विशुद्धसिद्धांत आज भी भारतीय महायानियों मे विद्यमान है। परवर्ती आचार्य रत्नाकरशान्ति पा(-द) और ये आचार्य समय के प्रभाव से (बुद्ध) शासन (की सेवा और) जगतहित कम (कर सके; लेकिन) कहा जाता है कि विद्वता (में) पूर्ववर्ती महान आचार्य वसुबन्धु आदि के (ये) तुल्य थे। पिछले राजा धर्मपाल के निधन के बाद से भंगल राज्य, गंगा का उत्तरी नगर अयोध्या आदि यमुना नदी के सभी पूर्वी (और) पश्चिमी देश, वाराणसी से मालवा तक के प्रयाग, मथुरा, कुरु, पंचाल, आगरा, सगरो, दिल्ली इत्यादि में तीर्थिक, और विशेषकर म्लेच्छ-मतावलम्बियों (की संख्या में) अधिकाधिक (वृद्धि) होने लगी। कामरूप, तिरहुति और ओडिविश में भी तीर्थिकों का आधिक्य था। मगध में तो बौद्धों का पहले से कहीं अधिक विकास (हुआ)। (भिक्षु) संघ और योगियों के मठों (में) विशेषरूप से वृद्धि हुई। महान आचार्य अभयाकर ज्ञान, करुणा, (आध्यात्मिक) शक्ति और ऐश्वर्य सम्पन्न थे। अतः, (ये) सम्पूर्ण (बुद्ध) शासन का संरक्षण करनेवाले प्रसिद्ध आचार्यों में अन्तिम (आचार्य) कहलाते हैं, (जो इस कथन के) अनुरूप ही थे--(ऐसा) जान पड़ता है। अतएव, जिन (--बुद्ध) (और उनके आध्यात्मिक) पुत्रों सहित के आशय (को) भावी प्राणियों के लिये सन्देश के रूप में छोड़े गये के समान इनके विरचित विशिष्ट शास्त्रों का, षडलंकार के पश्चात् आविर्भूत आचार्यों के प्रवचन से बढ़कर आदर करना चाहिए। (और यह) प्रत्यक्षरूप से सिद्ध है (कि इनके सभी प्रवचन) सूक्त ही हैं। राजा रामपाल ने ४६ वर्ष राज किया। आचार्य अभयाकर के देहावसान के उपरान्त भी कुछ वर्ष राज किया। अनन्तर राजा ने (अपनी) मृत्यु से पूर्व (अपने) पुत्र यशपाल (को) राजगद्दी पर बैठाया (और) तीन वर्ष के पश्चात् रामपाल का देहान्त हुआ। तदुपरान्त यशपाल ने एक वर्ष राज किया। तत्पश्चात् लवसेन नामक मंत्री ने राज्य छीन लिया। उन दिनों विक्रमशिला में आचार्य शुभाकरगुप्त और वज्रासन में र्च-मि बुद्धकीर्त्ति विद्यमान थे। र्ग-दुभाषिया के विवरण के अनुसार उनकी तिब्बत वापसी के समय भी अभयाकर वर्तमान थे। लेकिन, जान पड़ता है कि पहले आचार्य अभयाकर से भेंट होकर चिरकाल तक उनकी सेवा करने का अवकाश न मिला था। (इनके) तिब्बत पहुचते समय लवसेन राजगद्दी पर था। यक्षसेन के बाद पालवंशीय अनेक साधारण राजवंश हुए, और यद्यपि आज भी (इनका) अस्तित्व है, तथापि राजगद्दी पर बैठने में कोई सफल न हुआ। कहा जाता है कि ये सब पालवंशीय राजा सूर्यवंश के हैं। चन्द्रवंश और सेनवंश दोनों की परम्परा एक ही अर्थात् चन्द्रवंश है। राजा रामपाल के समय को ३६वी कथा (समाप्त)।

(३७) चार सेन राजा आदि के समय की कथाएं।

लवसेन के बेटा काशसेन, उसके बेटा मणितसेन (और) उसके बेटा राथिक सेन का प्रादुर्भाव हुआ। प्रत्येक ने कितने वर्ष राज किया (इसका कोई) स्पष्ट (उल्लेख उपलब्ध) नहीं है; लेकिन चारों के मिलाकर केवल ८० वर्ष के आसपास हुए। इनके समय में शुभाकरगुप्त, रविश्रीज्ञान, नयकप श्री, दशबलश्री और इनसे कुछ पश्चात् के धर्माकर शान्ति, श्रीविश्रुतदेव, निष्कलंकदेव, धर्माकरगुप्त इत्यादि अनेक सिद्धपण्डितों ने बुद्धशासन का संरक्षण किया, जो अभयाकर के अनुचर थे। राजा राथिकसेन के समय कश्मीरी महापण्डित शाक्यश्रीभद्र (११२७--१२२५ ई०), नेपाली बुद्धश्री, महान् आचार्य रत्नरक्षित, महापण्डित ज्ञानाकरगुप्त, महापण्डित बुद्ध श्रीमित्र, महापण्डित संगमज्ञान, रविश्रीभद्र, चन्द्राकरगुप्त इत्यादि अनेक वज्रधर (-वज्रयानी) भिक्षु प्रादुर्भूत हुए, जो प्रवचन-सागर के पारंगत थे। (ये) चौबीस महन्त (के नाम) से प्रसिद्ध थे।

महापण्डित शाक्यश्री का वृत्तान्त प्रसिद्ध है। नेपाली बुद्धश्री ने भी विक्रमशिला में कुछ (समय के लिये) महासांघिक निकाय के स्थविर (पद को ग्रहण) किया। फिर (इन्होंने) नेपाल में पारमिता और गुह्य-मंत्र (यान) आदि के अनेक उपदेश दिये। (ये) स्वच्छन्दतापूर्वक आचरण करते थे।

महान आचार्य रत्नरक्षित पारमितायान और सामान्य विद्यास्थानों में शाक्य श्री के तुल्य ज्ञान रखते थे। कहा जाता है कि प्रमाण में शाक्यश्री अधिक विद्वान (थे और) गुह्य-मंत्र में ये (रत्नरक्षित)। कहा जाता है कि (दोनों में) आध्यात्मिक प्रभाव और शक्ति भी बराबर थी। (ये) महासांघिक निकाय के थे। विक्रमशिला में (इन्होंने) मंत्र (यानी) आचार्य (का पद-ग्रहण) किया। चक्रसंवर, कालचक्र, यमारि इत्यादि अपरिमेय इष्ट (देवों) के दर्शन प्राप्त हुए। एक बार पोतल में आर्यावलोकित का नागों और असुरों द्वारा (वाद्यसंगीत से) पूजन किया जा रहा था, (तो इन्होंने) वाद्यध्वनि से षोडदश शून्यता[1] की चर्चा सुनी। (ये) जिस किसी को अभिषिक्त करते (उसमें दिव्य) ज्ञान प्रविष्ट कर सकते थे। (इनके चढ़ाये हुए) नैवेद्य (को) डाक-(डाकिनी) साक्षात् ग्रहण करती थीं। उन्मत्त हाथी पर (इनके) दृष्टिपात करने से (हाथी) स्तब्ध हो जाता था। (इन्होंने) मगध का विध्वंस होने की भविष्यवाणी भी दो वर्ष पहले की थी। (इन पर) विश्वास रखनेवाले अनेक शिष्य उसी समय कश्मीर और नेपाल चले गये। जब मगध का नाश हुआ (ये) उत्तरदिशा को चले गये। तिरहुत में, रास्ते में, जंगली भैंसे के आघात पहुंचाने के लिए आने पर (इनके) दृष्टिपात से (वह) नियंत्रित हो, (इनके) चरणों को जीभ से चाटने लगा (और) योजन भर तक उन्हें पहुंचाने आया। नेपाल में प्राणियों का विपुल उपकार कर, (फिर) कुछ समय के लिये (ये) तिब्बत भी चले गये। (वहां इन्होंने) सम्वरोदय[2] की वृत्ति लिखी।

ज्ञानाकरगुप्त (को) मैत्रेय के साक्षात दर्शन मिले। बुद्ध श्रीमित्र, स्वप्न में वज्र-वाराही से धर्म श्रवण करते (और) एक ही हाथ से हाथी (को) दबाने आदि सिद्धि का चमत्कार (प्रदर्शन करने) वाले थे। जान पड़ता है कि अन्य सभी (आचार्य) सब विद्याओं में निपुण, इष्टदेव के दर्शन प्राप्त और निष्पन्न-क्रम का विशिष्ट ज्ञान रखनेवाले थे। किन्तु, प्रत्येक का (कोई) निश्चित विवरण देखने-सुनने (में) नहीं आने के कारण (निश्चित रूप से इनका) उल्लेख नहीं किया जा सकता है।

वज्रश्री, दशबल के शिष्य (थे)। उस समय भी (उनकी) अवस्था १०० वर्ष की थी। उसके बाद भी लगभग १०० वर्ष तक वर्त्तमान थे। (उन्होंने) व्यापक जगत-कल्याण का सम्पादन किया। (उनमें) बुढ़ापे का रूप नहीं था। दक्षिण दिशा में हजारों अधिकारी (शिष्यों को) मंत्रयान में परिपक्व कर (संसार से) मुक्त किया है।

इन चार सेनों के काल में, मगध में भी तीर्थिकों की अधिकाधिक वृद्धि हुई और फारसी म्लेच्छ-मतावलम्बी भी काफी (संख्या में) हुए। ओडन्तपुरी और विक्रमशिला में राजा ने भी कुछ किलों का निर्माण कराया और (उनमें) कुछ सैनिकों (को) रक्षा (के लिये रखा गया)। वज्रासन में महायान सम्प्रदाय की स्थापना नहीं हुई थी। कुछ योगी और महायानी धर्मोपदेश किया करते थे। वर्षावास में १०,००० सैन्धव

१—स्तोङ-ञित-ब्चु-द्रुग=षोडदश शून्यता। द्र० मध्यमकावतार का छठां परिच्छेद।
२—स्दोम-ह्ब्युङ=सम्वरोदय।

श्रावक (एकत्र होते) थे। अन्य धार्मिक संस्थाएं नष्टप्राय हो गई थीं। कहा जाता है कि विक्रमशिला और ओडन्तपुरी में उतना ही (भिक्षु) संघ था जितना अभयाकर के समय में था। राजा राथिक की मृत्यु के बाद, जब लवसेन ने राज किया, (तब) कुछ वर्षों के लिये (देशवासी) सुखी रहे। तत्पश्चात् गंगा और यमुना के बीच के अन्तरवेदी देश में चन्द्र नामक तुरुष्क राजा हुआ। कुछ भिक्षुओं द्वारा राजा के दूत (कार्य) किये जाने के परिणामस्वरूप उक्त (राजा) और भगल आदि अन्यान्य देशों के रहनेवाले अनेक छोटे-मोटे शासकों ने एकत्र हो, सारे मगध का विनाश किया। उड़न्तपुरी में अनेक प्रव्रजित तलवार के घाट उतार दिये गये। उसे (उड़न्तपुरी) और विक्रमशिला दोनों को विध्वस्त किया गया। उड़न्तपुरी विहार के अवशेष पर फारसियों का किला बनाया गया। पण्डित शाक्यश्री पूर्वदिशा (के) ओडिविश के देश जगत्तला[1] (बंगाल) चले गये। वहां तीन वर्ष रहे, (फिर) तिब्बत चले गये। महारत्नरक्षित नेपाल चले गये। महापण्डित ज्ञानाकरगुप्त आदि कुछ बड़े पण्डित तथा १०० के लगभग छोटे पण्डित भारत के दक्षिण-पश्चिम की ओर चले गये। महापण्डित बुद्धश्रीमित्र, दशबल के शिष्य वज्रश्री (तथा) और भी अनेक छोटे पण्डितों सहित दूर दक्षिण दिशा की ओर भाग गये। पण्डित सगम श्रीज्ञान, रविश्रीभद्र, चन्द्राकरगुप्त इत्यादि १६ महन्त और लगभग २०० छोटे पण्डित दूर पूर्वदिशा पुखम,[2] मुञ्ज, कम्बोज इत्यादि देशों को चले गये, और मगध में (बुद्ध) शासन विलुप्त-सा हो चला। उस समय अनेक सिद्धों और साधकों के विद्यमान होते हुए भी सत्वों के (अपने) सामूहिक-कर्म (विपाक) का निवारण न हो पाया। उस समय गोरक्ष के अधिकतर अनुचर योगी अतिमूर्ख (थे), इसलिये (वे) तीर्थिक राजाओं से लाभ-सत्कार पाने के अर्थ ईश्वर के अनुयायी बन गये और कहने लगे : "हम लोग तुरुकों का भी विरोध नहीं करेंगे।" अल्प (संख्यक) नटेश्वर सम्प्रदायी बौद्ध हो के रूप में रह गये। लवसेन, उसका बेटा बुद्धसेन, उसका बेटा हरितसेन, उसका पुत्र प्रतीतसेन इत्यादि (ऐसे) अल्पशक्ति के राजा हुए, (जिन्हें अपने राजकाज के लिये) तुरुष्कों से आदेश लेने पड़ते थे। उन (राजाओं) ने भी अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार (बुद्ध) शासन का थोड़ा-बहुत सत्कार किया। विशेषकर, बुद्धसेन के समय महापण्डित राहुल श्रीभद्र नालन्दा में रहते थे। (इनसे) धर्मश्रवण करनेवाले ७० के लगभग थे। तदुपरान्त भूमि श्रीभद्र, तत्पश्चात् उपाय श्री भद्र आदि प्रादुर्भूत हुए। उनके समकालीन करुण श्रीभद्र और मुनीन्द्र श्रीभद्र ने भी मुनिशासन का यत्नपूर्वक संरक्षण किया। प्रतीतसेन के मरने के बाद उसकी वंश-परम्परा विच्छिन्न हो गई। कहा जाता है कि (बुद्ध) शासन के प्रति आस्था रखनेवाले कुछ और छोटे-मोटे शासक हुए; परन्तु (इनका कोई) प्रामाणिक इतिहास देखने को न मिला। प्रतीतसेन के मरने के लगभग १०० वर्ष के उपरान्त, भगलदेश में चंगलराज नामक एक प्रतापशाली (राजा) हुआ। (इसने) डिलि[3] तक के सभी हेन्तु[4] और तुरुष्कों पर शासन किया। यह पहले ब्राह्मण-भक्त था, किन्तु (अपनी) रानी के बुद्ध के प्रति

१—इसे मगधराज महाराज रामपाल (१०५७—११०२ ई०) ने अपने शासन के सातवें वर्ष (१०६४ ई०) में स्थापित किया था।

२—तिब्बती में—र-ब्रङ=पुखम।

३—दिल्ली ?

४—हिन्दू ?

श्रद्धा रखने के कारण (इसने अपने) दृष्टिकोण (को) बदल दिया. और वज्रासन में बृहत् पूजा की। सभी देवालयों का जीर्णोद्धार किया। एक विशाल नौमंजिले-गन्धोला के चार मंजिलों का, (जो) बीच के समय में तुरुष्कों द्वारा तोड़-फोड़ दिया गया था, भलीभाँति जीर्णोद्धार किया। पण्डित शारिपुत्र की देख-रेख में (एक) धार्मिक संस्था की स्थापना की। नालन्दा में भी देवालयों में महती पूजा की। लेकिन विस्तृत धार्मिक संस्थाओं की स्थापना न हुई। यह राजा दीर्घजीवी रहा। कहा जाता है कि इसका देहान्त हुए लगभग १६० वर्ष बीत गये। इसके बाद से, मगध में, धर्म-सेवक राजा के आविर्भाव होने का (उल्लेख) सुनने को न मिला, और इसलिये भिक्षु पिटक धारी के भी प्रादुर्भाव होने की (कथा) सुनने को न मिली। समयान्तर (में) ओडिविश में मुकुन्ददेव नामक राजा हुआ, जिसने प्रायः मध्यदेश पर शासन किया। मगध में धार्मिक-संस्था की स्थापना न हुई। ओडिविश में (इसने) बौद्ध मन्दिर का निर्माण किया और छोटी-मोटी कुछ धार्मिक संस्थाएं स्थापित कीं (तथा बुद्ध) शासन का थोड़ा-बहुत विकास किया। ज्ञात होता है कि इस राजा के देहान्त हुए लगभग ३८ वर्ष हुए। चार सेन राजा आदि के समय की ३७वी कथा (समाप्त)।

(३८) विक्रमशिला के मठाधिकारियों के उत्तराधिकारी।

अब अन्य विविध (कथाओं) का वर्णन करेंगे। पहले राजा श्रीमद् धर्मपाल के समय से पीछे राजा चनक[1] के प्रादुर्भाव होने तक पांच राजाओं के समय तक विक्रमशिला में एक-एक मंत्र (-यानी) महान् वज्राचार्य द्वारा (बुद्ध) शासन का संरक्षण होता रहा। राजा धर्मपाल के अपने आरम्भकाल में आचार्य बुद्ध ज्ञानपाद और तत्पश्चात् दीपकर भद्र ने (बुद्ध) शासन का संरक्षण किया। इनके विवरण का भी ज्ञान अन्यत्र प्राप्त किया जा (सकता) है। राजा ममुरक्षित के समय लंका में जय भद्र का प्रादुर्भाव हुआ। ये आचार्य लंकादेश अर्थात् सिंहल में पैदा हुए थे। (ये) उसी देश में श्रावक के सब पिटकों का विद्वत्तापूर्वक अध्ययन किये हुए भिक्षु पण्डित थे। फिर मगध में आ, महायान का भली-भांति अध्ययन किया। विशेषकर (वे) गुह्यमंत्र के विद्वान बने। विक्रमशिला में चक्र-संवर की साधना करने पर उनके दर्शन प्राप्त हुए। एक बार दक्षिण कोंकन का भ्रमण किया। वहां महाबिम्ब नामक (चैत्य) व ले देश में (जो) अस्पर्श्य चैत्य (के नाम) से भी प्रसिद्ध है, जिसका प्राकृतिक बिम्ब गगन में विद्यमान है, रह, कुछ शिष्यों को गुह्य मंत्रयान के अनेक उपदेश दिये। चक्रसंवर-तंत्र की वृत्ति आदि की रचना की। जंगली भैंसे के आघात पहुँचाने के हेतु आने पर (इनके) तर्जनी दिखलाने के कारण (भैंसे का) मर जाना आदि (अलौकिक) शक्तियां (इन्होंने) प्राप्त कीं। तत्पश्चात् विक्रमशिला के मंत्राचार्य (का पद ग्रहण) किया। तत्पश्चात् ब्राह्मण आचार्य श्रीधर आये, जिनका जीवन-वृत्त अन्यत्र मिलता है। (इनके द्वारा) दक्षिणापथ में महान् ऋद्धि दिखाये जाने (का समाचार) सुनकर (इन्हें) विक्रमशिला में आमंत्रित किया गया था। इन्हीं के द्वारा विरचित रक्त (और) कृष्ण यमारि (नामक) ग्रंथ में स्पष्ट (उल्लेख मिलता) है कि ये आचार्य (—आचार्य श्रीधर) ज्ञानकीर्ति के उत्तराधिकारी थे। तिब्बती लोगों का मत है कि (ये) आचार्य कृष्णचारी के शिष्य (थे)। (आचार्य कृष्णचारी के) मनुष्यलोक में आने का

१—चाणक्य ?

समय तो निर्धारित नहीं हुआ, परन्तु पीछे (ये उनके) दर्शन पानेवाले शिष्य थे। ब्राह्मण श्रीधर जब एकाग्र (चित्त) से साधना में तत्पर थे, प्रातःकाल पुष्प आदि पूजा (का) विसर्जन करने बाहर निकले, तो एक तेजस्वी योगी द्वार पर थे। उन्हें कृष्णचारी जानकर (इन्होंने उनके) चरणों में प्रणाम किया (और उनसे) निवेदन किया: "मेरे इस विद्यामंत्र की सिद्धि होने की कृपा करें।" वही (कृष्णचारी उन्हें) सरस्वती के मंत्र जपने (की) एक विधि प्रदान कर अन्तर्धान हो गये। तत्क्षण मण्डल के पश्चिमोत्तर में विराजमान सरस्वती के दर्शन मिले। उसके अचिर में ही (उन्हें) सिद्धि मिली।

तदनन्तर भवभद्र का आगमन हुआ। वे भी सामान्यतः सब धर्मों के पण्डित थे। विशेषकर विज्ञान (वाद) के सिद्धान्त में दक्ष (थे) और लगभग ५० तंत्रों का ज्ञान रखते थे। स्वप्न में चक्रसंवर ने आशीर्वाद दिया। तारा ने दर्शन दिये। गुटिका-सिद्धि की साधना करने पर सिद्धि अंत में मिली। रसायन आदि अनेकों की साधना करने पर सिद्धि मिली और विपुल स्वार्थ-परार्थ का सम्पादन किया।

तदुपरान्त भव्यकीर्ति का आगमन हुआ। ये भी मंत्र (यान सम्बन्धी) ग्रंथ-सागर में पारंगत थे। कहा जाता है कि (इनकी) अभिज्ञा (=परचित्त आदि की बात जानने) में अबाधगति थी।

इसके उपरान्त लीलावज्र का प्रादुर्भाव हुआ। (इन्हें) यमारि की सिद्धि प्राप्त हुई। (हम) समझते हैं कि तिब्बती में अनूदित भयंकर वेतालाष्ट की साधना की रचना भी इन्होंने की है। उस समय, जब तुरुष्कों के आक्रमण होने का समाचार आया, तो (इन्होंने) यमारि-मण्डल का अंकन कर (तुरुष्क) सेना को लक्ष्य कर गाड़ दिया। फलतः सैनिकों के मगध पहुँचते ही सभी चिरकाल तक गूंगे, स्तब्ध आदि हो गये और लौट गये।

तत्पश्चात् दुर्जयचन्द्र का आगमन हुआ। (इनके) वृत्तान्त की जानकारी अन्यत्र मिलती है।

तदनन्तर कृष्णसमयवज्र (का आगमन हुआ, जिनकी) चर्चा ऊपर कर चुके हैं। इसके अनन्तर तथागत रक्षित का प्रादुर्भाव हुआ। ये यमारि और सम्भर के विद्वान् थे और (इन दोनो विषयो पर) अधिकार-प्राप्त थे। (इनके) ज्ञान की विशेषताएं थीं—भीतर की एक-एक नाड़ी पर ध्यान केन्द्रित करते ही विभिन्न देशो की और पशु (-पक्षी) आदि की बोली समझ लेने, बिना सीखे शास्त्रों का भी ज्ञान (उन्हें) अनायास होता था।

तदुपरान्त बोधिभद्र का आविर्भाव हुआ, (जो) बाह्य (और) आध्यात्मिक सभी गुह्यमंत्र के ग्रंथों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। (ये) उपासक थे। इन्हें मंजुश्री के साक्षात् दर्शन मिले। कहा जाता है कि नामसंगीति की साधना करने पर प्रत्येक नाम पर एक-एक समाधि उत्पन्न हुई। उन दिनों बोधिभद्र नाम के अनेक (आचार्य) हुए; किन्तु इनकी प्रसिद्धि पहले तिब्बत में कम हुई प्रतीत होती है।

इसके पश्चात् कमलरक्षित का आगमन हुआ। ये आचार्य भिक्षु (थे)। (ये) सभी सूत्रों (और) मंत्र (-यान) के पण्डित थे। विशेषकर प्रज्ञापारमिता, गुह्यसमाज और यमारि के विद्वान् थे। (इन्होंने) मगध के दक्षिण (भाग) में किसी अंगगिरि नामक पहाड़ी पर यमारि की साधना की। इस बीच अनेक प्रकार की बाधाओं के उपस्थित

होने पर भी शून्यता की भावना करने पर दूर हो गई। तत्पश्चात् यमारि ने दर्शन दिये और पूछा: "क्या चाहते हो?" (उन्होंने प्रार्थना की:) "(मुझे) आप ही (जैसे) बना दें।" (यह) कहने पर (यमारि उनके) हृदय में प्रविष्ट होने का आभास हुआ। तब से सब कामकाज चिन्तन करने मात्र से सम्पन्न हो जाता था। महासिद्धियों की सिद्धि प्राप्ति के भी योग्य (पात्र) हो गये; स्वयं यमारि कार्य वज्रधर के हर रात को दर्शन मिलते और (उनसे) धर्म श्रवण करते थे, (ऐसा) कहा जाता है। एक बार (इन्होंने) विक्रमशिला के श्मशान में गणचक्र का अनुष्ठान करने की इच्छा की और (अपने) अनेक मंत्र (यानी) शिष्यों (को) भी साथ) ले गये। कुछ योगिनी समय-द्रव्य (=पूजा का सामान) लिये आ रही थी। वहां पश्चिम कर्ण देश के तुरुष्क राजा के मंत्री से मार्ग में भेंट हो गई, जो ५०० तुरुष्कों के साथ मगध पर लूटपाट करने के लिए आ रहा था। उन्होंने (उनके) समय-द्रव्य छीन लिये। आचार्य सपरिषद् को आघात पहुँचाने का प्रयास किया, तो आचार्य क्रुद्ध हो उठे और मंत्र-जल से पूर्ण घट (को), पटक कर चल दिये। तत्काल भीषण आँधी आई। आँधी के बीच से श्याम (वर्ण के) कुछ मनुष्य तलवार धारण किये आ धमके और तुरुष्कों पर वार करने लगे। मंत्री स्वयं उसी (स्थल) पर रुधिर का वमन कर मर गया। अन्य (तुरुष्कों) को भी विभिन्न संक्रामक रोगों का शिकार बनना पड़ा और (अपने) देश केवल एक व्यक्ति पहुँचा। इससे सभी तीर्थिक और तुरुष्क अत्यन्त भयभीत हुए। और भी (इन्होंने) अत्यधिक अभिचार कर्म (का प्रयोग) किया। अभिचार नहीं करते तो ज्योतिर्मय शरीर को प्राप्त होते। कहा जाता है कि ऐसे महा-योगी पर भी अभिचार से थोड़ा आवरण पड़ा। ये आचार्य, दीपंकर श्रीज्ञान, ख्युङ-पो योगी आदि के भी कृपालु गुरु थे। कहा जाता है कि (ये अपने) जीवन के उत्तरार्ध (काल) में नालन्दा के निकट किसी अरण्य के पास एकाग्र (चित्त) से साधना करते और मुख्यतः सम्पन्न-क्रम की भावना करते थे। इस प्रकार कहा जाता है कि उन बारह आचार्यों में से आरम्भ के दो को छोड़, औरों ने क्रमशः बारह-बारह वर्ष मठाधिकारी (का पद ग्रहण) किया। कमलरक्षित के बाद छः द्वार-पण्डितों का आविर्भाव हुआ। इसके बाद विविध मंत्र (-यानी) आचार्यों का प्रचुर (संख्या में) आविर्भाव हुआ। दीपंकरज्ञान आदि सामान्य (बुद्ध) शासन का संरक्षण करनेवाले उत्तराधिकारी भी अविच्छिन्न रूप से हुए। छः द्वार-पण्डितों के उपरान्त कुछ वर्षों (तक) मठाधिकारी नहीं रहे। तदुपरान्त दीपंकर श्रीज्ञान का आगमन हुआ। इसके बाद सात वर्षों (तक कोई) मठाधिकारी नहीं रहा। इसके पश्चात् महावज्रासनिक ने कुछ (समय के लिये) मठाधीश (का पद ग्रहण) किया। तदनन्तर किसी कमलकुलिश नामक व्यक्ति ने मठाधीश (का काम) सम्भाला। तदुपरान्त नरेन्द्र श्रीज्ञान ने मठाधीश (का कार्यभार) सम्भाला। इसके अनन्तर दानरक्षित ने यह कार्य किया। तदनन्तर अभयाकर ने दीर्घकाल तक (मठाधीश का पद) सम्भाला। इसके उपरान्त शुभाकर गुप्त ने किया। इसके बाद नायक श्री ने किया। तदुपरान्त धर्माकर शान्ति ने किया। तत्पश्चात् कश्मीरी महापण्डित शाक्यश्री (११२७—१२२५ ई०) ने किया। तत्पश्चात् विक्रमशिला का लोप हुआ। विक्रमशिला के मठाधीश के उत्तराधि-कारियों के समय की ३८वीं कथा (समाप्त)।

(३९) पूर्वी कोकि देश में (बुद्ध) शासन का विकास।

पूर्वी भारत तीन भागों (में विभाजित है)। भंगल और ओडिविश अपरान्तक के अन्तर्गत हैं, इसलिये (ये) पूर्वी अपरान्तक कहलाते हैं। उत्तर-पूर्व देश—कामरूप, त्रिपुर (और) हसम (असम?) को गिरिवर्त्त कहते हैं। उनमें से पूर्व दिशा की ओर जानेवाले

उत्तरी पहाड़ के निकटवर्ती नंगट देशों, समुद्र के निकटवर्ती देश पुखं, बलकु आदि खड़ देश, हंसवती, मर्को आदि मुञ्जङ देश, इसके अलावा चम्प, कम्बोज इत्यादि उन सभी (देशों) का सामान्य नाम कोकि कहलाता है।

इस प्रकार कोकि के उन देशों में राजा अशोक के समय के लगभग (भिक्षु-) संघ के मठ (स्थापित) हुए। पीछे (मठों की संख्या में) अधिकाधिक वृद्धि होने लगी और बहुत अधिक (मठ) विद्यमान थे। वसुबन्धु के आगमन के पहले केवल श्रावक थे। वसुबन्धु के कुछ शिष्यों ने महायान का विकास किया, जिससे (इसकी) परम्परा कुछ अविच्छिन्न रूप से चलती रही। राजा धर्मपाल के समय तक मध्यदेश में (महायान के) शिक्षार्थी प्रचुर (संख्या में) थे। विशेषतया चार सेनों के समय मगध में एकत्रित (भिक्षु-) संघ का लगभग आधा (भाग) कोकि देश से आया था। इस कारण महायान का सु-विकास होने के फलस्वरूप तिब्बत की भांति (भारत में भी) महायान (और) हीनयान का भेद (-भाव) मिट गया। अभयाकर के आगमन के समय से मन्त्रयान का भी अधिकाधिक विकास होने लगा। जब मगध का तुरुष्कों द्वारा विनाश किया गया, तब मध्यदेश के अधिकांश विद्वान् उस देश में आये, फलतः (बुद्ध) शासन और अधिक फलने-फूलने लगा। उस समय शोभजात नामक राजा विद्यमान था। उसने भी अनेक देवालय बनवाये (और) २०० के लगभग धार्मिक संस्थाओं की स्थापना की। तत्पश्चात् राजा सिंह जटि प्रादुर्भूत हुआ। उसने भी पिछले (राजा) की अपेक्षा सद्धर्म का कहीं अधिक प्रचार किया, फलतः उन सभी देशों में (बुद्ध) शासन का अत्यधिक विकास हुआ। कहा जाता है कि जब कभी-कभी (भिक्षु-) संघ की सभा होती है, तो आज भी बीस-तीस हजार भिक्षु एकत्र हुआ करते हैं। उपासक भी अत्यधिक होते थे। बाद के पण्डित वनरत्न आदि सभी उस देश से आये हुए थे, (जिन्होंने) तिब्बत की यात्रा की थी। कालान्तर में बाल सुन्दर नामक राजा हुआ। उन सभी देशों में विनय, अभि (-धर्म) और महायान सिद्धान्तों का विपुल प्रचार हुआ था, लेकिन काल-चक्र, फ्रेड-व-स्कोर-गुसुम आदि कुछ को छोड़ गुह्यमंत्र का ग्रंथ अति दुर्लभ हो गया। तब उस देश के लगभग २०० पण्डितों (को) द्रमिल और दक्षिण खगेन्द्र देशों में महासिद्ध शान्तिगुप्त आदि के पास भेजा गया, और गुह्यमंत्र-धर्म का आचरण कराकर (मंत्रयान) का पुनर्स्थापन किया गया। उसका पुत्र चन्द्रवाहन सम्प्रति पुखम् में है। अतीतवाहन ने चग्स, बालवाहन ने मुञ्जङ (और) सुन्दरहचि ने नंगट का संरक्षण किया। पूर्वापेक्षा (बुद्ध) शासन का वर्तमान (काल) में अधिक विकास हो रहा है। पूर्वी कोकि देश में (बुद्ध) शासन के विकास के समय की ३९वीं कथा (समाप्त)।

(४०) उपद्वीपों में (बुद्ध) शासन का उद्भव तथा दक्षिण-प्रदेश आदि में (इसका) पुनरुत्थान।

इसके अतिरिक्त सिंहलद्वीप, जावाद्वीप[1], ताम्रद्वीप[2], सुवर्णद्वीप[3], धानश्रीद्वीप और पयिगु नामक द्वीप उप-द्वीपों में प्राचीन (काल) से ही (बुद्ध) शासन का विकास होता

१—नस-ग्लिङ = जावाद्वीप।
२—सङ्स्-ग्लिङ = ताम्रद्वीप।
३—गुसे र-ग्लिङ = सुवर्णद्वीप।

आ रहा है और आज तक (इसका) सुविकास हो रहा है। सिंहलद्वीप में महायानी भी पर्याप्त हैं। आज भी श्रीपदुकोत्सव के अवसर पर १२,००० के लगभग भिक्षु एकत्र होते हैं, जो अधिकतर श्रावक होते हैं। धानश्री और पयिगु में भी कुछ महायानी विद्यमान हैं। अन्य द्वीप श्रावकों के ही विनेय (-क्षेत्र) हैं। द्रमिल में पहले (बुद्ध) शासन की स्थिति अच्छी न थी। (पीछे) आचार्य पद्मसम्भव ने इसे पहले-पहल स्थापित किया। दीपंकर भद्र भी (द्रमिल) गये। तब से लेकर लगभग १०० वर्षों तक मगध, उद्यान, कश्मीर इत्यादि के अनेकानेक वज्रधरों ने आकर मंत्रयान का विशेष रूप से विकास किया। पहले राजा अमपाल के समय में गुप्त रखे गये तंत्र (ग्रंथ, जो) भारत में लुप्त हो गये थे, और उद्यान से लाये गये अनेक तंत्र (-ग्रंथ) विद्यमान हैं (जो) भारत में अप्राप्य हैं। और आज भी गुह्यमंत्र के चारों तंत्रपिटकों का प्रचार पहले की भांति है। कुछ विनय, अभि (-धर्म और) पारमिता के ग्रंथ भी विद्यमान हैं। दक्षिण भारत में मगध पर तुरुष्कों का आक्रमण होने के बाद से विद्यानगर, कोंकन, मल्यर, कलिंग इत्यादि में अनेक छोटी-मोटी धार्मिक संस्थाओं की स्थापना हुई। संन्यासियों की संख्या अधिक न थी, परन्तु व्याख्यान (और) साधना अविच्छिन्न रूप से चलती रही। मानवसूर्य (के नाम) से प्रसिद्ध पण्डित भी त्रिलिंग के अन्तर्गत कलिंग में प्रादुर्भूत हुए। इसी प्रकार दक्षिण-पश्चिम राज्यों में राजा कर्ण ने (बुद्ध) शासन की स्थापना की। अनन्तर जब मगध (को) तुरुष्कों ने नष्ट किया, ज्ञानाकरगुप्त आदि ने (बौद्ध धर्म का) विकास किया। मरु, मेवर, चितवर, पितुव, आबू, सौराष्ट्र, गुजरात इत्यादि में अनेक धार्मिक संस्थाओं की स्थापना की गई, और आज भी अनेक (भिक्षु) संघ विद्यमान हैं। विशेषतया, कालान्तर में, सिद्धेश्वर शान्तिगुप्त के अधिष्ठान-प्रताप से खगेन्द्र और विन्ध्याचल के अन्तर्गत (प्रदेशों में बुद्ध) शासन का नवीन विकास हुआ। राजा रामचन्द्र के समय में (भिक्षु) संघों का यथेष्ट सत्कार होता था। उसके पुत्र पालभद्र ने अनेक देवालयों, श्रीरत्नगिरि, जिनन, ओजन, उर्वासी इत्यादि अनेक (धार्मिक) केन्द्रों का निर्माण किया (और) धार्मिक संस्थाओं की भी चोतरफ स्थापना की। कहा जाता है कि उस देश में नये भिक्षु ही लगभग २,००० हैं। सूत्र (और) मंत्र दोनों के व्याख्यान (और) साधना का विशेषरूपेण प्रचार और प्रसार है। उपद्वीपों में (बुद्ध) शासन का उद्भव और दक्षिण प्रदेश आदि में (इसके) पुनरुत्थान के समय की ४०वीं कथा (समाप्त)।

(४१) पुष्पावली में वर्णित दक्षिण दिशा में (बौद्ध) धर्म के विकास का इतिहास

कश्मीर, दक्षिण प्रदेश, कोकि इत्यादि के ऐतिहासिक लेखों का संग्रह देखने को नहीं मिला। ब्राह्मण मनोमति-कृत दक्षिण प्रदेश में (बुद्ध) शासन तथा जगत के (सेवा) कार्य सम्पन्न करनेवाले राजा आदि की पुष्पावली नामक संक्षिप्त कथा में ऐसा कहा गया है :—दक्षिण काञ्ची देश में शुक्लराज और चन्द्रशोभ नामक दो राजा हुए। (इन्होंने अपने-अपने शासन) काल में समुद्री द्वीप के गरुड़ आदि अधिकांश पक्षी (गण को अपने) अधीन कर लिया। वे पक्षी औषधि, मणि और समुद्री जन्तुविशेष (लाकर राजा को) भेंट करते थे। इन उपकरणों से २,००० (भिक्षु-) संघ की उपासना की जाती थी। अन्त में पक्षियों के (हित) अर्थ (एक) मन्दिर बनवाया गया। (इसमें) आज भी समुद्री टापू का एक-एक पक्षी नित्य रहा करता है, इसलिये इस मन्दिर को पंखीतीर्थ कहते हैं। फिर राजा महेश[1], क्षेमकर (और) मनोरथ के समय में नित्य प्रतिदिन एक-एक छत्र

[1]—तिब्बती में द्वङ-ब्येद लिखा है जो गलत मालूम होता है और जिसका हिन्दी प्रति शब्द वशकर ? होता है।

एवं अपार पूजोपकरणों से एक सहस्र स्तूपों की अर्चना की जाती थी। फिर राजा भोग-सुबाल[1], उसके पुत्र चन्द्रसेन और उसके पुत्र क्षेमकरसिंह (ने अपने-अपने) समय में रसायन की साधना की, और जो कोई भिखारी आता, (वे उसे) एक-एक सुवर्ण दीनार देते थे। भिक्षु और उपासक, जो कोई भी आता तो ५०० पणों के मूल्य का उपकरण समर्पण करते थे। वे किस देश में हुए, (इसका) स्पष्ट (उल्लेख) नहीं है, लेकिन प्रतीत होता है कि ये प्रायः कोंकन देश में हुए। क्षेमकर सिंह के तीन पुत्र थे। ज्येष्ठ (पुत्र का नाम) व्याघ्रराज (था)। (इसकी) आंखें व्याघ्र के सदृश (थीं) और (देह में) मांस की रेखाएं थीं। (इसने) तल कोंकन पर अधिकार जमाया और २,००० देवालय बनवाये। मंझले पुत्र का नाम बुध[2] था। इसने उपर कोंकन और तुलुरानि पर शासन किया और ५,००० भिक्षुओं की नित्यप्रति (दिन) आराधना की। कनिष्ठ (पुत्र) बुद्धशुच (को) देश-निष्कासित किया गया, (और) अन्त में (इसे) द्रवलि[3] का शासक (नियुक्त किया गया)। (वह) अक्सर १०,००० ब्राह्मणों और १०,००० बौद्धों को धार्मिकोत्सव में आमंत्रित करता था। विन्ध्याचल में, फिर षण्मुख कुमार[4] नामक राजा हुआ। (इसने) वसुधारा[5] विद्यामंत्र की सिद्धि प्राप्त की, फलतः (वह) अक्षय अन्न और वस्त्र (का स्वामी) बना; दक्षिण दिशा के सभी प्रदेशों को तीन बार ऋण मुक्त कर दिया। सब दरिद्रों को एक-एक वस्त्र दिया। कहा जाता है कि भिखारी आदि ८०,००० दरिद्रों को बीस वर्षों तक भोजन-वस्त्र दान दिये। मलयर में राजा सागर, विक्रम[6], उज्जयन[7] और श्रेष्ठ नामक चार (राज) वंशों के समय, (प्रत्येक ने) ५०० धार्मिक संस्थाओं की स्थापना की और उसके अनुकूल एक-एक देवालय भी बनवाया। कर्णाट और विद्यानगर में महेन्द्र नामक राजा हुआ। उसके पुत्र देवराजा (और) पुन उसके पुत्र विश्व[8]—(इन) तीन (राजाओं ने) देश के सभी क्षत्रियों और ब्राह्मणों (को) केवल त्रिरत्न की पूजा करने का आदेश दिया। (प्रत्येक ने) तीस-तीस वर्ष राज किया। उसके (=विश्व के ?) तीन पुत्र (थे)। ज्येष्ठ (पुत्र) शिशु[9] ने तीन वर्ष राज किया। मंझले (पुत्र) प्रताप[10] ने एक मास राज किया। उन दोनों ने पचास-पचास देवालय बनवाये। प्रताप ने प्रतिज्ञा की थी: "(यदि मैं) बुद्ध के अतिरिक्त (किसी) अन्य शास्ता की पूजा करूं, तो आत्म-हत्या कर लूंगा।" एक बार (उसने) शिवलिंग की पूजा की तो वह धूलि से (भरे) गड्ढे में कूद पड़ा। कनिष्ठ (पुत्र) नागराज भगवान् (को) १०,००० परिकरों के साथ देशनिष्कासित कर दिया गया। (वह) जहाज से पूर्वी पुलं के पास शत्रुओं का दमन करने चल पड़ा। वहां (उसे) राज्य मिला, और (उसने) बुद्ध की पूजाकर, (बुद्ध) शासन के प्रति (अपना) परम कर्तव्य निभाया। राजा शालिवाहन का उल्लेख ऊपर कर चुके हैं। बालमित्र

१—लो ड्म्-स्प्योद-स्क-ब्सङ=भोगसुबाल।
२—ग्जह-ल्हग-प=बुध।
३—द्रविड़ ?
४—ग्शोन-नु-ग्दो ङ-द्रुग=षण्मुख कुमार।
५—नोर-ग्युंन-म=वसुधारा। त० ८०।
६—र्नम-ग्नोन=विक्रम।
७—र्ग्यल-म्छोग=उज्जयन।
८—स्न-छोगस्=विश्व।
९—ब्यिस्-प=शिशु।
१०—रब-ग्दुङ=प्रताप।

नामक एक ब्राह्मण था, जिसका जन्म कलिंग में हुआ। उसने दो समुद्र पर्यन्त स्थलों (को) स्तूपों से भर दिया। दक्षिण देश का आकार-प्रकार त्रिकोण है, (और) लम्बाई में यह अधिक है। (इसका) शिखर दक्षिण दिशा की ओर सम्मुख है (और) बुनियादी-सतह मध्यदेश से जुड़ी हुई है। (इसके) उच्चतम शिखर पर रामेश्वर अवस्थित है। इस देश से पूर्व दिशा आदि तक के सागर को महोदधि कहते हैं (और) पश्चिम तक के सागर को रत्नगिरि[1]। समुद्र के तल में सीमा विभाजन नहीं है, परन्तु द्वीप की आकृति त्रिकोण होने के कारण इस देश के दक्षिण की ओर सीधा दूर तक समुद्र का रंग अमिश्रित रूप से दृष्टिगोचर होता है और (समुद्री) लहरों के तरंगित (होते समय) सीमा (रेखा) स्पष्ट दिखाई पड़ती है। इस कारण महोदधि और रत्नाकर सागर तक के प्रत्येक नगर में एक-एक स्तूप का निर्माण किया गया। यह वह (स्थल) है (जिसके बारे में) मंजुश्री मूलतंत्र में "स्थल दो समुद्र पर्यन्त को छूता है" कह व्याकरण किया गया है। इसके अतिरिक्त नागकेतु नामक ब्राह्मण ने १,००,००० बुद्ध प्रतिमाओं का निर्माण किया और प्रत्येक (मूर्ति) की दस-दस भिन्न-भिन्न पूजा (उपकरणों) से आराधना की। फिर वर्धमाल नामक ब्राह्मण हुआ। उसने (बुद्ध) वचन की १०,००० पुस्तकों की रचना की और प्रत्येक (पुस्तक) की पन्द्रह-पन्द्रह पूजा सामग्रियों से अर्चना की। (वह) उन पुस्तकों की देख-रेख करने वाले, श्रवण-पाठन करने वाले ४,००० भिक्षुओं तथा उपासकों को नित्य भोजन दान करता था। फिर गग्गारि नामक एक महायानी आचार्य का प्रादुर्भाव हुआ, जो अविस्मृति-धारणी प्राप्त (एवं) समस्त परचित्तज्ञान रखने वाले थे। उनके उपदेश देने पर १,००० शिष्य धर्मक्षान्ति प्रतिलब्ध हुए। कुमारानन्द[2] नामक एक गोमिन-उपासक हुआ। (उसके) ५,००० उपासकों को धर्मोपदेश देने पर उन सभी ने प्रज्ञापारमिता का ज्ञान प्राप्त किया। मति कुमार[3] नामक एक गृहस्थ उपासक हुआ। उसके धर्मोपदेश करने पर देश के कुल १००,००० बालक-बालिकाएं महायान में ध्यानस्थ हुई। फिर भद्रानन्द[4] नामक भिक्षु सत्य-वचन ही बोलकर समस्त नागरिकों के रोग तथा (उन्हें कष्ट देनेवाले) भूत-प्रेतों का शमन करते थे। (ये) अत्यन्त विशुद्ध बीस भिक्षुओं के साथ रहते थे। कहा जाता है कि अन्य भिक्षुओं द्वारा तंग किये जाने पर ये उसी काया से उड़कर अभिनन्द क्षेत्र[5] को चले गये। दानभद्र और लकादेव नामक उपासक हुए। (इन दोनों ने) तथागत के १०,००० चित्रों, पाषाण काष्ठ, मृत्तिका तथा बहुमूल्य (पदार्थों) से भी दस-दस हजार (मूर्तियों) का निर्माण किया। उतनी (ही संख्या में) स्तूपों का भी निर्माण किया। प्रत्येक (स्तूप) को दस-दस पताकाएं भेंट कीं। फिर बहुभुज नामक उपासक ने चारों दिशाओं के सभी भिखारियों को पन्द्रह वर्षों तक अनाज, भोजन-वस्त्र, सुवर्ण, अश्व, गौ इत्यादि दान दिए। अन्ततः दास, दासी, पुत्र, पत्नी तथा घर-द्वार तक दान देकर वह, किसी वन में (ध्यान-) भावना करने पर अनुत्पाद धर्मक्षान्ति को प्राप्त हुआ—शिष्यों को धर्मोपदेश कर, (वह) उसी काया से सुखावती[6] को चला गया—ऐसा कहा जाता है। फिर भन्ते मध्यमति[7] नामक उपासक हुआ। इसने भिन्न-भिन्न तीर्थकरों के समीप उनके समान

१—रत्नाकर ?
२—ग्शोन-नु-दगह्-व=कुमारानन्द।
३—ब्लो-ग्रोस्-ग्शोन-नु=मतिकुमार।
४—ब्स ङ-पोहि-कुन-द्गह्=भद्रानन्द
५—म्ङोन-द्गहि-शिङ=अभिनन्द क्षेत्र।
६—ब्दे-व-चन=सुखावती। अमिताभ बुद्ध का क्षेत्र।
७—द्बु-महि-ब्लो-ग्रोस्=मध्यमति।

रूप धारण कर, आरम्भ में उनके शास्त्रों का व्याख्यान किया। (और फिर) उनके बीच अनात्मा और महाकरुणापथक्रम का चोरा-चोरी प्रतिपादन करने लगा। अन्ततः (उन्हें) बिना मालूम हुए ही सिद्धान्त बदल जाने पर (तीर्थंकरों को) बौद्ध (धर्म) में दीक्षित किया गया। (वह) एक ही समय में अनेक रूप प्रकट करते थे। इस रीति से (उन्होंने) लगभग १०,००० तीर्थंकरों (को) बुद्धशासन में दीक्षित किया। अतः (ऐसा) समझा जाता है कि इन आचार्यों का प्रादुर्भाव नागार्जुन के पहले हुआ था। प्रतीत होता है कि और आचार्यों का उद्भव भी महायान के विकास (के समय) से (लेकर) श्रीमद् धर्मकीर्ति (के समय) तक अवश्य हुआ होगा ; किन्तु पूर्वोक्त (आचार्यों) के समकालीन होने का स्पष्ट (उल्लेख) नहीं है। दक्षिण दिशा में (बौद्ध) धर्म के विकास की पुष्पावली से उद्धृत की गई ४१वीं कथा (समाप्त)।

(४२) चार निकायों के अर्थ पर संक्षिप्त विवेचन।

उपर्युक्त सभी संघ-मठ चार निकायों तथा अष्टादश निकायों से ही विस्फुटित हुए हैं। अतः इनके व्यवस्थापन की चर्चा संक्षेप में की जाय तो (इस प्रकार है) : अष्टादश निकायों के अपने-अपने दर्शनों (और) आचारों में असमानता नहीं होने पर भी (उनके) विभाजन में अनेकधा मतभेद उपस्थित हुए। स्थविर निकाय का मत है कि पहले पहल (बौद्धधर्म) स्थविर[१] (वाद) और महासांघिक[२] में विभक्त हुआ। महासांघिक भी आठ (उप-शाखाओं) में विभक्त हुआ--मूल महासांघिक, एक व्यावहारिक[३], लोकोत्तरवादी,[४] बाहुश्रुतिक[५], प्रज्ञप्तिवादी[६], चैत्य (वादी)[७], पूर्वशैलीय[८] और अपरशैलीय।[९] स्थविर (वाद) भी दस (उप-शाखाओं) में विभक्त हुआ--मूलस्थविर (वादी), सर्वास्तिवादी,[१०] वात्सीपुत्रीय,[११] धर्मोत्तरीय,[१२] भद्रयाणिक,[१३] साम्मितीय,[१४] महीशासक,[१५] धर्मगुप्तिक[१६] सुवर्षक[१७] और उत्तरीय[१८]।

१--ग्नस्-वर्तन-स्दे-प=स्थविरनिकाय।
२--द्गे-ह्दुन-फल-छेन-प=महासांघिक।
३--थ-स्न्याद-ग्चिग-प=एक व्यावहारिक।
४--ह्जिग-र्तेन-ह्दस्-पर-स्म्र-व=लोकोत्तरवाद।
५--मङ-थोस्-प=बाहुश्रुतिक।
६--र्तग-पर-स्म्र-व=प्रज्ञप्तिवाद।
७--म्छोद-र्तेन-प=चैत्य (वाद)।
८--शर-ग्यि-रि-वो-प=पूर्वशैलीय।
९--नुब-क्यि-रि-वो-प=अपरशैलीय।
१०--थमस्-चद-योद-पर-स्म्र-व=सर्वास्तिवाद।
११--ग्नस्-महि-बु-प=वात्सीपुत्रीय।
१२--छोस्-म्छोग-प=धर्मोत्तरीय।
१३--ब्जङ-लम-प=भद्रयाणिक।
१४--मङ-ब्कुर-व=साम्मितीय।
१५--मङ-स्तोन-प=महीशासक।
१६--छोस्-स्ब्रस्-प=धर्मगुप्तिक।
१७--छर-ब्जङ-ह्बेबस्=सुवर्षक।
१८--ब्ला-म-प=उत्तरीय।

फिर महासांघिक का मत है कि बौद्धधर्म प्रथमतः तीन (शाखाओं) में विभक्त हुआ——स्थविर, महासांघिक वाद और वैभाज्यवाद[1]। स्थविर (वाद) भी दो (शाखाओं) में विभक्त हुआ——सर्वास्तिवाद और वात्सीपुत्रीय। (सर्व) अस्तिवादी भी (दो) हैं——मूल सर्वास्तिवादी[2] और सूत्रवादी[3] (सौत्रान्तिक)। वात्सीपुत्रीय का भी (छः शाखाओं में) विभाजन हुआ——साम्मितीय, धर्मोत्तरीय, भद्रयाणिक और पाण्णागारिक[4]। महासांघिक भी आठ (शाखाओं) में विभाजित हुआ——मूलमहासांघिक, पूर्वशैलीय, अपरशैलीय, राजगिरिक[5], हैमवत[6], चैत्य (वादी), सिद्धार्थिक[7] और गोकुलिक[8]। विभज्यवादी का मत है कि (वह) चार (शाखाओं) में विभक्त हुआ——महीशासक, काश्यपाय[9], धर्मगुप्तिक (और) ताम्रशाटीय[10]।

साम्मितीय का मत है कि महासांघिक की छः (शाखाएं) हैं——मूलमहासांघिक, एकव्यावहारिक, गोकुलिक, बहुश्रुतीय, प्रज्ञप्तिवादी और चैत्यक। (सर्व) अस्तिवादी की सात (शाखाएं) हैं——मूलसर्वास्तिवादी, वैभाज्यवादी, महीशासक, धर्मगुप्तिक, ताम्रशाटीय, काश्यपीय और संक्रान्तिक।[11] वात्सीपुत्रीय (की चार शाखाएं) हैं——मूलवात्सीपुत्रीय निकाय, धर्मोत्तरीय, भद्रयानिक और साम्मितीय। हैमवत का विभाजन नहीं है। इसलिये कहा जाता है कि प्रथमतः (इन चार) मूल (निकायों से अन्य निकायों का) पृथक्करण हुआ——महासांघिक, (सर्व) अस्तिवादी, वात्सीपुत्रीय (और) हैमवत।

सर्वास्तिवादी का मत आचार्य विनीतदेव (७७५ ई०) रचित समय भेदोपरचन-चक्र[12] के अनुसार है। (इस में) कहा गया है: "पूर्व (शैलीय), अपर (शैलीय), हैमवत, लोकोत्तरवादी, प्रज्ञप्तिवादी——(ये) पांच उप-शाखाएं महासांघिक की हैं। मूलसर्व-(अस्तिवादी), काश्यपीय, महीशासक, धर्मगुप्तिक, बाहु-श्रुतिक, ताम्रशाटीय (और) विभाज्य

१——र्नम-पर-फये-स्ते-स्म्र-व=वैभाज्यवाद।

२——ग्शि-थमस्-चद-योदस्म्र=मूलर्वास्तिवाद।

३——म्दो-स्दे-प-सूत्रवादी=सौत्रान्तिक।

४——ग्रोङ-ख्ये र-द्रुग-प=पाण्णागारिक।

५——र्यल-पोहि-रि-प=राजगिरिक।

६——गङस्-रि-प=हैमवत।

७——दोन-ग्रुब-प=सिद्धार्थिक।

८——ब-लङ-ग्नस्-प=गोकुलिक।

९——होद्-स्रुङस्-प=काश्यपीय।

१०——गोस्-द्मर-व=ताम्रशाटीय।

११——ह्फो-व-प=संक्रान्तिक।

१२——स्दे-प-थ-दद-क्लोग-पहि-ह्खोर-लो=समय भेदोपरचन-चक्र। त० १२७।

वादी--(ये) सर्वास्तिवादी के निकाय हैं। जेतवनीय,[१] अभयगिरि[२] (और) महाविहारवासी[३]--(ये) स्थविर (वादी) हैं। कौरुकुल्लक,[४] अवन्तक[५] (और) वात्सीपुत्रीय--(ये) साम्मितीय (की शाखाएं हैं)। देश, अर्थ (और) आचार्यों के भेद से (बौद्धधर्म) भिन्न-भिन्न अष्टादश (निकायों में विभक्त) हुआ।" ऐसा कहा गया है। (यह) मत चार मूलनिकायों से अष्टादश (निकायों) में बट जाने के (अनुसार) है। अनेक तंत्र (ग्रंथों) में मूल निकाय चार कहे गये हैं। चार की गणना भी वात्सीपुत्रीय निकायों के मतानुसार न कर इसके अनुसार की गई है, अतः इसी मत (को) मानना चाहिए। (यह मत) आचार्य वसुबन्धु के वचनों से संगृहीत किये जाने के कारण अधिक प्रामाणिक भी है। भिक्षुवर्षाग्रपृच्छ[६] में मूल चार (निकाय) इसके समान हैं। महासांघिक का छः तथा साम्मितीय का पांच (शाखाओं) का होना आदि थोड़ा बहुत भिन्न उल्लेख किया गया है। पर (हमें) पिछले मत (को) ही ग्रहण करना चाहिए। उपर्युक्त भिन्न-भिन्न गणनों में जो अनेकधा नामों का (उल्लेख) हुआ है, जान पड़ता है, (वे) अधिकतर पर्यायवाची है, और कतिपय गणना ही की भिन्नता भी।

काश्यपीय, (इसका) उद्‌भव उत्तर (कालीन) अर्हत् काश्यप की कतिपय शिष्य-परम्परा के पृथक्करण से हुआ था। इस निकाय को सुवर्षक भी कहा जाता है। इसी प्रकार महीशासक, धर्मगुप्तिक और ताम्रशाटीय--(ये) इन नामधारी स्थविरों के अनुयायी हैं। संक्रान्तिकवादी, उत्तरीय और ताम्रशाटीय एक निकाय के हैं। चैत्यिक और पूर्वशैलीय भी एक निकाय के हैं। ये परिव्राजक महादेव[७] नाम के शिष्य हैं। इससे सिद्धार्थिक और राजगिरीय पृथक् हुए। अतः अन्तिम मत के अनुसार इन दोनों की गणना अष्टादश (निकायों) में नहीं होती। लोकोत्तर (वादी) और कुक्कुरिक[८] एक (ही) है। एक-व्यावहारिक को सामान्य महासांघिक का नाम भी बताया जाता है। कुक्कुलिक[९] (को) गोकुलिक में परिवर्तित किया गया। वात्सीपुत्रीय, धर्मोत्तरीय, भद्रयाणिक (और) षाण्णागारिक (को) भी सामान्यतः एकार्थ माना जाता है। ऐसा होने पर भी आर्यदेश (=भारत) और (उक्त) उपद्वीपों के सभी (भिक्षु) संघों में प्रत्येक चार निकाय के अनुशासक अमिश्रित रूप से विद्यमान हैं। अष्टादश निकायों के अपने-अपने सिद्धान्त और पुस्तकें आज भी विद्यमान हैं, परन्तु उनके मतावलम्बी पृथक-पृथक (और) अमिश्रित रूप में अधिक नहीं हैं। प्रतीत होता है कि सात पाल राजाओं के समय में लगभग सात निकायों की परम्परा थी। अब भी सैन्धप-श्रावकों के उतने (ही निकाय) होने की प्रतीति होती है। क्योंकि सामान्यतः चार निकायों के अमिश्रितरूप से विद्यमान होने के साथ-साथ साम्मितीय की दो (शाखाएं)--वात्सीपुत्रीय और कौरुकुल्लक, महासांघिक

१--र्ग्यल-ब्येद-छल-ग्नस्=जेतवनीय।
२--जिगस-मेद-रि=अभयगिरि।
३--गचुग-लग-खङ-छेन=महाविहारवासी।
४--स-स्पोगस-रि=कौरुकुल्लका।
५--ब्सुङ-व-प=अवन्तक।
६--द्गे-स्लोङ-लो-द्रि-व=भिक्षुवर्षाग्रपृच्छ। नं० १२७।
७--ल्ह-छेन-पो=महादेव। यह मथुरा के किसी ब्राह्मण का बेटा था।
८--ब्य-गाग-रि=कुक्कुरिक।
९--कु-रु-कुल्ले-प=कुक्कुलिक।

के दो--प्रज्ञप्तिवादी और लोकोत्तरवादी, सर्वास्तिवादी के दो--मूलसर्वास्तिवादी और ताम्रशाटीय अवश्य विद्यमान हैं। पहले (जो) दार्ष्टान्तिक[1] (के नाम) से प्रसिद्ध था, (वह) ताम्रशाटीय से पृथक हुआ सौत्रान्तिक है, और इसकी गणना अष्टादश (निकायों) से पृथक् नहीं की जाती है। पहले, जब श्रावकों के ही शासन का विकास हो रहा था, (तब) उनके भिन्न-भिन्न सिद्धान्त अवश्य थे। महायान के विकास के बाद सभी महायानी (भिक्षु-) संघ उक्त निकायों के अन्तर्गत थे, परन्तु सिद्धान्त (अपना) महायान का ही मानते थे, इसलिये (वे) पूर्ववर्ती प्रत्येक सिद्धान्त से अछूत रहे। श्रावक तत्पश्चात् भी दीर्घकाल तक (अपने) सिद्धान्तों का कट्टरपन के साथ पालन करते रहे, लेकिन अन्ततोगत्वा (उनके) सिद्धान्तों का मिश्रण हो ही गया। महायान (हो या) हीनयान, जिस किसी के सिद्धान्त का पालन चाहे क्यों न करे, परन्तु विनयचर्या और (उसकी) प्रक्रिया के अमिश्रितरूप से विद्यमान होने के कारण चार निकायों का विभाजन भी विनयचर्या के भेद से हुआ समझना चाहिए। कहा गया है: "तीन मुद्राओं[2] से संयुक्त, शिक्षात्रयकी देशना करने वाले तथा आदि (में), मध्य (में) और अन्त में कल्याण करनेवाले (को) बुद्धवचन समझना चाहिए।" अतः, सब (=उपर्युक्त निकायों) के प्रति विशेषरूप से श्रद्धा रखनी चाहिए। चार निकायों के संबंध में संक्षिप्त निरूपण की ४२वीं कथा (समाप्त)।

(४३) मंत्रयान की उत्पत्ति का संक्षिप्त विवेचन।

यहां कुछ अन्य द्विविधा उन कतिपय लोगों में दिखाई पड़ती है, (जो अपने को) चतुर समझते हैं। (वे) विचारते हैं कि मंत्रयान की कोई पृथक् उत्पत्ति है या नहीं? साधारणतया सर्व सूत्रांत और तंत्रवर्ग की पृथक्-पृथक् कथावस्तुएं हैं, इसलिये मंत्र (-यान) का अभ्युदय सूत्र के उद्भव से भिन्न है, परन्तु यहां प्रत्येक का उल्लेख करना सम्भव नहीं है। अपवादस्वरूप सूत्र (और) तंत्र के देश, काल और शास्ता का भेद नहीं है। मनुष्य-लोक में, महायान सूत्रों के साथ प्रायः तंत्रों की भी उत्पत्ति हुई थी। अधिकतर अनुत्तर-योग-तंत्र तो सिद्धाचार्यों द्वारा क्रमशः लाये गये। उदाहरण के लिये, श्री सरह (७६९—८०९ ई०) के द्वारा बुद्धकपाल[3] लाया गया, लूइपा (७६९—८०९) द्वारा योगिनी संचर्या[4] आदि लायी गयी, कम्बल[5] और सरोरुहवज्र[6] द्वारा हेवज्र[7] लाया गया, कृष्णचारिन्[8]

१—द्पे-स्तोन-प=दार्ष्टान्तिक।

२—ग्स्युग-ग्र्ये-ग्सुम=तीन मुद्राएं। सर्वसंस्कृत अनित्य, सर्व साश्रव दुःखमय और सर्व धर्म (-पदार्थ) अनात्मा, ये तीन मुद्राएं हैं।

३—सङ्स-ग्र्यस-थोद-प=बुद्धकपाल। त० ५८।

४—र्नल-ह्ब्योर-म-कुन-स्प्योद=योगिनी संचर्या क० २।

५—ल-व-प=कम्बलपाद।

६—म्छो-स्क्येस्-र्दो-र्जे=सरोरुहवज्र।

७—द्ग्येस्-पहि्-र्दो-ज=हेवज्र। त० ८०।

८—नग-पो-स्प्योद-प=कृष्णचारिन्।

द्वारा सम्पुटतिलक[1] लाया गया, ललितवज्र द्वारा कृष्णयमारि[2] लाया गया, गम्भीरवज्र द्वारा वज्रामृत[4] लाया गया, कुक्कुरिपा (द) द्वारा महामाया लायी गयी और पिटोपा द्वारा कालचक्र लाया गया आदि आदि। पूर्ववर्ती कुछ (इतिहासकारों) ने मंत्र(-यान) की उत्पत्ति (का वर्णन) सहजसिद्धि की टीका में उपलब्ध होने का मिथ्यापूर्ण (उल्लेख) किया है। इस पर विद्वद्वर बु-स्तोन (१२६०—१३६४ ई०) ने सहजसिद्धि की टीका का विवरण किस स्थल पर है, इसका पूर्ण उद्धरण दे, युक्तिपूर्वक कहा है कि (यह टीका सामान्य गुह्यमंत्र की उत्पत्ति (की) नहीं है, बल्कि सहजसिद्धि का ही विवरण है। दुभाषिया ह्गोस्-कुमार श्री ने उसे देखते हुए भी पुरातन कथा को पुनर्जीवित कर सहजसिद्धि की कथा का खूब जिक्र किया। (उनका यह) कहना आख्यानाभिलाष मात्र है कि (सहजसिद्धि के वर्णन में)" उक्त कृपक पद्मवज्र[5] और महापद्मवज्र[6] एक ही है, अतः उसे सात सिद्धियों की उत्पत्ति आदि से मिलाने से मंत्र (-यान) की उत्पत्ति (का) आश्चर्यजनक (वर्णन मिलता) है।" सहजसिद्धि और सात सिद्धियों का भी तो अनुशीलन कुछ मंत्र साधक ही करते हैं, पर (यह) सर्वव्यापी नहीं है, इसलिये इसकी परम्परा का उल्लेख करने से सामान्य मंत्र (यान) की परम्परा का वर्णन नहीं होता। प्रायः भारतीय (और तिब्बती मंत्र साधकों द्वारा अनुशीलन किये जानेवाले भिन्न-भिन्न धर्म-परम्परा से भिन्न (यह) अवश्य एक विलक्षण सामान्य मंत्र (-यान) की उत्पत्ति हुई होगी! ऐसा (हमारा) उपहास है। इसके सहारे कपोल कल्पना को प्रमुखरूप देनेवाले कुछ (लोगों) ने भी तत्त्वसंग्रह और वज्रचूड़ा[7] में वर्णित क्रोधत्रैलोक्यविजय[8] निर्मित भाषा का गलत एवं अपूर्ण विवरण लिखकर (इसे) मंत्र (यान) का पहले-पहल प्रवर्तन बताया है। सहजसिद्धि की वृत्ति के आधार पर राजा शूरवज्र (को) आर्यदेव का गुरु माना जाना, कन्या सुखी ललिता (को) नाग योगिनी मानने से आर्य (गुह्य समाज) आदि की परम्परा माननेवाले और डाकिनी सुभगा या सुमती एक ही मानने के कारण चार वचनों के उपदेश की परम्परा वाले होने का उल्लेख करना आदि सर्वथा निरर्थक (को) प्रकाशित करते भी देखने को मिला है। श्री धान्यकटक में मंत्रयान के उपदेश दिये जाने के विषय में भी (जो तथ्य) विद्वानों में प्रचलित है, इसके विपरीत कुछ तिब्बतीय बुजुर्ग अपने पक्षपातपूर्ण भाव से कुछ खण्डितलेखों की सहायता से ही स्थान के नाम तक 'सद्धर्ममेघदुर्ग' होने का समर्थन करते हैं जो तिब्बतीयों का मनगढ़न्त और प्रमाणहीन है, (और ऐसा कहना) मूर्ख द्वारा मूर्ख-मण्डली को धोखा देना है। अतः (यह बात) बुद्धिमानों के लिये उल्लेखनीय भी नहीं है। पुनः सहजसिद्धिवृत्ति का जो आख्यान है वह उसी उपदेश (-सहजसिद्धि) की परम्परा है और वह उपदेश भी सभी तंत्रों का ही आशय है। यह आवश्यक नहीं कि सहज (सिद्धि के) उपदेश और उसके ग्रंथ होने से श्री उपदेश ? और उसका ग्रंथ ही हो। इसके अतिरिक्त

१—ख-स्व्योर-थिग-ले=सम्पुटतिलक।

२—ग्शिन-र्जे-ग्शेद-नग=कृष्णयमारि। त० ६७।

३—सब-पहि-र्दो-र्जे=गम्भीरवज्र।

४—र्दो-र्जे-ब्दुद-र्चि=वज्रामृत क० ३।

५—शिङ-प-पद्म-र्दो-र्जे=कृपक पद्मवज्र।

६—पद्मवज्र-छेन-पो=महापद्मवज्र।

७—र्दो-र्जे-र्चे-मो=वज्रचूढ़ा।

८—खो-वो-खमस्-ग्सुम-र्नम-र्ग्यल—क्रोध त्रैलोक्यविजय।

डोम्भिहेरुक द्वारा रचित सहजसिद्धि की गणना सात या आठ सिद्धियों में की जाती है, परन्तु श्री सहजसिद्धि की गणना उसमें नहीं होती। अतः, (ये ग्रंथ) भारत (और) तिब्बत की भिन्न-भिन्न परम्पराओं से प्रादुर्भूत हुए, इसलिये (इन्हें) खिचड़ी कर एक ही (ग्रंथ) मानना हास्यास्पद है। परन्तु मंत्रयान के बारे में (उसकी) धर्म-परम्परा और उसके प्रामाणिक आख्यानों में वर्णित अनेक कथाओं के संग्रह को मंत्र (यान) की उत्पत्ति समझनी चाहिए। इसका भी संक्षिप्त उल्लेख रत्नाकर-जोपम कथा में किया गया है, इसलिये वहीं देख लें। साधारणतया भारत में प्रादुर्भूत समग्र सिद्धों की कथा का उल्लेख करने में कौन समर्थ होता? कहा जाता है कि नागार्जुन के ही समय में, केवल तारा के मंत्र-तंत्र द्वारा लगभग ५,००० (लोगों को) सिद्धि मिली थी। दारिक और कालचारिन (कृष्ण-चारिन) के अनुचरों के वर्णन आदि का अनुमान लगाने से समझना चाहिए कि (उन दिनों) असंख्य (सिद्धों का आविर्भाव हुआ)। मंत्रयान के उत्पत्ति के संक्षिप्त विवेचन की ४३वी कथा (समाप्त)।

(४४) मूर्तिकारों का आविर्भाव।

पहले चमत्कारपूर्ण कार्यों से अन्वित मानवशिल्पकार आश्चर्यजनक शिल्पकारी का कार्य करते थे। विनय आगम आदि में स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि (बुद्ध) आदि के अंकित चित्र (को) सजीव (समझ कर लोग) भ्रम में पड़ जाते थे। शास्ता के निर्वाण के पश्चात् भी लगभग १०० वर्षों तक इसी कोटि के (शिल्पकार) अत्यधिक (संख्या में) थे। तदनन्तर, जब ऐसे (शिल्पकार) अधिक नहीं रहे, अनेक दिव्यशिल्पी मनुष्य के रूप में प्रादुर्भूत हुए, और (उन्होंने) महाबोधि[1], मंजुश्री दुन्दुभिस्वर[2] आदि मगध की आठ अनुपम मूर्तियों का निर्माण किया। राजा अशोक के समय आठ महातीर्थों के स्तूपों वज्रासन के भीतरी परिक्रमा (-पथ) आदि का यक्षशिल्पियों द्वारा निर्माण किया गया नागार्जुन के समय में नागशिल्पकारों द्वारा भी निर्माण कार्य सम्पन्न हुआ था। इस प्रकार देवताओं, नागों (और) यक्षों द्वारा निर्मित की गयी (मूर्त्तियां) अनेक वर्षों तक सचमुच भ्रम में डाल देने वाली (सजीव-सी) रहीं। अनन्तर, समय के प्रभाव से (ये मूर्त्ति आदि वैसी (ही अवस्था में) न रहने पर भी (उनकी) शिल्पकला की विशिष्टता (ऐसी ही) बनी रही) जैसे अन्य किसी (मानवीय शिल्पकार) के ज्ञान (की पहुच) से परे हो तत्पश्चात् भी चिरकाल तक विभिन्न प्रतिभाओं द्वारा निर्मित अनेक विभिन्न शिल्प-परम्पराएं प्रादुर्भूत हुईं, लेकिन एक ही (शिल्पकारी) का अनुसरण करने की परम्परा स्थापित नहीं की गई। अनन्तर, राजा बुद्धपक्ष के समय बिम्बसार नामक किसी शिल्पी ने अद्भुत उभरी नक्काशी और चित्रकारी कीं, जो पिछले देवता (आदि) द्वारा निर्मित (कला-कृतियों) के समान थीं। उसका अनुसरण करने वाले अपरिमेय (शिल्पी) प्रादुर्भूत हुए। यह शिल्पी मगध में पैदा हुआ था, इसलिये जिस किसी भी भाग में इसकी शैली (को) अपनाने वाला कोई शिल्पकार होता तो (उसे) मध्य (-देशीय) शिल्पी कहा जाता था। राजा शील के समय में मूर्तिकला (में) सुनिपुण श्रृंगधर हुआ, (जो) मरुदेश में पैदा हुआ था। उसने यक्ष कलाकारों की कोटि के चित्रकारी (और) उभरी नक्काशी की। उसकी प्रणाली अपनाने वाले को पश्चिमी पुरातन शैली कहा जाता था। राजा देवपाल (८१०—८५१ ई०)

१—ग्यङ-छुब-छेन-पो=महाबोधि।

२—हू जम-द्पल-ङ-स्ग्र=मंजुश्री दुन्दुभिस्वर।

और श्रीमद् धर्मपाल (७६९—८०९ ई०) के समय में, वारेन्द्र में धीमान् नामक एक सुदक्ष शिल्पी का प्रादुर्भाव हुआ। उसके पुत्र वित्पालो नामक हुआ। इन दोनों ने नाग शिल्पी के द्वारा निर्मित किये गये के समान ढालुआं, उत्कीर्ण, चित्रित इत्यादि विविध मूर्तियों का निर्माण किया। दोनों पिता-पुत्र की शिल्प-परम्परा भी भिन्न-भिन्न थी। बेटा भगल में रहता था, इसलिये उन दोनों का अनुसरण करने वालों द्वारा सांचे में ढलाई गई (मूर्तियों) को पूर्वी देवता कहा जाता था चाहे (इन शिल्पकारों का) निर्माण-स्थान (और) जन्मस्थान कहीं भी हो। बाप का चित्रकारी का अनुसरण करने वालों (द्वारा अंकित चित्रों) को पूर्वी चित्र और बेटे का अनुसरण (करनेवालों की चित्रकला) मुख्यतः मगध में विकसित होने के कारण (उसे) मध्य (देशीय) चित्रकला माना जाता था। नेपाल को प्राचीन शिल्प-परम्परा भी पश्चिमी पुरातन की भांति थी। बीच की अवधि को चित्रकला और कांस्य (मूर्त्तिया, जो) पूर्वी से अधिक समानता रखनेवाली हैं, नेपाल की अपनी प्रणाली जान पड़ती हैं। पश्चात् (कालीन शैली में कोई) निश्चयात्मकता नहीं जान पड़ती। काश्मीर में भी पहले मध्य (देशीय शैली) और पश्चिमी-पुरातन (शैली) का अनुसरण किया जाता था। पीछे किसी हसुराज नामक यक्ति ने चित्रकला (और) उत्किरण-कला की नवीन प्रणाली स्थापित की, (और इस) प्रणाली को आजकल कश्मीरी कहा जाता है। जहां बुद्धशासन का (विकास) हुआ, (वहां) प्रवीण मूर्तिकला का भी विकास हुआ। जहां म्लेच्छों द्वारा शासन किया गया था, (वहां) मूर्तिकला का लोप हो गया। जहां तीर्थिकों का बोलबाला था, (वहां) अनिपुण मूर्तिकारों का भी प्रचलन हुआ। अतः, उपर्युक्त (शिल्प-) परम्परा वर्तमान काल में अधिक नहीं है। पूर्व और दक्षिण-प्रदेश में आज भी मूर्तिकला का प्रचलन है। लगता है कि इस शिल्प-परम्परा का तिब्बत में पहले प्रवेश नहीं हुआ था। दक्षिण में जय[1], पराजय[2], और विजय[3]—(इन) तीन (शिल्पकारों) का अनुसरण करने वाले प्रचुर (संख्या में) हैं। मूर्तिकारों की उत्पत्ति की ४४वीं कथा (समाप्त)।

इतिहास का ज्ञान भली-भांति प्राप्त कर लेने से कुछ प्रसिद्ध तिब्बतीय विद्वानों द्वारा की गई भूलों का आमूल समाधान हो जाता है। (जैसे) शास्ता के सात उत्तराधिकारियों के निधन के तुरन्त बाद नागार्जुन प्रभृति का आविर्भाव होना, राजा अशोक के देहावसान के तुरत पश्चात् राजा चन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ होगा सोचना, सात चन्द्र और सात पाल—चौदह राजाओं की पीढ़ियों की स्वल्पावधि में सरह से अभयाकर तक के सभी आचार्यों का समाप्त होना और आचार्यों के पूर्वापर (काल क्रम) की अनिश्चितता का सन्देह मन में रखकर प्रत्येक (आचार्य द्वारा) अपने-अपने जीवन (का) दीर्घ कर अवधि को बहुत बढ़ा देना। यह कथा किस (इतिहास) के आधार पर लिखी गई है? यद्यपि तिब्बती में रचित बौद्धधर्म के इतिहास और कथानक की अनेक विविध (पुस्तकें) उपलब्ध हैं, तथापि (उनमें) क्रमबद्धता का अभाव है। (अतः), यहां उन कुछ विश्वसनीय (पुस्तकों) के सिवाय (अन्य पुस्तकों) का उल्लेख नहीं किया गया है। मगध के पण्डित क्षेमेन्द्र भद्र नामक द्वारा रचित राजा रामपाल (१०५७—११०२ ई०) तक के इतिहास देखने को मिले जिसमें २,००० श्लोक हैं। कुछ गुरुपण्डितों के (श्रीमुंह) से सुना। यहां इन्हीं के आधार

१—र्ग्यल-व=जय।
२—गृशन-लस्-र्ग्यल-व=पराजय।
३—र्नम-पर-र्ग्यल-व=विजय।

पर इन्द्रदत्त[1] नामक क्षत्रिय पण्डित द्वारा रचित बुद्धपुराण नामक (ग्रंथ, जिसमें) चार सेन राजाओं के समय तक की सम्पूर्ण कथाओं (को) १,२०० श्लोकों में लिखा गया है तथा ब्राह्मण पण्डित भटघटी[2] द्वारा रचित आचार्यों की वंशावली की कथा, (जिसका) ग्रंथ-परिमाण पूर्ववत् है, इन दोनों (ग्रंथों) से भी (हमने अपने ग्रंथ की) भली-भाति पूर्ति की है। अपने-अपने काल-निर्धारण के थोड़े से (अन्तर) को छोड़ प्रायः तीनों (ग्रंथ एक दूसरे से) सहमत हैं। उन (ग्रंथों) में भी मुख्यतः अपरान्तक में (बुद्ध) शासन के विकास के ही (वर्णन) उपलब्ध हैं। कश्मीर, उद्यान, तुखार, दक्षिण-प्रदेश, कोकि और प्रत्येक उप-द्वीप में (बौद्धधर्म की) क्या स्थिति रही, (इसका) विस्तृत विवरण देखने-सुनने में नहीं आया, इसलिये इनका उल्लेख नहीं किया जा सका। पीछे घटी हुई विविध कथाओं को पहले लिपिबद्ध नहीं किया गया था, परन्तु मौखिक परम्परा से (अनु-श्रुत) होने के कारण विश्वसनीय हैं। पुष्पावली (नामक) आख्यान से भी उद्धृत किया गया है।

इस प्रकार अद्भुत कथा (रूपी) मणि (को),
सुबोध-पद (रूपी) सूत में पिरोकर,
मेधावियों के कण्ठ (को) अलंकृत करने के लिये,
अनुकूल एवं सरल (रूपी) माला के रूप में प्रस्तुत है॥
जिन (—बुद्ध) के शासन में (अपना) कर्त्तव्य निभानेवाले,
सत्पुरुषों के प्रति अधिकाधिक श्रद्धा की वृद्धि होना,
और सिद्धांत भी प्रामाणिक हैं या नहीं (इसके)
भेद (को) समझना इस (ग्रंथ) का प्रयोजन है॥
सद्धर्म के प्रति भी श्रद्धा का विकास होना,
पण्डितों और सिद्धों (जो) शासन के संरक्षक हैं, उनकी,
सुचेष्टाओं (और) सत्कार्यों का,
ज्ञान प्राप्त करना भी इस (ग्रंथ) का प्रयोजन है॥
पंथों और व्यक्तियों में श्रद्धा रख,
उनके-उनके धर्मों में प्रविष्ट हो,
अन्ततः बुद्धत्व की प्राप्ति करना तो
(इस ग्रंथ का चरम) उद्देश्य है॥
इस कुशल (—पुण्य) के द्वारा सर्व सत्त्व,
इस सदाचार में प्रवृत्त हो,
अनुत्तर बुद्धत्व (का लाभ) कर,
सर्वगुणों से विभूषित हों॥

आर्यदेश में सद्धर्म का विकास कैसे हुआ, (इसका) प्रतिपादन करनेवाला सर्व-मनोरथाकर नामक यह (ग्रंथ), कुछ जिज्ञासुओं के प्रेरित करने पर और साथ ही (इससे) परोपकार भी होने (की सम्भावना) को देख, घुमक्कड़ तारानाथ ने, अपने ३४ वर्ष की अवस्था में, भूमि-पुरुष-वानर वुधवर्ष में, (१६०८ ई०) ब्रग-स्तोद्-छोस-क्यि-फो-ब्रङ में लिखा। (बुद्ध) शासन-रत्न का सर्वदिशाओं में विकास हो, और चिरकाल तक (इसकी) स्थिति रहे।

१—द्बङ-पोस्-ब्यिन=इन्द्रदत्त।
२—तिब्बती में भडाघडी है जो विकृत रूप मालूम होता है।

त्रि०स०मु० (शिक्षा) ११—मोनो—१,१००—२३-९-१९७१—हंसनाथ तिवारी

शब्द-सूची

अ

आ

इ

ई

उ

ऊ

ऋ

क्ष

घ

च

छ

ज

ज्ञ

ट

ड

त

ध

न

प

(फ)

ष

स

LIBRARY